



श प्रजापति की अनुकम्पा से आज हम ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य
द्वितीय खण्ड अपने उपनिषत् प्रेमियों के समस्त उपस्थित करने में समर्थ हो
सके हैं। प्रथम खण्ड में ३ मन्त्रों का भाष्य प्रकाशित हुआ है, एवं इस दूसरे
खण्ड में उपनिषत् के शेष १५ मन्त्रों का भाष्य सम्पन्न हुआ है। आरम्भ के तीन
मन्त्र पुरुषात्मा का निरूपण करते हैं, एवं आगे के १५ मन्त्र प्राकृतात्मा का
प्रतिपादन करते हैं। इस विषय विभाग को लक्ष्य में रखकर ही हमने तीन मन्त्रों को स्वतन्त्र
खण्ड में, एवं १५ मन्त्रों को स्वतन्त्र खण्ड में प्रकाशित करना आवश्यक समझा है। मन्त्र-
त्रयात्मक पुरुषात्माधिकरण भी ८५० पृष्ठों में, एवं पञ्चदशमन्त्रात्मक प्राकृतात्माधिकरण
भी ४५० पृष्ठों में ही सम्पन्न हुआ है। इस प्रकार संभूय यह ईशभाष्य १३०० पृष्ठों में
पूर्ण हुआ है। इन दोनों खण्डों के प्रकाशन का श्रेय “वर्म्बर्डवैदिकविज्ञानप्रकाशनफण्ड”
को ही है।

उक्त फण्ड में माननीय श्रीलेडीलक्ष्मीबाई महोदया, एवं माननीय राजासाहवश्रीमुकुन्द-
लालजी पिल्लै महोदय के स्तुत्य प्रयास से सन् ३८ में लगभग ५ सहस्र रु० एकत्रित हुए थे। उक्त
द्रव्य से बम्बई से प्रकाशन सम्बन्धी सामान (ट्रेडिल मशीनें-टाइप-कटर मशीन आदि) खरीदा

गया था। साथ ही मैं कमेटी से लिखितरूप में यह प्रतिज्ञा की गई थी कि “५ सहस्र रु० की लागत के हिन्दी-वैज्ञानिक ग्रन्थ स्थानीय श्रीबालचन्द्र ई० प्रेस से प्रकाशित कर दिये जायेंगे। तदनुसार एक वर्ष के भीतर भीतर हमने लगभग २॥ सहस्र के व्यय के दो खण्ड प्रकाशित कर दिए हैं। लिखित प्रतिज्ञानुसार व्यय के हिसाब के साथ प्रकाशित खण्डों की १०० प्रतिशत कमेटी की सेवा में भेज दी गई है। बाकी बचे हुए ऋण से भी हम शीघ्र ही मुक्त होने का प्रयास कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में कमेटी से, विशेषतः श्रीमतीलेडीनक्षत्रीबाई, एवं राजासाहब श्रीमुकुन्दनानजी से यह विनम्र निवेदन करना चाहते हैं कि कमेटी ने जो द्रव्य हमें प्रदान किया था उसका उपयोग पूर्वकथनानुसार प्रकाशन सम्बन्धी सामान में ही होगा है। ऐसी स्थिति में प्रकाशन जैसा परिकल्पित होना चाहिए था, नहीं होसका है। कमेटी द्वारा प्राप्त सामान से किस प्रकार नुक़ट-ग्रस्त बन कर हम दो खण्ड कमेटी के सामने रखने में समर्थ होसके हैं, इस का पूरा विवरण “हमारी यात्रा, और वैदिकसाहित्य” नाम के वक्तव्य से कमेटी को विदित होगा। इन सब मुक़टों के रहते हुए भी कमेटी को हम विश्वास दिलाने हैं कि अग्रिम वर्ष की समाप्ति तक जैसा भी बनेगा, हम शेष ऋण से मुक्त होने का प्रयास करेंगे। हमें आशा है--लेडी साहिबा, एवं राजासाहब हमारी विषम परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए भविष्य में भी हम साहित्य पर इसी प्रकार अनुग्रहदृष्टि बनाए रखेंगे।

इस के अनन्तर “उपनिषद् विज्ञानभाष्यभूमिका” का प्रथम खण्ड प्रकाशित होगा। यह भूमिका १०० पृष्ठों में सम्पन्न हुई है। इसी लिए उसे भी दो खण्डों में ही प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इस में निम्न लिखित विषयों का समावेश हुआ है—

१—प्रागम्भिक वक्तव्य—	—१००—	} भूमिकाप्रथमखण्ड
२—मङ्गलपाठग्रहस्थ—	—४०—	
३—उपनिषद् शब्द का अर्थ—	१००	
४—क्या उपनिषद् वेद है ?—	१२०	

(लगभग ४४०)

- (५)—१—उपनिषदों में क्या है ?
 (६)—२—उपनिषद् ज्ञान का अधिकारी कौन है ?
 (७)—३—उपनिषद् हमें क्या सिखाती है ?
 (८)—४—औपनिषद् ज्ञान के प्रवर्तक कौन थे ?
 (९)—५—ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् में परस्परमें क्या सम्बन्ध है ?
 (१०)—६—श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि ।

भूमिकादितीयखण्ड

(लगभग ५०० पृष्ठ)

प्रकाशित दोनों खण्डों के सम्बन्ध में हमें अपने प्रेमी पाठकों से यह निवेदन करते हुए लज्जा का अनुभव होता है कि प्रकाशन में अशुद्धियों को आवश्यकता से अधिक स्थान मिला है । कारण इसका यही है कि अध्ययन के कार्य में संलग्न रहने कारण हमें समय बहुत ही कम मिलता है । साथ ही में अर्थसम्बन्धिनी जटिल समस्या के कारण हम इस कार्य के लिए स्वतन्त्र व्यक्ति रखने में भी असमर्थ हैं । इन्हीं सारी परिस्थितियों को लक्ष्य में रखते हुए पाठक उक्त अपराध के लिए हमें क्षमा प्रदान करेंगे, यही निवेदन कर हम अपनी संक्षिप्त प्रस्तावना समाप्त करते हैं ।

प्रीयतामनेनात्मदेवतेति-शम्

फालगुनकृष्ण १३ शिवरात्रि:

विद्वद्भिर्विधेयः—

वि० सं० १९६०

मोतीलालशर्मा, भारद्वाजः

(ग्रन्थसमाप्ति)

जयपुर—राजधानी

॥ श्रीः ॥

ईशोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानमाध्य-द्वितीयखण्ड की विषयसूची

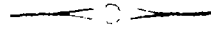


अथ

प्राकृतात्माधिकरण— अव्यक्तात्माधिकरणम्

१

(१ पृष्ठ से १५१ पृष्ठ पर्यन्त)



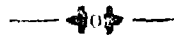
विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्रकृतिवैभव	*	६—अद्वैत की मीमांसा	३
२—अधिकरणस्वरूप	*	७—मजातीय-विजातीय-स्वगतभेद	"
३—अव्यक्तात्मस्वरूपनिदर्शन	*	८—कल्पित अद्वैतवाद	४
१—मूलमन्त्र	१	९—अनीश्वरवादप्रधान जगन्नि-	५
२—मन्त्र का अन्तरार्थ	२	ध्यान्वाद	
३—विश्व की द्विनियति	"	१०—विश्व का मूल	"
४—द्वन्द्वभाव की व्यापकता	"	११—सत्यमूलक विश्व की सत्यता	"
५—एकत्व-अनेकत्व	३	१२—अमृत मृत्युमय विश्व	६

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१३—नाम-रूप की सत्यता	६	१७—मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय	१०
१४—जगन्मिथ्यात्ववाद की अशास्त्रीयता	७	१८—मन्त्रसम्बन्धी सोपाधिकभाव	"
१५—जगत् की सत्यता के समर्थक	८	१९—आहिनि एवं आधान सम्बन्ध	"
श्रौतप्रमाण		२०—मन्त्रोक्त यज्ञक्रम	११
१६—आत्मा के स्वरूपधर्म	१०	२१—विद्याकर्ममय अव्यय	"

इति-विषयोपक्रमः

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-त्रयीवेदनिरुक्तिः

(१२ पृष्ठ से ३० पर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—ज्ञानसाधक वेद	१२	१०—क्रिया का स्वरूप	१३
२—ब्रह्मा से सर्वप्रथम वेद का प्रादुर्भाव	"	११—कम्पन एवं गति का तात्पर्य (हल-चल)	"
३—वेद के चार विभाग	"	१२—अग्निपिण्डात्मक शरीर	१४
४—अग्निवेद, सोमवेद	"	१३—प्राणाग्नि का विखसन	"
५—अग्नित्व का अग्नित्व	"	१४—कर्माध्यक्ष अग्नि	"
६—दाहक-दाहभाव	"	१५—प्राण-भूत भेद से अग्नि के दो विवर्त	"
७—तेज-स्नेहभाव	१३	१६—विशकलनधर्मी अग्नि	१५
८—अग्निमयी मूर्ति	"	१७—मेकोचधर्मी सोम	"
९—कर्मपुद्गल	"	१८—रयि-प्राण	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१६—अग्नीषोमाम्बकं जगत्	१५	४२—प्राजापत्यवेद	२३
२०—सत्याग्नि, देवाग्नि, भूताग्नि	"	४३—वेद से आप्ति	२४
२१—अग्नित्रयी (त्रयीवेद)	"	४४—वेदि, वेद, यज्ञ, प्रजापति	"
२२—सोमवेद (अथर्ववेद)	"	४५—पुष्करपण	"
२३—सायतन-निरायतन सोम	१६	४६—पुर की उत्पत्ति	२५
२४—आन्मवेदोपक्रम	"	४७—चतुर्मुखब्रह्मा	"
२५—उक्थ-ब्रह्म-साम	"	४८—क्षीरसमुद्र	"
२६—आन्मवेद में त्रयीवेद	१७	४९—मरुत्सतीवाक्	"
२७—प्रतिष्ठावेदोपक्रम	"	५०—नारदऋषि	"
२८—प्रतिष्ठात्रयी	"	५१—सरस्वान् समुद्र	"
२९—धृतिस्वरूपनिर्बचन	"	५२—प्राकृतिक अग्न्याधान	२६
३०—असतोद्युति	१८	५३— " अग्निहोत्र	"
३१—सतोद्युति	"	५४— " दर्शपूर्णमास	"
३२—प्रतिष्ठावेद में त्रयीवेद	१९	५५— " चातुर्मास्य	"
३३—ज्योतिर्वेदोपक्रम	"	५६— " पशुबन्ध	"
३४—एकज्योति	"	५७— " ज्योतिष्टोम	"
३५—मलज्योति	२०	५८— " अग्निचयन	"
३६—सत्यज्योति	"	५९—कृष्णाजिन	"
३७—ज्योति, चेतना, आनन्द	२१	६०—आतानयज्ञ	२७
३८—सच्चिदानन्दधन वेद	"	६१—महापृथिवी	"
३९—अग्निवेदविवर्त	२२	६२—प्रजापति के शमश्रु	"
४०—अनन्तवेद	२३	६३—नियति वेद	२८
४१—त्रयीगर्भित भूतप्रपञ्च	"	६४—मूर्तिभवन	२९

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
६५—गतिभाव	२६	६७—वेदतालिका	३०
६६—तेजोभाव	"		

त्रयीवेदनिरुक्ति--मपास

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-अथर्ववेदनिरुक्तिः

(३१ पृष्ठ से ४६ पर्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—समन्वयमूलासृष्टि	३१	१४—मत्स्याग्नि	३६
२—प्राणाग्निहोम	"	१५—यज्ञाग्नि	"
३—अभिन्नसत्ता	"	१६—ब्रह्माग्नि (प्राणाग्नि)	"
४—दाम्पत्यभाव	"	१७—देवाग्नि (वागाग्नि)	"
५—एकाकी न गमते	३२	१८—भूताग्नि (अन्नादाग्नि)	"
६—विगर्हानिरुक्ति	"	१९—वयवानराग्नि (तलाग्नि)	"
७—चालुपुरुष	"	२०—विध्वंस—प्रतिष्ठा	३७
८—वृन्दितवस्तु	३३	२१—रूप—विक्राम	"
९—नपुंसक ऋकमाम	३४	२२—पाक—विलयन	"
१०—अवुत्पत्ति	"	२३—अग्निप्रजापति	३८
११—वेद से यज्ञवितान	३५	२४—अभ्योत्पत्ति	३९
१२—मिश्राग्निपूज	"	२५—मरीची की उत्पत्ति	"
१३—वैध्वग्नाग्नि	"	२६—मर की उत्पत्ति	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२७--श्रद्धा की उत्पत्ति	३६	४२--ब्रह्माण्ड का उदय	४३
२८--परिश्रमजन्य अश्रु	"	४३--धारावत् की उत्पत्ति	"
२९--ललाट से स्वेदोत्पत्ति	"	४४--जायावत् की उत्पत्ति	४४
३०--प्रेम के अश्रु	४०	४५--प्राणी के चार जन्म	"
३१--शोक के अश्रु	"	४६--आग्निक्ल की उत्पत्ति	४५
३२--प्रेमविवर्त	४१	४७--कमल-निरुक्ति	"
३३--वासन्त्यभाव	"	४८--अलभाव	"
३४--श्रद्धाभाव	"	४९--जीवनवलोत्पत्ति	४६
३५--स्नेहभाव	"	५०--जीवनशक्ति	"
३६--कामभाव	४२	५१--ऋतवत् की उत्पत्ति	४७
३७--रतिभाव	"	५२--अपूतत्व की व्यापकता	"
३८--बन्धन-मुक्तिरहस्य	"	५३--सुवेद का प्रादुर्भाव	४८
३९--महामाया	"	५४--स्वेदवेद	"
४०--अनतिप्रश्न	४३	५५--ब्रह्म-सुब्रह्म	"
४१--ईश्वरेच्छा	"	५६--गोपयश्रुति	४९

अथर्ववेदनिरुक्ति-समाप्त

मन्त्रार्थप्रकरण

(५० पृष्ठ से ११५ पर्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१--सृष्टि के अनुबन्ध	५०	३--क्षार और मधुररस	५०
२--भृगुतत्त्व	"	४--भर्जनशीलतत्त्व	५१

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५—रेत का भृगुभाव	५१	२८—‘अथ-अर्वाक्’ अथवा	५७
६—वरुणपुत्र-भृगु	"	२९—सर्वप्रथमज वेद	"
७—दीपशिखा-अंगिरा	"	३०—गायत्रीमात्रिक वेद	"
८—दीपप्रभा-भृगु	"	३१—पौरुषेय वेद	"
९—भृद्गु	५२	३२—अस्त्वण्ड	५८
१०—प्राणवायु	"	३३—पोषण्ड	"
११—पवमान वायु	"	३४—यशोऽण्ड	"
१२—मातरिश्वा वायु	"	३५—रेतोऽण्ड	"
१३—सविता वायु	"	३६—व्योम	"
१४—दिग्भेद से वायुविभाग	५३	३७—समुद्र	"
१५—वातवायु	"	३८—ब्रह्माण्ड	"
१६—पवमान, पावक, शुचि	"	३९—मृत्युनाशयण	"
१७—अथर्वाप्राणरहस्य	५४	४०—मत्स्यावनार	"
१८—अथर्वामृत	"	४१—ब्रह्म, वेद, त्रयी, अग्नि	५९
१९—कृत्याप्रयोग	"	४२—सुब्रह्म, सुवेद, अथर्व, सोम	"
२०—आशौच का सक्रमण	५५	४३—विद्या, स्थिति, आकाश, वाक, वृद्धि	"
२१—अथर्वहोम	"	४४—कर्म, गति, वायु, प्राण, यत्	"
२२—सुब्रह्म अथर्वा	"	४५—अमृत-मर्त्याकाश	६१
२३—ब्रह्मा का ज्येष्ठपुत्र अथर्वा	"	४६—अमृत-मर्त्यवायु	"
२४—मधुरपानी	५६	४७—इय देवता	"
२५—क्षारपानी	"	४८—इदं भूतम्	"
२६—रोदसीत्रलोक्य	"	४९—पुरुष एवेदं सर्वम्	"
२७—लोकप्रवर्तक अथर्वा	५७	५०—मूत्रवायु	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५१—व्याख्याताओं का मातरिश्वा	६१	७५—भूपृष्ठ-अव्यय	६५
५२—पारमेष्ठ्य मनोना	"	७६—सूत्र-सूत्रवायु	"
५३—पटुब्रह्म	६२	७७—चक्र-यजुर्वेद	"
५४—इन्द्रपत्नी	"	७८—मिट्टी-क्षरभाग	"
५५—वाङ्मयभूत	"	७९—दण्ड-ध्रुवनियति	"
५६—वेदवाक्	"	८०—पानी-आगोमयब्रह्म	"
५७—आकाशात्मिका वाक्	"	८१—कीलक-विश्वनाभि	"
५८—पार्श्वकौशिक विवर्त	६३	८२—घटात्मक-ब्रह्माण्ड	६६
५९—आत्मन्वी प्रजापति	"	८३—उत्थारूप-ब्रह्माण्ड	"
६०—अनेजदेजत्	"	८४—भूलोक-बुध्न	"
६१—अवयवगति	"	८५—गुवलोक-उदर	"
६२—अवयवीगति	"	८६—स्वलोक-मुख	"
६३—उभयगति	"	८७—घटनिर्माता, विश्वनिर्माता में स्पर्द्धा	"
६४—गतिस्थिति का दिग्दर्शन	६४	८८—अनेजदेजत् का एकत्रसमन्वय	"
६५—कुम्भकार प्रजापति	"	८९—गतिस्थिति का समन्वय	६७
६६—प्रजापति का धरातल	"	९०—मनसो जवीयः	६८
६७—घट का निमित्त कारण	"	९१—देवसृष्टि	६९
६८— " उपादानकारण	६५	९२—इन्द्रियदेवता	"
६९— " सहकारीकारण	"	९३—पूर्वमर्पत्	"
७०—बौद्धघट	"	९४—देवताओं का पराभव	"
७१—घटध्वंस	"	९५—महतोभूत मायी महेश्वर	७०
७२—घटोत्पत्ति	"	९६—मन्त्र के तीन पाद	७१
७३—पिठरपाक	"	९७—मन्त्र का चौथा चरण	"
७४—कुम्भकार-अक्षर	"		

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
६८—रेत तत्त्व	७१	१२१—वराहलीला	७६
६९—योनितत्त्व	७२	१२२—पवन और शूकर	"
१००—रेतोवातत्त्व	"	१२३—अन्यज और शूकर पशु	"
१०१—सृष्टिप्रवर्त्तक शिववायु	"	१२४—मलविशोधक अन्यज	"
१०२—सृष्टिनिवर्त्तक यमवायु	"	१२५—मलविशोधक शूकरपशु	"
१०३—पिण्डनिर्माता मातरिश्वा	"	१२६—सब स्त्रिण पुरुष हैं	७७
१०४—पिण्डशब्द की व्याप्ति	"	१२७—मन्त्रप्रमाण	"
१०५—पृथिवी—दुलोक	"	१२८—श्रीसायणाभिमत अर्थ	"
१०६—मानरिश्वा का कर्म	७३	१२९—सब पुरुष स्त्रिण हैं	"
१०७—अपाशर	"	१३०—सायणभाष्य और कर्मकाण्ड	"
१०८—मानरिश्वा और वराह	"	१३१—सायणभाष्य में विज्ञानदृष्टिका अभाव	"
१०९—ज्ञानज्योति	"	१३२—अक्षशब्द का निर्वचन	"
११०—स्वज्योति	"	१३३—ऋह् पन्त्रमम्बन्धिनी आत्मविष-	
१११—परज्योति	"	यिगी भावना का उपाक्रम	७८
११२—रूपज्योति	७४	१३४—स्वायम्भुव ब्रह्मात्मा	"
११३—आदिवराह	"	१३५—मौर देवात्मा	"
११४—यज्ञवराह	"	१३६—पार्थिव भूतात्मा	७९
११५—श्वेतवराह	"	१३७—उपनिषदों का आत्मा	"
११६—ब्रह्मवराह	"	१३८—त्रयीवेद का आत्मा	"
११७—एमुपवराह	"	१३९—आगम शास्त्र का आत्मा	"
११८—शूकरपशु	७५	१४०—केनोपनिषत् की सम्मति	"
११९—वाराही उपानत्	"	१४१—ज्ञान काम—कर्मात्मा	"
१२०—सोममूर्तिशूकर	७६	१४२—आत्मविकास का दिग्दर्शन	८०

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१४३-आत्मविवर्त्तपरिलेख	८१	१६६-क्षरोपासना	६०
१४४-त्रिपात् पुरुष की विभूति	८२	१६७-काण्डत्रयी	६१
१४५ आत्मविवर्त्तों की व्याप्ति	८३	१६८-उपनिषत्काल की उपासना	"
१४६-त्रिपात् अक्षरपुरुष	८४	१६९-उपासना का अर्थ	"
१४७-त्रिपात् क्षरपुरुष	"	१७०-उपासना का अर्थ	"
१४८-एक ही आत्मा के तीन विवर्त्त	८५	१७१-मूर्त-मूर्तिब्रह्म	"
१४९-चेतनमृष्टि	८६	१७२-अक्षी की उपासना	"
१५०-अर्द्धचेतनमृष्टि	"	१७३-अक्ष की उपासना	"
१५१-अचेतनमृष्टि	"	१७४-उपासना का प्रथमस्तम्भ	६२
१५२-ब्रह्मात्ममृष्टि	८७	१७५-उपासना का द्वितीयस्तम्भ	"
१५३-दैवात्ममृष्टि	"	१७६-पीतल-वट-तुलसी आदि की उपासना	"
१५४-भूतात्ममृष्टि	"	१७७-नगवत्प्रतिमाओं की उपासना	"
१५५-प्रथमाधिकारी	८८	१७८-शालग्राम की उपासना	"
१५६-मध्यमाधिकारी	"	१७९-त्रिमूर्ति शालग्राम	"
१५७-उत्तमाधिकारी	"	१८०-उदासीनभाव	"
१५८-सर्वभूतान्तरात्मोपासना	"	१८१-प्रकृतिभाव	"
१५९-हिरण्यगर्भोपासना	"	१८२-विकृतिभाव	"
१६०-अश्वतोषोपासना	"	१८३-स्त्रीरूप ब्रह्मात्मा	६३
१६१-श्रेङ्गारोपासना	८९	१८४-क्षेत्र में वीर्याहुति	६४
१६२-उद्गीषोपासना	"	१८५-विश्वयोनि	"
१६३-प्रणवोपासना	"	१८६-विज्ञानवेत्ता कवि	"
१६४-अव्ययोपासना	९०	१८७-वृद्धशब्द की व्याख्या	६५
१६५-अक्षरोपासना	"	१८८-वैदिक आख्यान	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१८६-पितृपितामह	६६	२११-संकोच-विक्रम	१००
१८७-रश्मिनिषयिणीभावना		२१२-निःसीमभाव शत्रुता का प्रवर्तक	"
का उपक्रम	"	२१३-एति-प्रेति	"
१८९-आत्मा-प्राण-पशु	"	२१४-समिद्धाग्नि	"
१८२-परोरजाप्राण	६७	२१५-सामिधेनी	"
१८३-आग्नेय-सौम्यप्राण	"	२१६-भृगुत्रयी	१०१
१८४-स्थूलभूत	"	२१७-अग्निगत्रयी	"
१८५-पुरुषप्रजापति	"	२१८-स्त्री का पुरुषत्व	१०२
१८६-कविभृगु	"	२१९-पुरुष का रक्षात्व	"
१८७-विराट् पुरुष	"	२२०-स्त्रीकामुक पुरुष	"
१८८-रश्मिभाव	"	२२१-पुरुषकामुका स्त्री	"
१८९-स्त्रीरूप रश्मि	६८	२२२-मन्त्रमण्ड	"
२००-शुक्रविषयिणीभावना		२२३-मकराक्षि और मण्ड	"
का उपक्रम	"	२२४-मकरध्वज (काम)	"
२०१-अचेतन अग्नि	"	२२५-पुरुष की प्रजननशक्ति	"
२०२-अचेतन सोम	"	२२६-शुक्रत्व	१०३
२०३-याज्ञिकीमृष्टि	"	२२७-मीनराशि और शुक्र	"
२०४-मैथुनीमृष्टि	"	२२८-मीनध्वज [काम]	"
२०५-पुरुष-स्त्री	"	२२९-शक्तित्व	"
२०६-शरीरचतुर्भेद	"	२३०-शिवत्व	"
२०७-कर्कश शरीर	६९	२३१-शिवशक्ति का समन्वय	"
२०८-कोमल शरीर	"	२३२-शान्त और अन्तःपृष्ठ	"
२०९-सौम्य शुक्र	"	२३३-प्रोक्त और अन्तःपृष्ठ	"
२१०-आग्नेय शक्ति	"	२३४-प्रकृति का वैषम्य	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२३५—अग्निप्रधान पुरुषशरीर	१०४	२४६—पितृष्पितामह	१०७
२३६—सोमप्रधान पुरुषात्मा	"	२५०—ऋद्धमन्त्रार्थोपसंहार	"
२३७—सोमप्रधान स्त्रीशरीर	"	२५१—एवयामरुत्	"
२३८—अग्निप्रधान स्त्री का आत्मा	"	२५२—योनि में शुक्राहुति	"
२३९—स्त्री का सौम्य भूरा	"	२५३—रेतोवा मातरिरवा	१०६
२४०—पुरुष का आग्नेय भूरा	"	२५४—वायुवाहिनीनाडिपे	"
२४१—पुश्रूरा—स्त्रीभूरा	"	२५५—प्रजोत्पत्तिक्रम	"
२४२—त्रिमत्य देवता	१०५	२५६—अग्निदेवतमंस्था	"
२४३—प्रजननकर्म का त्रिविभाव	"	२५७—मन्त्रार्थसङ्गति का उपक्रम	"
२४४—प्रथमाक्रमण	"	२५८—दशिनी विगाट्	"
२४५—द्वितीयाक्रमण	"	२५९—मन्त्रार्थक्रम	११२
२४६—ऋद्धमन्त्रसंगति	१०६	२६०—पुण्डरी स्त्रयम्भू	
२४७—कविपुत्र का रहस्यार्थ	१०७	२६१—अनेजदेजत् प्राकृतात्मा	"
२४८—जायाभाग	"	२६२—शान्तात्मा	"

मन्त्रार्थप्रकरण—समाप्त ।

अव्यक्तात्माधिकरण में ब्रह्म—कर्मसंबन्धाधिकरण

(११७ पृष्ठ से १५१ पर्यन्त)

१—सम्बन्धप्रतिपादकमन्त्रपरिलेख	११७	४—ब्रह्म-कर्ममय अव्यय	११६
२—सम्बन्धनिरुक्ति का उपक्रम	११६	५—विश्वात्मा- ब्रह्म	"
३—प्रकृति के द्वारा विश्वनिर्माण	"	६—विश्व-कर्म	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
७—ब्रह्म-शुक्र-विरव	११६	२६—प्रारब्धसम्बन्ध	१२८
८—अमृत-ब्रह्म-शुक्र-विरव	"	३०—औद्भाविकसम्बन्ध	१२६
९—ईश के प्रतिपाद्य विषय	"	३१—सांतानिकसम्बन्ध	"
१०—अव्यक्तनिरूपकमन्त्र	"	३२—विवर्तिसम्बन्ध	"
११—विकृतितत्त्वनिरूपकमन्त्र	१२०	३३—वैकल्पिकसम्बन्ध	१३०
१२—वैकारिकतत्त्वनिरूपकमन्त्रभाग	"	३४—ऐच्छिकसम्बन्ध	"
१३—कारणताचतुष्टयी	"	३५—श्रीपदादिकसम्बन्ध	"
१४—चतुष्पात आत्मा	१२१	३६—परिणामी सम्बन्ध	"
१५—चतुष्पात ब्रह्म	"	३७—रसानुवृत्तिकसम्बन्ध	"
१६—अष्टाक्षरा गायत्री	"	३८—सांयोनिकसम्बन्ध	"
१७—गायत्रब्रह्म की व्यापकता	"	३९—श्रीपदानिकसम्बन्ध	१३१
१८—गायत्रब्रह्मपरिलेख	१२२	४०—साक्रामिकसम्बन्ध	"
१९—प्रकृतिपुरुषनिरूपणालिका	"	४१—आकामिकसञ्चारीसम्बन्ध	"
इशोपनिषत्	"	४२—प्रभवात्मन्यत्व-प्रभवविल-	
२०—अधिकरणद्वयी	"	यनात्वाविलयनत्व-प्रभवपृथक्-	
२१—मन्त्रों का विषयानुसार विभाग	"	चरत्वसम्बन्ध (१)	१३७
प्रदर्शन	१२३	४३—प्रभवात्मन्यत्व-प्रभवविलयनत्व	
२२—विषयपरिलेख	"	प्रभवपृथक्चरत्व सम्बन्ध (२)	"
२३—सम्बन्ध जिज्ञासा	१२६	४४—प्रभवात्मन्यत्वालम्बनत्व	
२४—दार्शनिक पट्विकला सम्बन्ध	"	प्रभवविलयनत्व, प्रभवपृथक्-	
२५—हेतुसम्बन्ध	१२७	चरत्वसम्बन्ध (३)	"
२६—नैमित्तिकसम्बन्ध	"	४५—प्रभवानालम्बनत्व-प्रभवविलयनत्व-	
२७—प्राकृतिकसम्बन्ध	"	प्रभवपृथक्चरत्वसम्बन्ध (४)	"
२८—योनिसम्बन्ध	१२८		

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४६—प्रभवात्मनत्व-प्रभवविलयनत्व-		६५—"तदेजति०" मन्त्र का अर्थ १३७	
प्रभापृथक्चरत्वसम्बन्ध (५) १३३		६६—कृतात्मा मनुष्य	"
४७—प्रभवात्मनत्वानात्मनत्व-	"	६७—अकृतात्मा मनुष्य	"
प्रभवविलयनत्वविलयनत्व-प्रभव-		६८—सत्त्व का तारतम्य	"
पृथक्चरत्वापृथक्चरत्वसम्बन्ध (६) "		६९—विषयानुगताबुद्धि	"
४८—सम्बन्ध में संशय १३४		७०—अयुक्त मनुष्य १६८	
४९—स्वरूपसम्बन्ध (४) "		७१—सर्वज्ञानविमूढमनुष्य	"
५०—पर्याप्तवृत्तिवसम्बन्ध (४) "		७२—सम्बन्धभेददृष्टि	"
५१—अत्रामक्तिवृत्तिवसम्बन्ध (५) "		७३—निष्ठ द्वयी १३९	
५२—अभिन्नसत्ताकार्यकारणभाव-	"	७४—भेदवाद का निराकरण	"
५३—(१) कार्य कारण में है १३५		७५—विधेयआत्मा १४०	
५४—(२) कारण कार्य में है "		७६—मार्षादिकजीव	"
५५—(३) कार्य-कारण भिन्न हैं "		७७—प्रावाहिकजीव	"
५६—(४) कारण ही कार्य है "		७८—पुष्टजीव	"
५७—(५) कार्य कारण से अभिन्न है,		७९—पुष्टिमार्ग	"
किन्तु कारण कार्य से भिन्न है "		८०—युक्तयोगी १४१	
५८—(६) कारण में कार्य अध्यस्त है "		८१—युञ्जानयोगी	"
५९—ब्रह्म कर्म में प्रतिष्ठित है (१) १३६		८२—यथाजातमनुष्य	"
६०—कर्म ब्रह्म में प्रतिष्ठित है (२) "		८३—ब्रह्म-कर्ममयी उपासना	"
६१—ब्रह्म कर्म परस्पर भिन्न हैं (३) "		८४—सर्वत्र आत्मभावना	"
६२—ब्रह्म ही कर्म है (४) "		८५—कुम्भकार का चक्र	"
६३—ब्रह्म कर्म से भिन्न है, किन्तु		८६—मन्त्रार्थसङ्गति १४२	
कर्म ब्रह्म से अभिन्न है (५) "		८७—अनिर्वचनीयसम्बन्ध १४३	
६४—ब्रह्म में कर्म भास रहा है (६) "		८८—अतप्रोतभावसम्बन्ध	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४१—श्रुतिसम्बन्ध	१०२	६५—सर्वाहुति	१७७
४२—परमप्रजापति	१७३	६६—भाप की आहुति	"
४३—प्रतिमाप्रजापति	"	६७—मातरिश्वा जुहोति	१७८
४४—आम्भृणीवाक्	"	६८—मातरिश्वा दधाति	"
४५—जगतःपितरौ	१७४	६९—स पर्यगान्	"
४६—अन्न अन्नादसम्बन्ध	"	७०—पर्याय सम्बन्ध	"
४७—समुदायसम्बन्ध	"	७१—पर्याय की अवेज्ञानिकता	"
४८—अवयवसम्बन्ध	"	७२—संस्कृतसाहित्य पर कलक	"
४९—स्त्रीपुरुषसम्बन्ध	१७५	७३—शास्त्रों की निर्यातायता	"
५०—महाविस्फोटन	"	७४—एकदश की समानता	"
५१—समन्वयसम्बन्ध	"	७५—शुक-वीर्य-रेत का पार्थक्य	१७९
५२—उदरमुक्तिसम्बन्ध	"	७६—बल का वैज्ञानिकस्वरूप	"
५३—अग्नि-अग्नि का सम्बन्ध	"	७७—वीर्यका "	"
५४—पानी-पानी का सम्बन्ध	"	७८—पराक्रम का "	"
५५—अग्नि-पानी का सम्बन्ध	"	७९—ब्रह्मवीर्य	"
५६—पुष्टिकरसम्बन्ध	१७६	८०—क्षत्रवीर्य	"
५७—निरयंकसम्बन्ध	"	८१—विद्ववीर्य	"
५८—वि. फोटकसम्बन्ध	"	८२—वर्ण-अवरवर्ण	"
५९—सृष्टि-रसम्बन्ध	"	८३—देवभाग	१८०
६०—रयि-प्राणसम्बन्ध	"	८४—मलभाग	"
६१—परोक्षप्रियदेवता	"	८५—दैवीसम्पत्	"
६२—ईश्वर की व्याप्ति	१७७	८६—आसुरीसम्पत्	"
६३—व्यापक ब्रह्म	"	८७—ब्रह्मचर्यनिरुक्ति	"
६४—रेत की व्याप्ति	"	८८—शुक का अर्थ	१८१

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
८६—रेत का अर्थ	१८१	११३—बीजावस्थापन शुक्र	१८४
९०—वीर्यरक्षा	"	११४—विरोधपरिहार	"
९१—उपादानद्रव्यत्व	"	११५—सब कुछ वही है	१८५
९२—आग्नेयरेत-शुक्र	"	११६—सब कुछ उसी में है	"
९३—सौम्यरेत-रेत	"	११७—अश्वत्थ का विकास	"
९४—घनरेत	१८२	११८—ब्रह्माश्वत्थ	१८६
९५—तरलरेत	"	११९—कर्माश्वत्थ	"
९६—चित्प्राण	"	१२०—मायामेतां तरन्ति	"
९७—भ्रूण	"	१२१—शुक्रातिवर्धन	"
९८—प्रजननकर्मके अवरोधक दोष	"	१२२—'तत्'-विज्ञान	"
९९—पितृदोषनिवर्त्तकश्चाद्वकर्म	"	१२३—कर्म में प्रवृत्ति	१८७
१००—सारवेदन	"	१२४—क्षरात्मिका अविद्या	"
१०१—प्रवादितरेत	"	१२५—अक्षरात्मिका विद्या	"
१०२—शुक् ओर शुक्र	"	१२६—प्रस्थिवन्धन सम्बन्ध	"
१०३—शुक्रमह	१८३	१२७—विश्वदुर्ग	"
१०४—अत्ताशुक्र	"	१२८—दुर्ग की ईंटें	"
१०५—अन्न रेत	"	१२९—आत्मन्वी ईडवर	१८८
१०६—शुक्र-रेत के पञ्चविकल्प	"	१३०—शिपिविष्ट प्रजापति	"
१०७—आत्मयोनि	१८४	१३१—तीन ज्योतिर्ग	"
१०८—प्रकृतियोनि	"	१३२—चित्यब्रह्म	"
१०९—विकृतियोनि	"	१३३—चितेनिधेयब्रह्म	"
११०—सर्वम्	"	१३४—बीजचिति	"
१११—सृष्टिमूल	"	१३५—देवचिति	"
११२—सृष्टिबीज	"	१३६—भूतचिति	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
११७-ज्योतिषां ज्योतिः	१८८	१६१-५-प्राणमात्रा	१२१
११८-आत्मा-शरीर	"	१६२-५-प्रज्ञामात्रा	"
११९-आत्मग्राम	१८९	१६३-सप्तदशराशि	"
१४०-देवग्राम	"	१६४-साहस्री	१२२
१४१-भूतग्राम	"	१६५-बीज-कारण-आरम्भक	"
१४२-ग्राम-पुर	"	१६६-निवृत्ति विराट्	"
१४३-आत्मपरिग्रह	"	१६७-त्रिकल आत्मा	"
१४४-कूट	"	१६८-त्रिकलपद	"
१४५-पुद्गल	"	१६९-त्रिकलपुनःपद	"
१४६-स्तुत	"	१७०-नवकल प्रजापति	"
१४७-राशि	"	१७१-न्यूनविराट्प्रजापति	"
१४८-अरण्य-ग्राम का रहस्यार्थ	"	१७२-अकृतभाव	१२४
१४९-आरस्यपशु	"	१७३-कृतभाव	"
१५०-आस्यपशु	"	१७४-नास्त्यकृतःकृतेन	"
१५१-आध्यात्मिकसंघ (ग्राम)	१९०	१७५-काम-कर्म-शुक्त	"
१५२-आविर्देविकसंघ (पुर)	"	१७६-भावना-वासनासंस्कार	१२५
१५३-काय निकाय	"	१७७-आधिकारिकजीव	"
१५४-निकायचन्द्र	"	१७८-यथाजातजीव	"
१५५-पञ्चात्मकस्थूलशरीर	"	१७९-प्रक्रमकर्म	"
१५६-नामरूपविभाजक आकाश	"	१८०-अभिक्रमकर्म	"
१५७-इन्द्रियवर्ग	१२१	१८१-कर्मव्यूह	"
१५८-विद्या-प्रज्ञा-कर्म	"	१८२-पुरुषार्थकर्म	"
१५९-पूर्वप्रज्ञा	"	१८३-क्रान्तिव्यकर्म	"
१६०-५-भूतमात्रा	"	१८४-मत्ताश्चर्यिकजीव	१२६

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१८५-नियतकर्माश्रयिकजीव	१८६	२०६-आपोमय महान्	२००
१८६-नित्यजीव	"	२१०-महद्ब्रह्म	"
१८७-सामयिकजीव	"	२११-पञ्चपर्वविश्व	२०१
१८८-आत्माभिमानदेवता	"	२१२-अमृतविभाग	"
१८९-प्रकृतिका लोभ	"	२१३-मर्त्यविभाग	"
१९०-अवतार की आवश्यकता	"	२१४-बहुवृक्षैकमन्त्ररम्	२०२
१९१-अनासक्तयोगीश्वर	१९७	२१५-प्रजापतिः	"
१९२-त्रिकलावाक्	"	२१६-यजुर्वेद	२०३
१९३-अविद्यामयशुक्र	"	२१७-काम-कर्म-शुक्रः	"
१९४-कामनाओंकासमुद्र	१९८	२१८-शुक्र की चतुर्धा व्याप्ति	"
१९५-प्राजापत्यवल्गु	"	२१९-विश्वशुक्र	"
१९६-सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म	१९९	२२०-यज्ञमूलासृष्टि	२०४
१९७-अनन्तमहेश्वर	"	२२१-शुक्र का दहरोत्तरभाव	"
१९८-ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ	"	२२२-वाङ्मय स्वयम्भू (१)	) खां सि प
१९९-द्वयस्थान और ऊर्ध्वभाव	"	२२३-आपोमय परमेष्ठी (२)	
२००-विश्वोपक्रमस्थान	"	२२४-अमृताग्निमय सूर्य (३)	
२०१-विश्वोपसंहारस्थान	"	२२५-मर्त्याग्निमय सूर्य (४)	
२०२-सोम का उदय	"	२२६-आपोमय चन्द्रमा (५)	
२०३-योगमाया	"	२२७-वाङ्मयी पृथिवी (६)	
२०४-शुक्र की सामान्य व्याप्ति	"	२२८-मन्त्रार्थोपक्रम	२०५
२०५-ब्रह्म की शुक्रता	२००	२२९-कायत्व	२०६
२०६-सुब्रह्म का रेतत्व	"	२३०-वरात्त्व	"
२०७-महान् की महत्ता	"	२३१-स्नायुत्व	"
२०८-मूर्तिजगत्	"	२३२-अशुद्धत्व	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२३२-पाप्मविद्वत्त्व	"	२३६-कवि	२०७
२३४-अकायत्व	२०७	२४०-मनीषी	"
२३५-अत्रणत्व	"	२४१-परिभू	"
२३६-अस्नाविरत्व	"	२४२-स्वयम्भू	"
२३७-शुद्धत्व	"	२४३-कवि का महाकाव्य	"
२३८-अपापविद्वत्त्व	"	२४४-यथार्थनिर्माण	२०८
		२४५-त्रिगुणमीमांसा	२०८
		२४६-पद्मगुणकमहान्	२१०
		२४७-भृगुद्विरोमपमहान्	"
		२४८-मन्त्रार्थोपमहार	२११

इति प्राकृतात्मधिकरणे महदात्माधिकरणम्

३

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे विज्ञानात्माधिकरणम् (२१५-३०४ पर्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१-विज्ञानात्मस्वरूपनिर्देशन	२१५-२१६	३-संवत्सरजन्म	२१७
२-यज्ञवराहमातरिरवा	२१७	४-सुपर्ण	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५—महासुपर्ण	२१७	२९—वडिशमत	२२२
६—स्वयम्भूमृतामृष्टि	२१८	३०—वैदेहजनकमत	"
७—सूर्यमृतामृष्टि	"	३१—कश्यपमत	"
८—पृथ्वीमृतामृष्टि	"	३२—धन्वतरिमत	"
९—प्रथमामृष्टि	२१९	३३—चक्रमत	"
१०—द्वितीयामृष्टि	"	३४—शार्कराक्ष्यमहर्षिमत	"
११—तृतीयामृष्टि	२२०	३५—आरुस्थिमत	"
१२—ओङ्कारविद्या	"	३६—ज्ञानप्रधानमृष्टिक्रम	२२३
१३—उद्गीयविद्या	"	३७—क्रियाप्रधानस्थितिक्रम	"
१४—प्रणवविद्या	"	३८—अर्थप्रधानमृष्टिक्रम	"
१५—ब्राह्मविद्या	"	३९—शिरोमृतामृष्टि	"
१६—वैष्णवविद्या	"	४०—हृदयमृतामृष्टि	"
१७—महिम्नविद्या	"	४१—पादमृतामृष्टि	"
१८—पुराणसम्बन्ध	"	४२—हिरण्यगर्भविद्या	२२४
१९—ज्ञानमूर्तिब्रह्मा	"	४३—सुन्या-चित्या	"
२०—क्रियामूर्तिविष्णु	"	४४—पाङ्क्तो व यज्ञः	२२५
२१—अर्थमूर्तिशिव	"	४५—अग्निचिति	"
२२—त्रिमूर्तिविराट्	"	४६—वायुचिति	"
२३—प्राणान्तकञ्जर	"	४७—आदित्यचिति	"
२४—गर्भस्थिति	"	४८—साध्यचिति	"
२५—कुमारशिराभरद्वाजमत	"	४९—पिण्डस्थिति	"
२६—काङ्कायन बालहीकमत	२२२	५०—स्वयमातृणाचिति	२२६
२७—भद्रकाप्यमत	"	५१—विश्वज्योतिचिति	"
२८—भद्रशौनकमत	"	५२—साध्यदेवता	२२७

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
३३—षोडशीन्द्र	२२७	७७—धूमकेतु	२३३
३४—प्रजापतिकेपुत्र	"	७८—श्रृङ्गसहिता	"
३५—आत्मज्योतिप्रसार	"	७९—महाभारत में धूमकेतु	२३४
५६—ज्येष्ठ-श्रृङ्ग	२२८	८०—श्रृङ्ग अग्निपुत्र	२३५
५७—इन्द्रेन्द्र	"	८१—शशिवद्भासमानाः	"
५८—सर्वोत्कृष्टशिल्प	"	८२—अग्निगोल	"
५९—इन्द्रमहिमा	"	८३—सूर्य के उग्रह	"
६०—गरमधाम	२२९	८४—उपग्रहोकी स्थिति	"
६१—अवमधाम	"	८५—वाराणाहिक मृष्टिक्रम	२३६
६२—विज्ञानधनमूर्त्य	"	८६—तेजोमेषविचार	"
६३—ज्ञानशक्तिमयमूर्त्य	२३०	८७—केन्द्र एवं लालाप्सके विचार	"
६४—क्रियाशक्तिमयमूर्त्य	"	८८—पूर्व-पश्चिमविज्ञान की तुलना	"
६५—अर्थशक्तिमयमूर्त्य	"	८९—सत्य का अवतार	२३७
६६—प्रजापतिका पुत्राव	"	९०—अपां सम्मन्सीद	"
६७—सलिलभाव	"	९१—सत्यब्रह्म	"
६८—सर्कसरोयत्ति	२३१	९२—वर्ष ब्रह्म	"
६९—सरित्-इरा	२३२	९३—देवानां प्रियं धाम	"
७०—चलवायु	"	९४—संवत्सर शब्द का अर्थ	"
७१—स्थिरवायु	"	९५—संवत्सर की वेला	"
७२—सहोत्रल	"	९६—पृथिवी परिश्रमण	२३८
७३—सहोत्राश्रयि	"	९७—कालवाचक संवत्सर	"
७४—वाग्देव	"	९८—अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव	"
७५—वाग्ब्रह्म	"	९९—भूत-ज्ञानज्योति	"
७६—हिरण्य अण्ड	२३३	१००—अध्यात्मसंस्था	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१०१-आभिर्देविकसंस्था	२३८	१२५-उत्तमज्योति	२४३
१०२-अष्टौ बुद्धयः	"	१२६-विष्टपस्वर्ग	"
१०३-धर्मलक्षणा	"	१२७-ब्रह्मविष्टप	"
१०४-ज्ञानलक्षणा	"	१२८-विष्णुविष्टप	"
१०५-वैराग्यलक्षणा	"	१२९-इन्द्र विष्टप	"
१०६-ऐश्वर्यलक्षणा	२३९	१३०-त्रिविष्टपस्वर्ग	"
१०७-अधर्मलक्षणा	"	१३१-नवाह्वयज्ञ	"
१०८-अज्ञानलक्षणा	"	१३२-अहर्गण	"
१०९-आसक्तिलक्षणा	"	१३३-एदविशस्वर्ग	"
११०-अनैश्वर्यलक्षणा	"	१३४-सप्तसरप्रतिमा	"
१११-प्राङ्प्राण	"	१३५-प्रतिष्ठास्तोम	"
११२-दैवीसम्पत्	"	१३६-परमस्तोम	"
११३-अवाङ्प्राण	"	१३७-सप्तदशस्तोम	"
११४-आसुरीसम्पत्	"	१३८-सप्तदशप्रजापति	"
११५-इन्द्रमन्तान	"	१३९-यज्ञात्मक विष्णु	२४४
११६-अहोरात्रे	२४०	१४०-विष्णु के तीन विक्रम	"
११७-सम्पत्परिलेख	"	१४१-ब्रह्मस्यविष्टप	"
११८-विद्याबुद्धयः	२४१	१४२-स्वाराज्य यज्ञ	"
११९-अविद्याबुद्धयः	"	१४३-नाकस्वर्ग	"
१२०-अभिनवेशलक्षणा	"	१४४-सौम्यविद्युत्	"
१२१-अर्द्धज्ञानजनितमोह	"	१४५-अमानवपुरुष	"
१२२-परासृष्ट जीव	२४२	१४६-स्वर्ग्याग्नि	"
१२३-अपरासृष्ट ईश्वर	"	१४७-स्वरसाम	२४३
१२४-पुन वै देवस्वर्गाः	२४३	१४८-सूर्यग्रहण	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१४१-त्रिणाचिकेतस्वर्ग	२४५	१७३-वसिष्ठाश्रम	२४८
१५०-स्वर्गधरुण	"	१७४-सूर्यसदन	"
१५१-धरुणप्रतिष्ठा	"	१७५-विज्ञानभवन	"
१५२-धरुणएकविंशः	"	१७६-सौवीरराष्ट्र	"
१५३-स्कन्ध	"	१७७-साहवीरिया	"
१५४-सुनहरीरथ	२४६	१७८-अमरावती	"
१५५-सातअश्व	"	१७९-देवाधिपतिइन्द्र	"
१५६-अरमापृग्नि	"	१८०-सुधर्मा	२४९
१५७-अरभागवरा	"	१८१-मेरुण्डनामक स्वर्गोपपत्ता	"
१५८-उक्ता	"	१८२-मेमाथ नामक स्वर्गोपपत्ती	"
१५९-समुद्र	"	१८३-अपराजितादिक्	"
१६०-अरुण	"	१८४-ऐन्द्रधाम	"
१६१-सुर्ग	"	१८५-प्राग्मेरु (पामीर)	"
१६२-वृषभो रोरवीति	"	१८६-कान्तिमतीमभा	"
१६३-अर्णवसमुद्र	"	१८७-प्राग्व्योतिषनगर	"
१६४-वृष्टिमंचालकमूय	२४७	१८८-भद्रगिरि-चन्द्रगिरि	"
१६५-गरुडपत्नी	"	१८९-देवयजनभूमि	"
१६६-प्रेतसुपर्णा	"	१९०-उत्तररूस	"
१६७-दिव्यविमान	"	१९१-वालकशक्तील	"
१६८-ऋक्संहिता	"	१९२-प्राचीसरस्वती	"
१६९-आग्निदेविक स्वर्गधरुण	२४८	१९३-अवभृथस्तान	"
१७०-भौमस्वर्गव्यवस्था	"	१९४-मंगोलिया	"
१७१-सिन्धुनद	"	१९५-प्रद्यौ	"
१७२-सरस्वतीनदी	"	१९६-धातुमयअश्व	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१६७-चतुर्भद्रमण्डल	२५०	२२०-सूर्यकेन्द्र	२५६
१६८-भौतिकधरुण	"	२२१-महापञ्च	"
१६९-ज्ञानप्रधान सत्त्वगुण	२५१	२२२-निमेषगति	"
२००-क्रियाप्रधान रजोगुण	"	२२३-अरुणः पन्थाः	"
२०१-अर्थप्रधान तमोगुण	"	२२४-प्रज्ञान-विज्ञान	"
२०२-अजाप्रकृति	"	२२५-मास निर्वचन	२५७
२०३-सन्वादभि महानान्मा	"	२२६-पूर्णिमा-अमावास्या	"
२०४-ज्ञानानन्दविकास	"	२२७-आध्विदैविक जगत	"
२०५-त्रिगुणैकमव	२५२	२२८-"बाण" धरातल	२५८
२०६-लोकद्वष्टा सूर्य	"	२२९-स्तन इवानलम्बे	"
२०७-आत्मद्वष्टा विज्ञानान्मा	"	२३०-इन्द्रधोनि	"
२०८-चान्द्र पुरुष	"	२३१-आध्यात्मिकी पूर्णिमा	"
२०९-आत्मविवर्त्ता के प्रभव, प्रतिष्ठा	"	२३२-जाग्रदवस्था (पूर्णिमा)	"
योनि, आशयों का निदर्शन २५२-२५४		२३३-जाग्रत प्राणाग्नि	"
२१०-आत्मप्रभववादि परिलेख नं० १		२३४-आध्यात्मिकी अष्टमी	"
२११-इन्द्रियप्रभववादि परिलेख नं० २		२३५-अवस्थान्तरी परिलेख	"
२१२-कर्मप्रभववादि परिलेख नं० ३		२३६-वागष्टमी	"
२१३-शरीरप्रभववादि परिलेख नं० ४		२३७-स्वप्नावस्था (अष्टमी)	२५९
२१४-शिखाधारण रहस्य	२५३	२३८-आध्यात्मिकी अमावास्या	"
२१५-विज्ञानशिव	"	२३९-सुषुप्तिकाल (अमावास्या)	"
२१६-अमूलपुरुष	"	२४०-स्वस्थचित्त	"
२१७-स्वस्तिक एव चतुर्भुज	"	२४१-उक्त्यविज्ञान	"
२१८-भूकेन्द्र	२५६	२४२-दक्षिणचक्र	२६०
२१९-अपानप्राण	"	२४३-अनूक-प्रतीकदर्प	"

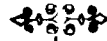
विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२४४-विज्ञानोपासना	२६०	२६८-मोहकलिलाबुद्धि	२६६
२४५-इन्द्रपत्नी	"	२६९-वासनासंस्कार	"
२४६-विज्ञानप्रदर्शन	"	२७०-चान्द्रविवर्त्त	"
२४७-तेजोनाडी	२६१	२७१-मनोविवर्त्त	"
२४८-अहः-अहम्	"	२७२-वासनानिर्वचन	"
२४९-माण्डलिकपुरुष	"	२७३-आसक्तिनिर्वचन	"
२५०-दीपशिखा	"	२७४-संस्कारो की दृढ़ता	२६७
२५१-असंग-ससंगभाव	२६२	२७५-चिरकालिकत्व में मूल	"
२५२-चिदानन्द	"	२७६-उभयात्मक मनः	"
२५३-अशनाया (बुभुक्षा)	"	२७७-शोक-मारीन्द्र	२६८
२५४-इन्द्रियवृत्ति	"	२७८-संकल्पविकल्पात्मकमन	"
२५५-पराञ्चि खानि	"	२७९-स्थिरलक्षणाबुद्धि	"
२५६-इन्द्रियातीतआत्म	"	२८०-बुद्धिद्वैविध्य	२६८
२५७-विषयानन्द	२६३	२८१-संस्कारशैथिल्य	"
२५८-आनन्दोपभोक्ता	"	२८२-अनुष्ठानलक्षण	२७०
२५९-आनन्दका श्रृणनाव	"	२८३-कामलक्षण	"
२६०-आआनन्दावाप्ति	२६४	२८४-रागलक्षण	"
२६१-विज्ञानेन परिपश्यन्ति	"	२८५-द्वेषलक्षण	"
२६१-सुखदुःखविवेक	२६५	२८६-क्रोधलक्षण	"
२६३-मनकी विविधवृत्तिएं	"	२८७-संमोहभाव	२७१
२६४-अशान्तमन	"	२८८-स्मृतिविभ्रम	"
२६५-अविद्याप्रसक्तमन	"	२८९-बुद्धिनाश	"
२६६-सावरणमन	"	२९०-सर्वनाश	"
२६७-मोहनिर्वचन	२६६	२९१-भाक्तासंस्कार	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२६२-विद्या-अविद्योपक्रम	२७१	२६४-मन्त्रप्रकरणसङ्गति	२७२
२६३-मन्त्रार्थोपक्रम	२७२	२६५-विषयसंगतिप्रकरणसमाप्त	"

मन्त्रार्थप्रकरण

प्रथममन्त्रार्थप्रकरण

(२७३ पृष्ठ से २७८ पृष्ठ पर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१-प्रथममन्त्र (१० मन्त्र)	२७३	१४-नेति-नेति समन्वय	२७६
२-मूलार्थ	"	१५-अस्तीन्येव	"
३-विद्या-अविद्यादर्शन	"	१६-प्रथमार्थोपसंहार	"
४-ज्ञायते-क्रियते	"	१७-द्वितीयार्थोपक्रम	"
५-स्वय्योति-परय्योति	२७४	१८-विद्या-अविद्यासे भिन्न	२७७
६-सप्रवाहन्द्र	"	१९-प्रीराः	"
७-कारयितान्निब्रह्म	"	२०-द्वितीयार्थोपसंहार	"
८-कर्ममयविज्ञान	"	२१-संहिता का मन्त्र	"
९-अहं सूर्य इति जनि	२७५	२२-तृतीयार्थोपक्रम	२७८
१०-अन्यत्-विद्यया	"	२३-श्रान्तमतनिराकरण	"
११-अन्यत्-अविद्यया	"	२४-विद्यागर्भितकर्म	"
१२-शब्दातीतव्याप्ता	"	२५-ज्ञानगर्भिताविद्या	"
१३-नेति-नेति	"	२६-तृतीयार्थोपसंहार	"

प्रथममन्त्रार्थसमाप्त

द्वितीयमन्त्रार्थप्रकरण

(२७८ पृष्ठसे २८८ पृष्ठ पर्यन्त)

—ॐ—

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—द्वितीयमन्त्र (१ मन्त्र)	२७८	२१—सिविललाइन (ज्ञान)	२८४
२—कर्मप्रपञ्च	२७९	२२—मिलिट्री लाइन (कर्म)	"
३—ज्ञानमूलककर्म	२८०	२३—शनपथश्रुति	"
४—विज्ञानमूलककर्म	"	२४—मित्र और वरुण	२८५
५—अज्ञानमूलककर्म	"	२५—अभिगन्ता ब्राह्मण	"
६—योगसंसिद्ध	"	२६—कर्त्ता क्षत्रिय	"
७—योगानुयायी कर्मठ	"	२७—मैत्रावरुणग्रह	"
८—साधनानुयायी ज्ञानी	"	२८—क्षत्रियशून्यब्राह्मण	"
९—द्विविधा निष्ठा	२८१	२९—ब्राह्मणशून्यक्षत्रिय	"
१०—कर्मठों की दृष्टि	"	३०—मनोबल	२८६
११—येऽविद्यामुपासते	"	३१—प्राणबल	"
१२—ज्ञानमार्ग का दम्भ	२८२	३२—अहोरात्रग्रह	"
१३—मिथ्याचार	"	३३—मन्त्रपटः	"
१४—उभयतः पतन	"	३४—रात्रिर्वारुणी	"
१५—ज्ञानमार्ग का भूयोऽन्धकारत्व	"	३५—वाग्बल	"
१६—अज्ञान तस्य शरणम्	२८३	३६—विद्वद्रूपविश्व	"
१७—वाक्शूराः पण्डिताभिमानिनः	"	३७—क्षत्रयोनिब्रह्म	२८७
१८—धर्मलक्षण	२८४	३८—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य	"
१९—ब्रह्मबल (ज्ञान)	"	३९—वर्णव्यवस्थासूत्र	"
२०—क्षत्रबल (कर्म)	"	४०—चाणक्यपुरोधः	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४१—पञ्चाव-वङ्गात्	२८७	४४—दोनों की भ्रान्ति	२८७
४२—सनातनी-आर्यसमाजी	"	४५—देश की दुर्दशा	"
४३—विद्वन्मण्डली-राष्ट्रवादी	"	४६—य उ विद्यायां रताः	२८८

द्वितीयमन्त्रार्थसमाप्त

तृतीयमन्त्रार्थप्रकरण

(२८८ पृष्ठसे ३०३ पृष्ठ पर्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—तृतीयमन्त्र (११ मन्त्र)	२८८	१४—प्रकृतिसिद्धिः नं० ४	२९१
२—ज्ञाननिष्ठा	"	१५—अनासक्तकर्मयोगत्वं नं० ५	"
३—कर्मनिष्ठा	"	१६—कर्मारम्भश्रैष्ठ्यत्वं नं० ६	२९२
४—बुद्धियोगनिष्ठा	"	१७—जीवनयात्रानिर्वाहकत्वं नं० ७	"
५—कुरु कर्म त्वं	"	१८—अबन्धनयज्ञार्थकर्म	२९३
६—अभिगन्ता श्रीकृष्ण	२९९	१९—प्राकृतिकयज्ञ	"
७—कर्ता अर्जुन	"	२०—अग्निदेवत-अध्यात्म-अभिभूत	"
८—अर्जुन की भ्रान्ति	"	२१—अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः	२९४
९—भ्रान्ति का निराकरण	"	२२—सोमत्व की व्याप्ति	"
१०—सर्वकर्मत्यागबलक्षणसंन्यास	"	२३—प्राणयज्ञ	"
११—नैष्कर्म्योपायत्वं नं० १	२९०	२४—आयोज्यज्ञ	"
१२—कर्मसंन्यासवैधर्म्यं नं० २	"	२५—वाग्यज्ञ	"
१३—कर्मपरित्यागाशक्यत्वं नं० ३	"	२६—अनादयज्ञ	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२७—अनयज्ञ	२८४	४७—शीरवयी	२९७
२८—विषयज्ञ	"	४८—मृतस्य पश्यजा	२९८
२९—अनुगमश्रुति	"	४९—महिनां संयोगः	"
३०—प्रजापतिपञ्च	२९५	५०—उच्छिष्टाज्जिरे सर्वम्	"
३१—यज्ञेन यज्ञनयन्नन	"	५१—उपकि-समाजप्रिति	"
३२—यज्ञ से प्रजोपति	"	५२—यज्ञकर्म की अच्यवनता	"
३३—प्रजाशब्दनिर्वचन	"	५३—संन्यासलक्षण	३०९
३४—चार्तुर्वर्ण्यमूष्टि	२९६	५४—कर्मण्येवाधिकारम्	"
३५—यागशब्दनिर्वचन	"	५५—फलाशा की वश्यकता	"
३६—देवपूजा	"	५६—हेतावीर्युः-फलं नेर्युः	३००
३७—देवमेगमन	"	५७—कुवक्षायं न निष्यते	"
३८—देवदान	"	५८—मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि	"
३९—भूतसम्बन्धी दानयज्ञ	"	५९—बुद्धियोग पर आक्षेप	३०१
४०—देवसम्बन्धी संगमनयज्ञ	"	६०—आक्षेपसमाधान	"
४१—आत्मसम्बन्धी पूजायज्ञ	"	६१—बुद्धिमहिमा	"
४२—पुराणश (आहुतिद्रव्य)	"	६२—उत्थाप्यकाला	३०२
४३—३३ देवता, ५ भूत	२९७	६३—उपिप्रताकांता	"
४४—यावद्विवृतं नावदानमा	"	६४—कर्मार्थकर्म	"
४५—आत्मसमर्पणयज्ञ	"	६५—समवबलक्षणा बुद्धियोग	"
४६—"अवाहा" शब्दनिर्वचन	"	६६—प्रकारोण्यसंसार	३०३

तृतीयमन्त्रार्थसमाप्त

इति

प्राकृतत्माधिकारणे-विज्ञानात्मिकाधिकारणम्

समाप्तम्

अथ
प्राकृतात्माधिकरणे
प्रज्ञानात्माधिकरणम्

— ४ —

(३०५ पृष्ठसे ३४६ पृष्ठपर्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्रज्ञानात्मस्वरूपनिर्देशन	३०५-३०६	१७—गायत्र पुरुष का द्वितीयपर्व	३११
२—विषयोपक्रमः	३०७	१८— " " तृतीयपर्व	"
३—अधिकरण मगति	"	१९— " " चतुर्थपर्व	"
४—सृष्टिक्रमानुसार संस्थाविभाग	३०८	२०— " " पञ्चमपर्व	३१२
५—अध्यात्मानुसार संस्थाविभाग	"	२१— " " षष्ठपर्व	"
६—पितरप्राण	"	२२— " " सप्तमपर्व	"
७—पितृतिथि	"	२३— " " अष्टमपर्व	"
८—योषिदग्नि	"	२४—गायत्रपुरुषपरिलेख	"
९—दर्शष्टि	"	२५—सम्भूति-विनाशात्मक चन्द्रमा	३१३
१०—शतपथश्रुति	"	२६—गतित्रयी	"
११—अमावास्या नाम	३०९	२७—चन्द्रपिण्ड	"
१२—आख्यान रहस्य	"	२८—हिरण्यगर्भ ब्रह्मा	"
१३—गायत्रो वै पुरुषः	३१०	२९—वाष्परूप पानी	३१४
१४—ईश्वरः - जीवः	"	३०—यज्ञवराह	"
१५—गायत्रं ब्रह्म	"	३१—अग्निप्राण ये चन्द्रोत्पत्ति	"
१६—गायत्रपुरुष का प्रथमपर्व	३११	३२—ब्रह्माण्डपुराण	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
३३--पुराणसंगति	३१५	५७--सर्वाधिष्ठाता चन्द्रमा	३२२
३४--सोमो राजा	"	५८--अन्तरंग प्रकृति	३२३
३५--भौमब्रह्मा	३१६	५९--सृष्टिसाक्षि	"
३६--गन्धर्वनगर	"	६०--पुरुषाग्नि	"
३७--अत्रिपुत्र चन्द्रमा	"	६१--आत्माग्नि	"
३८--महाभारत	"	६२--सुतो भवति	"
३९--महाभारतसंगति	३१७	६३--चन्द्रिकामय चन्द्रमा	"
४०--ऋक्संहिता	३१८	६४--पुरुष-प्रकृति	३२४
४१--संभूति-विनाशोपक्रम	३१९	६५--रस--बल	"
४२--आविर्भाव-तिरोभाव	"	६६--अग्नि--सोम	"
४३--उदय--अस्त	३२०	६७--सर्वमन्त्रम्	"
४४--संमृष्टिसम्बन्ध	"	६८--सवमन्त्रादः	"
४५--सत्तारस	"	६९--मन्त्रश्रुति	"
४६--अयं घटोऽस्ति	"	७०--प्रत्यक्षदृष्टि	३२५
४७--सत्ता का अनुग्रह	"	७१--पुण्डरीरस्वयम्भू	"
४८--सत्ता का निग्रह	"	७२--ऋक्संहिता	"
४९--सत्ता की विच्युति	३२१	७३--मन्त्रमंगति	३२६
५०--भय की उत्पत्ति	"	७४--प्रज्ञानात्मा	३२७
५१--विभूति सम्बन्ध	"	७५--आधिदैविक चन्द्रमा	३२८
५२--समिन्वेकीभावे	"	७६--आध्यात्मिक चन्द्रमा	"
५३--सम्--भूति	"	७७--विश्व और जगत्	"
५४--उदयावस्था	३२२	७८--संयती-क्रन्दसी-रोदमी	"
५५--उत्-अयन	"	७९--तेजन-स्नेहन	"
५६--विनाशावस्था	"	८०--हृदय-परिधि	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
८१—उत्प-अर्क	३२८	१०४—संभूतआत्मा	३३५
८२—नकोच-विकाम	"	१०५—आत्मगति	"
८३—अद्विरात्रयी	"	१०६—प्रेमात्मा	३३६
८४—भृगुत्रयी	३२९	१०७—अश्रुमुखपितर	"
८५—दशविधसोम	"	१०८—पिण्डदानलक्षणश्राद्ध	"
८६—पञ्चावयवयज्ञ	३३०	१०९—श्रद्धामूत्र	"
८७—पद्याग्निचिवा	"	११०—रेत	"
८८—शिवनमो गमः	३३१	१११—दिव्यविरलरस	"
८९—अवस्थाविभाग	"	११२—अहंभाव की व्याप्ति	३३७
९०—कश्यपप्रजापति	३३२	११३—महांसि	३३८
९१—दत्तप्रजापति	"	११४—पितर	"
९२—दत्तवृत्त	"	११५—अन्नमयमन	"
९३—दत्त की ६० कन्याएं	"	११६—अविद्याशुक्र	"
९४—दाक्षायणिप	"	११७—पुनःसंभूति	३३९
९५—नियतसमय	"	११८—चान्द्रनाडी	"
९६—मोमम-ऋतु	३३३	११९—सौरयज्ञस्थिति	"
९७—आगेडावरोहक्रम	"	१२०—त्रैगुण्यभाव	३४०
९८—ग्रन्थिप्रन्धन	"	१२१—मात्राविभाग	"
९९—ग्रन्थिविमोक्त	३३४	१२२—चिदश-सोमाश	"
१००—कौपीतकिश्रुति	"	१२३—प्रज्ञापेता-धीः	३४१
१०१—विचक्षणचन्द्रमा	३३५	१२४—चिन्मन	"
१०२—शिवतत्व	"	१२५—श्रोत्रसीयसमन	"
१०३—संचर-प्रतिसंचर	"	१२६—सर्वेन्द्रियमन	३४२

[क]

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१२७-अनिन्द्रियमन्त्र	३४२	१२८-नियतविषय	३४२
१२८-प्रज्ञानमन्त्र	"	१३०-महर्षि एतरेय	"

विषयसंगति-समाप्त

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१-प्रथममन्त्रार्थ-—३४३—३४४		३-तृतीयमन्त्रार्थ-—३४७—३४८	
२-द्वितीयमन्त्रार्थ-—३४५—३४६			

इति

प्राकृतात्माधिकरणे प्रज्ञानात्माधिकरणं

समाप्तम्

—४—

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे

प्राणात्माधिकरणम्

—५—

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१-प्राणात्मस्वरूपनिदर्शन-३४७-३५०		५-ब्रह्मसत्यात्मा	३५२
२-सिंहावलोकन	३५१	६-ब्रह्मसत्याक्षर	"
३-आत्मा-पदं-पुनःपदम्	३५२	७-ब्रह्मसत्य-देवसत्य	"
४-सत्यात्मा	"	८-मुण्डकश्रुति	३५३

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
६—महेश्वर	३५३	३३—अदितिगर्भ से देवोत्पत्ति	३५५
१०—अश्वत्थवृक्ष	"	३४—वागेवोपनिषत्	"
११—सहस्रबलशा	"	३५—अतिष्ठावादेवता	३५६
१२—मूलभाग	"	३६—स्तोमविभाग	"
१३—मध्यभाग	"	३७—देवविभाग	"
१४—अन्तभाग	"	३८—सर्वभूतान्तरात्मा	"
१५—भोक्ता	"	३९—अमृत-ब्रह्म देव-भूत	३५७
१६—मध्वद	"	४०—शुद्धिमंस्कार	"
१७—साक्षीसुपर्ण	"	४१—स्मृतिमंस्कार	"
१८—भोक्तासुपर्ण	"	४२—धौतसंस्कार	"
१९—उपेश्वर	"	४३—सयुक्-सखा	"
२०—महेश्वर	"	४४—ईश्वरजगत् परिलेख	३५८
२१—परमेश्वर	"	४५—जीवजगत्परिलेख	३५९
२२—शून्यन्तरगमन	३५४	४६—एष सर्वभूतान्तरात्मा	३६०
२३—अजन्माश्वात्मा	"	४७—भोक्तात्मविवर्ति	३६१
२४—अग्निः सर्वा देवताः	"	४८—सत्यधर्म	"
२५—अमृत-मृत्यु	"	४९—प्रकरणसंगति	३६१-३६४
२६—चित्याग्नि	"	५०—हिरण्यपात्र	३६४-३६५
२७—चितेनिधेयाग्नि	"	५१—पृषत्केकर्थे	"
२८—पिण्डपृथ्वी	"	५२—असत्प्राण	"
२९—महिमापृथिवी	"	५३—ऋषि	"
३०—कृष्णार्जुन	"	५४—सप्तर्षिप्राण	"
३१—पुष्करपर्ण	३५५	५५—प्राणविभूति	३६६
३२—देवमाताअदिति	"	५६—वागेवात्रिः	३६७

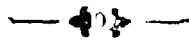
विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५७—एकपिप्राण	३६७	७१—उपास्य-उपासक	३७०
५८—पूषा	"	७२—छायामयीपूषा	३७१
५९—शुद्धवर्ण	३६८	७३—त्रिविधजीव	३७२
६०—अदन्तकपूषा	"	७४—प्राण-व्यान-अपान	३७३
६१—रेवतीपूषा	"	७५—इरा	"
६२—पृथिवीपूषा	३६९	७६—अनिर	३७४
६३—मूर्त्यपूषा	"	७७—अनिल	"
६४—वायुपूषा	"	७८—ज्ञानान्मुक्तिः	"
६५—एकपिप्राणायाम	"	७९—वायुगनिनमस्तुतम्	"
६६—यमप्राजापत्य	"	८०—भूतचिति	"
६७—मूर्त्यप्राजापत्य	"	८१—प्राणचिति	"
६८—पूषन्	"	८२—उवचिति	"
६९—पगवो वै पूषा	"	८३—मन्त्रार्थोपगोहार	३७५
७०—फलप्राणतमरूप	३७०		

इति

प्राकृतात्माधिकरणे प्राणात्माधिकरणं

समाप्तम्

५



प्रकृतिवैभव

“मयाभ्यक्षेणा प्रकृतिः सृयते सचराचरम्”

प्राकृतात्माधिकरणा

२

प्राणा-आप-वाक्-अन्न-अनादमयः प्राकृतात्मा 'विश्वात्मा'

४—१—१—अनेजदेक मनसो जवीय	}	अव्यक्तात्माधिकरणा
५—२—२—तदेजति तन्नेजति		
६—३—३—यस्तु सर्वाणि भूतानि		
७—४—४—यस्मिन् सर्वाणि भूतानि		
८—५—१—स पर्यगाच्छुक्रमकायम्	}	महदात्माधिकरणा
९—६—१—अन्ध तम प्रविशन्ति		
१०—७—२—अन्यदेवाहुर्विद्यया	}	विज्ञानात्माधिकरणा
११—८—३—विद्या चाविद्या च		
१२—९—१—अन्ध तम प्रविशन्ति	}	प्रज्ञानात्माधिकरणा
१३—१०—२—अन्यदेवाहुः सम्भवात्		
१४—११—३—सम्भूति च विनाश च		
१५—१२—१—हिरण्यमेत पात्रेण	}	प्राणात्माधिकरणा
१६—१३—२—पूयन्नेकपे		
१७—१४—३—वायुः निलम्भृतम		
१—अथेद भस्मान्त शरीरम्	}	शरीरात्माधिकरणा
१८—१५—१—अग्ने नय सुपथा राये		
	}	अग्निदेव की सर्वता

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

पूर्णमदः >>>—>

१-स्वयम्भूः >>>—>

अधिदैवतम् >>>—>

पूर्णमिदम्

१-शान्तात्मा

अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षरः—

ब्रह्म-कर्ममयः प्राकृतात्मा स्वयम्भूः

अव्यक्तात्मा

१

स्वयम्भूः ———<<<< प्राणः >>>>—> शान्तात्मा

(अव्यक्तात्माधिकरणे शान्तात्मा)

वेदावच्छिन्नो वेदमूर्तिर्विद्याकर्ममयात्मा

विश्वेश्वरः

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनहेवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

(ईशोपनिषत् ४ मन्त्र)



अथ

प्राकृतात्माधिकरणे शरीरात्माधिकरणम् ६

(३७६ पृष्ठमे ३८६ पृष्ठपर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—शरीरात्मस्वरूपनिर्देशन	३७६-३७८	९—हृदय	३८१
२—भस्मान्त शरीर	३७९	१०—नाभि	"
३—उह चेदवेदीत	३८०	११—ब्रह्मप्रस्थि	"
४—८४ अङ्गुल	"	१२—सप्तवितस्ति काय	"
५—पुरुष परिमाण	"	१३—आधिभौतिक पुरुष	"
६—प्रादेशमित प्राण	"	१४—भस्मान्तविश्व	३८२
७—ब्रह्मरन्ध्र	३८१	१५—कतु-कृत	३८३
८—कण्ठ	"	१६—प्रकरणोपसंहार	३८४

इति

प्राकृत त्माधिकरणो शरीरात्माधिकरणं समाप्तम्

६

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे

उभयोः सत्यात्मनोरग्निना-ऐकात्म्यम्

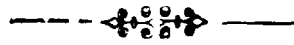
(३८४ पृष्ठ से ३८६ पृष्ठ पर्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—जीव-ब्रह्मसत्य	३८४	३—जीव-देवसत्य	३८५
२—ईश्वर-ब्रह्मसत्य	"	४—ईश्वर-देवसत्य	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५—सत्यप्रतिष्ठा	३८५	६—जातवेदा	३८५
६—वयुन	"	१०—अन्नभेद	३८६
७—वय	"	११—वयुनाधिष्ठाता अग्नि	"
८—वयोनाथ	"	१२—प्रकरणोपसंहार	"

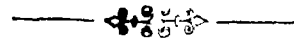
इति

वाजसनेयोपनिषत्-विज्ञानभाष्यं सम्पूर्णम्



उपनिषत् निष्कर्ष

(३८७ पृष्ठ से ३९२ पृष्ठ पर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—भोगासक्तमन	३८७	६—द्वितीय आदेश	३८६
२—चित्त की अस्थिरता	"	७—तृतीय आदेश	३८७
३—महाराज ययाति	"	८—चतुर्थ आदेश	३८९
४—६ आदेश वाक्य	३८८	९—पञ्चम आदेश	"
५—प्रथम आदेश	३८९	१०—षष्ठ आदेश	३९२

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!





अव्यक्तस्वरूपनिदर्शन

सर्वादिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनह्वान् ।
एव स देवो भगवान् वरेण्यो योनिध्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ १ ॥
यच्च स्वभाव पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वपधितिष्ठत्येको गुणाश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥ २ ॥
तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गृहं तद् ब्रह्मा वेदयते ब्रह्मयोनिम् ।
य पृर्व देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ ३ ॥
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ४ ॥
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिपेष्टितारं ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ५ ॥
स तन्मयोऽहमृन् ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनभ्याभ्य गोप्ता ।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ ६ ॥
एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ७ ॥
छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्य यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥ ८ ॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं स च विचैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ ९ ॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पाद ।
सं बाहुभ्या धमति संपतत्रैर्घावाभूमिं जनयन् देव एकः ॥ १० ॥

अव्यक्तादव्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्याग्ने प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

॥ श्रीः ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !

अव्यक्तनिधनान्देव तत्र का परिदेवता ॥ १ ॥ (गी० २।२८।)

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ २ ॥ (गी० ८।१८।)

प्रकृति भ्वापवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ३ ॥ (गी० ९।८।)

मयाऽप्यक्षेण प्रकृतिः सृयते सचराचरम्

हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्तते ॥ ४ ॥ (गी० ९।१०।)



न्त्रार्थ से सम्बन्ध रखने वाला बहिरङ्ग विषय समाप्त होगया । अब मन्त्र-

प्रकरण आरम्भ होता है । पुरुष प्रकरण का 'असुर्या नाप ते लोकाः'

इत्यादि मन्त्र आवरणतन्त्र का निरूपण करता है । आवरणतन्त्र विश्व है ।

इसी विश्वावरण से आत्मप्रकाश रहता हुआ भी तिरोहित हो गया है । इस

आवरणतन्त्र के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि—आवरणतन्त्र

का प्रवर्तक कौन है ? विशुद्ध अव्यय पुरुष तो केवल आत्मकाम बनता हुआ आप्तकाम, अतएव

निष्काम है । ऐसी अवस्था में विशुद्ध अव्यय से आवरणरूप विश्व की प्रवृत्ति हो—यह संभव

नहीं है । इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए 'असुर्याः' इत्यादि मन्त्र के अव्यवहितोत्तरकाल

में ही निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आता है ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तास्मिन्नपां मातरिश्वा दधाति ॥

“वह (कोई) एक (विलक्षण तत्त्व सर्वथा) कम्प रहित है । (वह) मनसे भी अधिक

बेग वाला है । पहिले से ही (सर्वत्र) व्याप्त उस तत्त्व को देवतालोक प्राप्त करने में

असंभव है। वह तत्त्व दौड़ने हुए देवनागरी का स्वयं बैठा बैठा ही अनिक्रमण कर रहा है। ऐसे इस तत्त्व में मानसिद्धा (नाम का तत्त्वविशेष) अप् नाम के पदार्थ को रखता है। यह है मन्त्र का अक्षरार्थ।

श्रुति कहती है कि एक तत्त्व ऐसा है जो मरने के लिए ठहरा हुआ है, एवं वही तत्त्व एक क्षणके लिए भी ठहरा हुआ नहीं है। वह एकान्ततः शान्त है, एकान्ततः अशान्त है। दोनों धर्मों से वह नित्य आक्रान्त है। उभयधर्मावच्छिन्न वस्तुतत्त्व एक है। इस प्रकार श्रुति एक ही तत्त्व में सर्वथा विरुद्ध दो भावों का सन्निवेश बनला रही है। ऐसा कौनसा तत्त्व है जो अनन्तर चल भी रहा है, एवं ठहरा भी हुआ है, जो अनेजत् भी है, एवं मनसे भी तेज दौड़ने वाला है। इस का उत्तर है वही अव्ययपुरुष। अव्यय का अमृतरूप विद्याभाग सर्वथा स्थिर (अनेजत्) है, मृत्युरूप कर्मभाग सर्वथा चर है। अपनी इन्हीं दोनों नियतियों से वह समारम्भ व्याप्त हो रहा है। संसार चलाचल है। बनना—विगड़ना संसार का स्वाभाविक धर्म है। इसी द्विनियति से यह विश्व भी 'द्विनियति' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। विश्व के बनना (स्थिति—इदम्) और विगड़ना (गति—अन्यथात्वं) यही दो रूप (रंग) हैं, अतएव लोकभाषा में विश्व के लिए—'दुनियां दुर्गंगी' यह आभाणक प्रसिद्ध है। निरुक्त क्रमानुसार द्विनियति शब्द ही 'दुनियां' बन गया है। यहाँ एक बनता है, एक विगड़ता है। एक गोता है, दूसरा हमता है। एक सोता है, एक जगता है। एक सेवक है, दूसरा स्वामी है। एक पति है, दूसरी पत्नी है। एक भोक्ता है, दूसरा भोग्य है। एक बालक है, दूसरे खिलौने हैं। इस प्रकार भावद्वयावच्छिन्ना अव्यय की सृष्टि में सुख दुःख, पुण्यापुण्य, अच्छा बुरा, सत्य मिथ्या, दिन रात, रयाह सुफेद, गुरु-शिष्य, राजा प्रजा, विद्वान् मूर्ख, गवयक आदि भेद से सर्वत्र इसी द्विनियतिभाव का साम्राज्य है।

अव्यय का विद्याभाग रसप्रधान है, कर्मभाग बलप्रधान है। रसभाग अमृत है, बलभाग मृत्यु है। यदि मृत्युरूप सारे बल उस अमृतरूप रस समुद्र में प्रविष्ट हो जाते हैं, उन्मुग्ध बन जाते हैं तो वही अव्यय द्विनियतिमर्यादा से बाहर निकलता हुआ 'परात्पर' बनजाता है, जैसा कि परात्परनिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जा चुका है। (देखिए ई. उ. प्र. ख. २५५-२६४ पृ.)।

यही सीमित बलावच्छिन्न बनता हुआ, अतएव द्विनियतिभाव का प्रवक्तृ बनता हुआ अव्यय कहलाने लगता है, जैसा कि पुरुषनिरुक्ति में स्पष्ट कर दिया गया है। (देखिए ई० उ० प्र०-२६५-२८५ पृ०) बलभाग सर्वथा क्षणिक है, क्षोभ ही इस का स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक क्षोभ से अव्ययपुरुष 'प्रसन्न' कहलाने लगता है। रसभाग सर्वथा अक्षर है। शान्ति इस का स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक शान्ति से यह 'सन्न' नाम से व्यवहृत होने लगता है। नित्य अशान्तिगर्भित नित्य शान्त अमृत-मृत्युरूप सदसत् तत्त्व ही ओंकार (ईश्वर) है, वही अहंकार (ईश्वरांशभूत जीवाव्यय) है, वही अहंस्कार (विश्व) है। यही रामानुज सम्प्रदाय का विशिष्टाद्वैत है। इस प्रकार तत्त्व दो हैं, परन्तु आश्चर्य है—कहलाते हैं दोनों 'एक'। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर अपने वस्त्र से पूछिए। वस्त्र में कपड़ा है, सूत है, रुई है, कापास है, मिट्टी है, जल है, तेज है, वायु है, आकाश है, प्राण है, मन है, विज्ञान है, आनन्द है, अनन्त (परात्पर) है। वस्त्र में इतनी चीजें, फिर भी वस्त्र एक कहलावे, ऐसा क्यों ? वस्त्र जो उत्तर इस 'क्यों' का है, वही उत्तर पूर्व के 'क्यों' का है।

अद्वैततत्त्व के वास्तविक मर्म को न समझने वाले कुछ एक दार्शनिकों का कहना है कि " यदि रसवत् बल को भी शाश्वत एवं वस्तुसत् (एकपदार्थ) मान लिया जायगा तो अद्वैत का समूल विनाश होजायगा। अतः नाम रूप कर्मान्मक विश्व को सर्वथा मिथ्या ही समझना चाहिए। केवल रसतत्त्व सत्य है। और सारा प्रपञ्च मायिक है, मिथ्या है"। इस प्रकार—' अनृतं द्वे तु मायिके ' कहते हुए नामरूपात्मक विश्व को असत्य मानने वाले— " अमल्यमपनिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् " (गी० १६ अ० ८ श्लो०) भगवान् के इस कथन के अनुसार अनीश्वरवादी कल्पित अद्वैतवाद की रक्षा के व्याज से इस बल की शाश्वतता पर प्रहार करना चाहते हैं। उनके प्रति हमारा यही कहना है कि थोड़ी देर के लिए अभ्युपगमवाद से हम अद्वैतरक्षा के लिए कर्ममय विश्व को आपके कथनानुसार मिथ्या मान लेते हैं। यह मानलेने पर भी बल स्वीकार करने से जो आपत्ति हमारे ऊपर आती है, उस आपत्ति से आप भी नहीं बच सकते। सांसारिक पदार्थों में स्वर्ग, सजातीय, विजातीय भेद से तीन प्रकार के भेद

हुआ करते हैं। अथ और मनुष्य का भेद विजातीय भेद है। मनुष्य-मनुष्य का भेद सजातीय भेद है। एक ही मनुष्यशरीर में कान-नाक-मुख हाथ-पैर आदि शरीरावयवों का पारस्परिक भेद "स्वगत" भेद है। ब्रह्मतत्त्व इन तीनों भेदों से पृथक् माना जाता है, जैसा कि—“एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म” इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। विजातीय भेद को हटाने के लिए ‘एकम्’ कहा है, सजातीय भेद को हटाने के लिए ‘एव’ कहा है एवं स्वगत भेद की व्यावृत्ति के लिए ‘अद्वितीयम्’ करना पड़ा है। इस पर हमारा यह कहना है कि हम उसे सजातीय विजातीयभेदशून्य तो मानते हैं, परन्तु आपके माने हुए अद्वैतब्रह्म के स्वरूपानुसार उसे स्वगतभेदशून्य नहीं माना जा सकता। कारण स्पष्ट है। “निर्यं विज्ञानमानन्द ब्रह्म” “संन्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” के अनुसार उसमें सत्ता-चेतना-आनन्द यह तीन पर्व स्वतः सिद्ध हैं। अस्ति (सत्ता), भाति (चेतना), प्रिय (आनन्द) यह तीन पर्व आपके ही माने हुए हैं। उस एक ब्रह्म का तीन तरह से भान हो रहा है। क्या भातिमूलक भेद अभेद का प्रतिबन्धक नहीं है? यदि हा तो इस विप्रतिपत्ति को हटाने का आप के पास क्या उपाय है? वही सत्तादृष्टि। उक्त विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए आप कहते हैं कि—“यद्यपि ब्रह्मतत्त्व सत्ता-चेतना-आनन्द रूप से तीन तरह से भासित होता है, परन्तु सत्ता तीनों की एक है। भातिभेद द्वैत का कारण नहीं है, अपि तु सत्ताभेद द्वैत का कारण है। ऐसी अवस्था में सत्ताभेदमूलक स्वगत-भेद का प्रकृत में समावेश नहीं हो सकता”। क्या यह उत्तर (हम नाम रूप को मानते हुए) नहीं दे सकते! अवश्य दे सकते हैं। बल की भाति होती है, सत्ता एक है। पूर्वोक्त बखोदाहरण पर ध्यान दीजिए। मन प्राण बना है, प्राण आकाश बना है, आकाश वायु, वायु अग्नि, अग्नि जल, जल मिट्टी, मिट्टी कषाम, कषाम रुई, रुई मूत, मूत कपड़ा, एव कपड़े से वस्त्र बना है। प्रतिसमचक्रण का आश्रय लेते हुए यदि आप ग्रन्थवचन तोड़ते जायेंगे तो उक्त सब पदार्थ आप एक ही वस्त्र में प्रत्यक्ष देख लेंगे। इन सब अनेक भातियों के रहने पर भी—“वाचाग्मभण विहारो नारायणं मृतिकेत्येव मत्पम्” के अनुसार पूर्णपूर्व कारण सत्ता ही उत्तरोत्तर कार्य में प्रतिष्ठित होती है। इस एक मराभावे से अनेक भातियों के (प्रतीतियों के) रहने पर भी

ब्रह्म एक कहलाता है । यही अवस्था यहाँ है । ब्रह्मत्व अनैक्य रूप में प्रतीत हो रहा है साथ ही में उपाधिभेद से सत्ताभाव का भी पार्थक्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु परमार्थतः सत्ता एक है । अतः नामरूपप्रवर्त्तक ब्रह्मपदार्थ को मानने से अद्वैततत्त्व में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती । ऐसी अवस्था में कल्पित अद्वैतवाद की गद्दा में वस्त्र होकर नामरूपात्मक विश्व को मिथ्या मानना सर्वथा मिथ्या है । “ अनृते दे तु मायिके ” “ ब्रह्म मयं जगन्मिथ्या ” यह प्रमाण किस शास्त्र के हैं, यह पता न लगा । सम्पूर्ण वेदवाङ्मय में गीता में, वेदान्तसूत्रों में कहीं भी विश्व को मिथ्या नहीं बतलाया है । विश्व को मायिक अवश्य बतलाया है, परन्तु माया-ब्रह्म मिथ्या है-यह किस आधार पर मान लिया गया, यह समझ में न आया । यदि आप बुरा न मान तो हमें यह कहलें कि भारतवर्ष का उन्नति का समूल विनाश यदि किसी ने किया है तो वह यही कल्पित जगन्मिथ्यावाद है । “संसार मिथ्या है-आत्मा सत्य है, सांसारिक कर्म बन्धन के कारण हैं” इन अनुचित एवं अशास्त्रीय भावनाओं ने कर्मण्य भारतवर्ष को सर्वथा अकर्मण्य बना डाला है । पाठकों को हम यह विश्वास दिलाते हैं कि आप के शास्त्रों में कहीं भी जगत् को मिथ्या नहीं बतलाया गया है, अपि तु वह विश्व को ब्रह्म की विभूति मान रहा है ।

‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ के अनुसार विश्व का मूलप्रभव ब्रह्म सत्ता चेतना-आनन्दलक्षण बनता हुआ ‘सत्य’ है । इधर— ब्रह्मैवन्द सर्वम्’ यह श्रुति सत्यब्रह्म के कार्यभूत विश्व को ‘ब्रह्म’ मान रही है । एक सत्यपूत महर्षि की कृति जब सत्य मानी जाती है तो सत्यमूर्ति ब्रह्म की कृतिरूप विश्व को कैसे मिथ्या माना जासकता है । कारण के गुण ही तो कार्य के आरम्भक (स्वरूपसम्पादक) बनते हैं । जब कारण सत्य है तो कार्य कैसे मिथ्या होसकता है । ‘अहं सर्वस्य पभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते’ (गीता १० अ. ८ श्लो.) के अनुसार सत्यमूर्ति अव्यय मे सारा विश्व बना है । अव्यक्त ब्रह्म ही व्यक्तरूप में आकर विश्व कहलाने लग गया है । ऐसा विश्व मिथ्या होगा—यह कौन विश्वास करेगा ! ममवाशो जीवलोके जीवभूतः मनाननः’ (गीता १५ अ. ७ श्लो.) ‘एकाशेन भ्रियतं सर्वम्’ ‘त्रिपादूर्ध्व उदैत पुरुषः पादो

स्येहाभवत् पुनः 'पुरुष एवेदं सर्वं यदभूत् यच्च माव्यम' 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' 'तपस्कं सन्नं विषा बहुधा यदन्नं' इत्यादि श्रुतिस्मृतिं जय स्पष्ट शब्दों में ब्रह्मकायनावाद को पुष्ट करती हुई विश्व को ब्रह्म की विभूति मान रही हैं तो ऐसी अवस्था में विश्व को मिथ्या मानना क्या निर्ग कल्पना नहीं है। अपि च सृष्टि होती है प्रजापति से। प्रजापति को सृष्टिकामना से तपश्चर्या करना पड़ती है। उसकी चिरकाल की तपश्चर्या से विश्व उत्पन्न हुआ है, जैसा कि - 'प्रजापतिरा इदमग्र एक-आसीत् । मोऽकामयत् बहुम्या-स्पजायेय, भूमान गच्छेय, स तपोऽतप्यत्' । जे० उ० १।४६।१) इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। साधारण मनुष्य परिश्रम करके यदि किसी वस्तु का निर्माण करता है तो लोक में उस का आदर होता है। ऐसी स्थिति में जगन्नियन्ता ने तपश्चर्या से जिस विश्व का निर्माण किया उस एक हेला से मिथ्या बतला देना सचमुच अपराध है, अपराध ही नहीं अत्यन्त अपराध है। अपिच—'अहं ब्रह्मास्मि' 'योऽहमोऽसौ' इत्यादि रूप से उपनिषद्भूति 'अहं' पदार्थ को 'ब्रह्म' मानती हैं। 'उभयं हैतदग्र प्रजापतिरगम-मन्यं चैवापृतञ्च' (शत १०। का. ११ अ. १४ ब्रा. १ क.) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति उस अहं प्रजापति को असूत-मृत्युमय मान रही है। श्रौती उपनिषत् के आचार पर चलनेवाला स्मार्ती उपनिषत् (गीता) 'अमृतं च यम-युश्च सद-सच्चाहमर्जुन' इत्यादि रूपसे स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म को उभयधर्मावच्छिन्न बतला रही है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म के मृत्युप्रधान विश्व को मिथ्या मानना माहम नहीं तो और क्या है। जिस नामरूपमय विश्व को आप मिथ्या मान रहे हैं, देखिये श्रुति उसी के लिए अपने क्या विचार प्रकट करती है—

"अयं वाऽहं नाम रूप कर्म । तेषां नाम्ना वा गिन्यते देषामुक्तम् । अतो हि सर्वाणि नामान्युनिष्ठानि । एतदेषां साम, एतद्भि सर्वनामभिः समम् । एतदेषां ब्रह्म, एतद्भि सर्वाणि नामानि विभक्ति । अथ रूपाणां चक्षुः । अथ कर्मणां पाप्मा (शरीरम्) । एतदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा । आत्मा—उ एकः सन्नेन न त्रयम् । तदेतदमृतं

मन्येन छन्नम् । प्राणो वाऽअमृतम् । “नामरूपे सत्यम्” । ताभ्या-
मप प्राणश्छन्नः” —

(शत. १४ का० । ३ प्र० । ४ अ० । ४ ब्रा०) इति ।

जिसप्रकार हमने स्पष्ट शब्दों में ‘नामरूपे सत्यम्’ इस रूपसे स्वयं वेद में नाम रूपा-
मक विश्व की सत्यता बतलाई है, क्या विश्व को मिथ्या सिद्ध करने वाला कोई वाक्य आप
बतला सकेंगे ? नहीं तो क्यों आपके काल्पनिक मत का आदर किया जाय । ‘असत्यम-
प्रतिष्ठ ते जगदाहुर्नाश्वरम्’ के अनुसार क्यों नहीं आपको ‘अनाश्वरवाद’ माना जाय ।
रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार क्यों नहीं आपको ‘पञ्छन्नबौद्ध’ कहा जाय । समस्या बड़ी
जटिल है । आज जगन्मिथ्यात्ववाद पर प्रायः सभी विद्वानों का दृढ़ अभिनिवेश है । उनके
इस मन्तव्य के विरोध में कुछ भी कहना आपत्ति को निमन्त्रण देना है । फिर भी सत्य
मिद्धान्त सत्य ही रहेगा । ऊपर की पङ्क्तियों में केवल दोष प्रकट कर देना दूसरी बात है,
एवं शास्त्रीय विचार में निर्णय पर पहुँचना दूसरी बात है । हम आज स्पष्ट शब्दों में आर्या-
वर्त के सभी विद्वानों को यह बतला देना चाहते हैं कि जगन्मिथ्यात्ववाद अशास्त्रीय है ।
‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या’ वाक्य का शास्त्र में कोई सम्बन्ध नहीं है । प्रस्थानत्रयी का कोई
भी वाक्य जगत को मिथ्या नहीं बतला रहा । विश्व के लिए ‘अमृत’ शब्द अवश्य आया है ।
परन्तु इस अमृत शब्द का अर्थ भी मिथ्या नहीं है, जैसा कि विचार उपस्थित होने पर प्रकट
होगा । नीरक्षीगविवेकियों के सम्मुख कुछ एक वचन उपस्थित कर दिये जाते हैं । यह
वचन विश्व ईश्वर की कृति है—ईश्वर ही अपने अंशरूप में विश्व बना है । अतः
तदंशभूत विश्व तद्रूप ही है’ इस मिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हैं । विद्वानों का यह
कर्तव्य होना चाहिए कि वे इन वचनों का समन्वय कर चिरकाल से चली आने वाली
जगन्मिथ्यात्वविषयिणी मिथ्या भ्रान्ति का निराकरण कर देश को निष्काम कर्मयोग में
प्रवृत्त करें ।

- १—“ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहित गुहायाम् ” (तै० उ० १) ।
- २—“ स एवाधस्तात्, स उपरिष्ठात्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स उत्तरतः, स एवेद सर्वम्—(ब्रह्मवेद सर्वम्) ” (छा. उ. ७।२५।१) ।
- ३—“ पुरुष एवेद सर्वम्—यद्भूत यच्च भव्यम् ” (यजु सं० ३। अ० १२ म०) ।
- ४—“ एक वा इदं विबभूव सर्वम् ”
- ५—“ प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव ” (यजु. १०।२०) ।
- ६—“ एक सदिप्रा बहुधा वदन्यमि यम मातरश्चानमाहुः ” (ऋ.सं. १।६४।४६) ।
- ७—“ ब्रह्म वन ब्रह्म स वृक्ष आसीत्, यतो द्यावापृथिवी निष्ठनत्. ” (तै.ब्र. २।८।१।६) ।
- ८—“ तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तमिल्लोका श्रिताः सर्वे ” (कठ. २।६।१) ।
- ९—“ यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ” (श्वेता. उप. ३।४) ।
- १०—“ षोडशकल प्रजापतिः ” (शत० ७।२।१७) ।
- ११—“ एष ह प्रजानां प्रजापतिर्यद्विजिजित् ” (गो० पू ५।१०) ।
- १२—“ प्रजापति ह्येवेदं सर्वमनु प्रजायते ” (श० ४।५।५।१३) ।
- १३—“ प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् । तेषां तप्यमानानां रमान् प्रावृत्—अग्निं पृथिव्या, वायुमन्तरिक्षात्, आदित्यं दिवः ” (छा० उ० ४।१७।१) ।
- १४—“ प्रजापतैर्व विश्वकर्मा ” (श० ७।४।२।५) ।
- १५—“ इमे लोकाः प्रजापतिः ” (श० ७।५।१।७) ।
- १६—“ द्यावापृथिवी हि प्रजापतिः ” (श० ५।१।५।२६) ।
- १७—“ सं बाहुभ्या धमति सम्पतन्त्रैर्धावाभूमी जनयन् देव एकः ” (ऋक् १०।८।१३) ।
- १८—“ सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः ” (श० ५।१।१।४) ।
- १९—“ त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ” (यजुः ३।१४) ।
- २०—“ प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च ” (.....)
- २१—“ य एको जातवर्नाशत ईशनीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः ” (श्वे. उ. ३।१) ।

- २२-“क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः” (खे० १।१०) ।
- २३-“य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति”
(खे० ४।१) ।
- २४-“अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते” (गी० पृ० ८) ।
- २५-“ममैवाशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः” (गी०) ।
- २६-“मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनेजय” (गी० ७।७) ।
- २७-“विष्टभ्याहमिदं कृस्नमेकाशेन स्थितो जगत्” (गी० १०।४२) ।
- २८-“नामरूपे सत्यम्” (श० १४ कां० ३।४) ।
- २९-“ऐतदाभ्यमिदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा” (छां० उ० ५।८।७) ।
- ३०-“तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्ने-
रपः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नं, अन्नादेतः, रेतसः पुरुषः ।
स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । + + + + + अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते याः काश्च
पृथिवी श्रिताः । सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति, येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नं हि भूतानां
ज्येष्ठम्” (तै० उ० १।१-२-३) ।
- ३१-“यद्वै किञ्च प्राणि स प्रजापतिः” (शत० ११।६।३।) ।
- ३२-“मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः” (वृ० आ० ५ अ० ६ ब्रा०) ।
- ३३-“अन्नमय हि सोम्य मनः” (छां० उ० ६।७।१) ।
- ३४-“षोडशकलः सोम्य पुरुषः” (छां० उ० ६।७।१) ।
- ३५-“रूपं वै प्रजापतिः + + + । नामं वै प्रजापतिः” (तै० ब्रा० २।२।७।१) ।
- ३६-“प्रजापतिः प्रजा असृजत । स ऊर्ध्वेभ्य एव प्राणेभ्यो देवानसृजत, येऽवाश्चप्राणा-
स्तेभ्यो मर्त्याः प्रजाः + + + तस्य ह प्रजापतेरर्धमेव मर्त्यमासीदर्द्धमममृतम्”
(शत० १८।१।२।१-२-३) ।
- ३७-“स आस्येनैव देवानसृजत, तस्मै स ससृजानाय दिवेवास । अथ योऽयमवाङ्प्राणः,
तेनासुरानसृजत । तस्मै ससृजानाय तम इवास” शत० ११।१।६।७-८।) ।
- ३८-“एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः
स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ (खे० उ० २।१६।) ।

उक्त सत्यमीमांसा से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि रस बलरूप विद्या-कर्म दोनों आत्मा के स्वरूपधर्म हैं । अभिन्नसत्ताभाव के कारण दोनों एकतत्त्व हैं । विद्याभाग स्थितिमूर्ति होने से सर्वथा कम्प रहित है । इसी विद्याभाग को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने 'अनेजत्' कहा है । कर्मभाग गतिरूप होने से 'एजत्' है । इन दोनों विरुद्धभावों से द्वैत का भ्रम न होजाय, अतः एकत्वव्यवहारमूलक उसी सत्तातत्त्व की ओर लक्ष्य रख कर श्रुति ने 'एकम्' कहा है । अनेजत्-और एजत् दोनों उस एक के उदर में समाविष्ट हैं । मध्यस्थ 'एकम्' दोनों का सम्बन्ध सूत्र है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर "अनेजत्—एकम्—मनसो जयीयः" यह कर्म रखा गया है । इस प्रकार स्पष्ट ही इस मन्त्र का विद्याकर्ममयाव्ययप्रतिपादकत्वं सिद्ध होजाता है । यदि इस मन्त्र में 'तस्मिन्नापो मातरिश्वा दधाति' यह वाक्य न होता तो अवश्यमेव प्रथम प्रकरणवत् यह द्वितीय प्रकरण भी विशेषोपहित (वेदोपहित) शुद्ध अव्यय का ही निरूपक मान लिया जाता । परन्तु उक्त चतुर्थ चरण ही उस के वेदयुक्त सौगधिक भाव की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है ।

उस स्थितिगतिमत विलक्षण तत्त्व में मातरिश्वा नाम का तत्त्व विशेष अप् का आधान करता है । आधान का अर्थ है आह्विति । एक आलम्बन पर दूसरी वस्तु का रक्खा जाना ही आह्विति किंवा आधान है । वैदिक परिभाषानुसार जिस आलम्बन पर वस्तु का आधान होता है, जिस पर वस्तु आहित होती है, वह अन्ता (भोक्ता) बनता हुआ 'अन्नाद' नाम से व्यवहृत होता है, एवं आहित होनेवाला पदार्थ 'आहुनि' कहलाता है । आह्विति शब्द ही परोक्षभाषा में आहुति है । यही अन्न है । उदर अन्नाद है, वहां आहित अन्न अन्न है । दोनों का समन्वित-रूप ही यज्ञ कहलाता है । उदाहरणार्थ सूर्य अन्नाद है, उस पर आहित, अतएव आह्विति नाम से प्रसिद्ध चन्द्रमा (सोम) आहुति है । यही प्राकृतिक (आधिदैविक) नित्ययज्ञ है । इसी आधानात्मक यज्ञ का स्वरूप बतलानी हुई श्रुति कहती है—

'स वै यः सोऽन्नाग्निरेव सः । तस्मिन् यत्किञ्चाभ्यादधति—आहितय
एवाभ्य नाः । आहितयो वै ना आहुतय इत्याचक्षते परोक्षम् । आदित्यो

वा अत्ता, तस्य चन्द्रमा (सोमः) एवाहितयः , चन्द्रपसं ह्यादित्ये आदधति”
(शत० १०।६।३।१-२)

प्रकृत मन्त्रभाग यही यज्ञक्रम बतला रहा है । प्राचीन भाष्य के अनुसार अप् का अर्थ है कर्म, मातरिश्वा का अर्थ है सूत्रवायु । सूत्रवायु उस अनेजदेजत् नाम के परमात्मतत्त्व में कर्म का आधान करता है । वैज्ञानिकदृष्टि से अप् आहुति द्रव्य है, मातरिश्वा भी एक स्वतन्त्र तत्त्व है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा । इस अवाहुति से वह अव्ययपुरुष यज्ञ-पुरुषरूप में परिणत होजाता है । पुरुष जवतक यज्ञ का आश्रय नहीं लेता, तबतक प्रजोत्पत्ति नहीं होसकती । कारण ‘सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा ’ (गी. ३।१०) के अनुसार प्रजा-सृष्टि का मूल उपक्रम यज्ञ प्रजापति ही है ।

अप् की आहुति होती है, इससे यज्ञस्वरूप निष्पन्न होता है । उधर हमारा शुद्ध अव्यय-पुरुष भोक्तृभोग्यलक्षण अन्नअनादात्मक यज्ञ से सर्वथा बहिर्भूत है । क्योंकि यज्ञ का पहिला मूल आपोमय परमेष्ठी है । आप्मे ही यज्ञ होता है । यज्ञमूर्ति परमेष्ठी का अप् नाम का पुरंजन प्राणमय वेदपुरंजन से उत्पन्न होता है । स्वयम्भू का प्राण ही ‘ब्रह्मनिश्चसित’ वेद है । ‘सोऽपोऽसृजन वाच एव लोकान्’ के अनुसार इसी वेदवाक् से पानी उत्पन्न होता है । ऐसी अवस्था में वेद ही तब अप् तत्त्व का विकाश हो, अप् हो तब मातरिश्वा द्वारा उस अव्ययब्रह्म पर अप् का आधान हो । अतः मानना पड़ता है कि मन्त्रगत अव्यय ब्रह्म वेदमय ही है । वेदमूर्ति अव्यय पर ही अवाहुति सभव है । वेदमय अव्ययब्रह्म ही, दूसरे शब्दों में अव्ययावच्छिन्न वेद ही इस मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । अव्यय स्वयं विद्याकर्ममय है । अतएव इस के आत्मत्तर के पञ्चीकृत प्राणभाग से प्रकट होनेवाला वेद भी अवश्य ही विद्याकर्ममय है । वेद में जो विद्या-कर्म का भाग है, वह अव्यय के विद्या-कर्म का ही अनुग्रह है । वेद क्या पदार्थ है ? वह अपौरुषेय है, अथवा पौरुषेय ? आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है । इन सब विषयों का विवेचन भाष्यभूमिका में किया जाचुका है । अतः प्रकृत में मन्त्रार्थ से सम्बन्ध रखने वाले वेदपदार्थ का ही स्वरूप पाठकों के सामने रखा जाता है ।

इति-विषयोपक्रमः



मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-त्रयीवेदानिरुक्तिः —



दार्थज्ञान का साधक तत्त्व वेद है । " अयं घटः " " अयं पटः " इत्यादि रूप से जिसके द्वारा पदार्थ की उपलब्धि होती है, वह उपब्धि ही वेद है । जैसा कि पूर्व की वेदानिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जा चुका है । वेद का जन्म कृष्ण आविर्भाव आत्मक्षेत्र में होता है । आत्मक्षेत्र की (मर्त्य) ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम यह पांच कलाएँ हैं । सृष्टिनिर्माण करना ब्रह्मा का काम है ।

परन्तु जब तक यह ब्रह्मतत्त्व प्राणमय वेदक्षेत्र को अपनी प्रतिष्ठा नहीं बना लेता, तब तक यह सृष्टिनिर्माण में सर्वथा अममर्य रहता है । सृष्टिनिर्माता है ब्रह्मा, परन्तु साधन (उपादान) है वेद । अनन्व मन की इच्छा से ब्रह्मा से सर्व प्रथम वेद का ही प्रादुर्भाव होता है । उस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मा विश्व निर्माण करता है, जैसा कि पूर्व की विश्वनिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जा चुका है ।

वेदग्रन्थों के भक्तों को यह सुविदित है कि वेदतत्त्व ऋक्, यजुः, साम, अथर्व वेद से चार भागों में विभक्त है । चतुर्धा विभक्त वेदतत्त्व विज्ञानदृष्टि से अग्नि-सोम वेद से दो भागों में विभक्त है । अग्निवेद पहिला वेद है, सोमवेद दूसरा वेद है । वह तत्त्व जो दाहक होता हुआ केन्द्र से निकलकर विविध अवस्थाओं में परिणत होता हुआ, उत्तरोत्तर विशकलित होता रहता है, वही अग्रगामी होने से 'अग्नि' कहलाता है । आगे चलना, आगे बढ़ना इसका स्वाभाविक धर्म है । परोक्षभाषानुसार यह अग्नितत्त्व ही 'अग्नि' नाम से व्यवहृत होता है— (देखिए शत० ६ कां०। प्र०। १ अ। १ ब्रा०। ११ क०) । वह तत्त्व जो दाह्य होता हुआ प्रधि (परिधि) से केन्द्र की ओर आता हुआ प्रधि की ओर जाते हुए दाहक अग्नि में आहुत होकर अग्नि

* अग्निः कस्मात् अप्रणीर्भवति, अग्नं यज्ञेषु प्रणीयते, अन्नं नयति सन्नममानः, न वनोपयति, न स्तेष्यति"

[या० नि० ५ अ० दे० का० १-४-५] ।

को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखता है, वही सुत (आहुत) होने से 'मृत्यु' इस निर्वचन के अनु-
सार सोम नाम से प्रसिद्ध है । सोम स्नेहतत्त्व है, अग्नि तेजतत्त्व है । स्नेहतत्त्व की प्रतिष्ठा स्थि-
तितत्त्व है, तेजतत्त्व की प्रतिष्ठा गतितत्त्व है । स्थिति-गति ही आगे जाकर स्नेह-तेज रूप में
परिणत होजाती है । प्रत्येक पदार्थ स्थिति-गति-स्नेह-तेज इन चारों की ममष्टिमात्र है, जैसा
कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा । ससार में आप जितनी भी मूर्ति देख रहे हैं, वे सब
अग्निमयी हैं । अग्नि ही मूर्ति का निराण करता है । दूसरे शब्दों में अग्नि ही वस्तु का
स्वरूप है । वस्तु (पदार्थ) 'गुणकृतो द्रव्यम्' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार कर्म का पुद्-
गल है । यह कर्म कर्म एव क्रिया भेद में दो भागों में विभक्त है । एक एक क्रिया क्रिया कह-
जाती है, ऐसी अनेक क्रियाओं की समाष्टि 'कर्म' नाम से व्यवहृत होता है । अनेक क्रियाओं
के मयात से एक कर्म (काम) पूरा होता है । उदाहरणार्थ भोजन निर्माण एक कर्म है ।
इस कर्म की सिद्धि के लिए ईशान अग्नि-पानी-आय-नमक-हृन्कार आदि अनन्त क्रियाएँ
करनी पड़ती हैं । 'रमोऽर्धं तैः गार्होऽर्धं' यह एक कर्म संपन्न होगया । इस कर्ममपत्ति के
लिये तदवयवभूत अवान्तर कितने ही कर्म करने पड़े । इस महाकर्म सिद्धि के लिए क्रियमाण
अवान्तर कर्म क्रिया नामसे, एव अवान्तर कर्मों से निष्पन्न कम कर्म नाम से व्यवहृत किया
जाता है । एक ही काम की दो अवस्थाएँ होजाती हैं । इसी क्रियासतानरहस्य को लक्ष्य
में रख कर अभियुक्त कहते हैं—

गुणभूतैर्गवर्गैर्न ममूहः कण्ठजन्मनाम् ।

बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ वाक्यपदी)

कर्म की क्रिया अवस्था लोभयुक्ता है, कर्मावस्था शान्तवत् है । हल-चल क्रिया है ।
स्थिति कर्म है । स्वस्थान पर स्थिर रहते हुए चलना हिलना है, इसे ही कम्पन कहते हैं ।
स्वदेश का परित्याग करते हुए आगे बढ़ना चलना है, यही गति है । इस प्रकार क्रियाभाव
कम्पन-ओर गति दो भावोंमें परिणत रहता है । इसी अभिप्राय से इस का 'हल-चल' शब्द से
अभिनय किया जाता है । कहना यह है कि वस्तुमात्र में एक स्थिरभाव है, एक चलभाव है ।

निरन्तर उस पदार्थ में से उसके परमाणु निकला करने हैं, इसी (परमाणुविनिर्गमा) अवस्था का नाम क्रिया है । वस्तुपिण्ड कर्म है । शरीर पर दृष्टि डालिये । शरीर अग्निपिण्ड है । आप शरीर को जहा लूते हैं, गरम पाते हैं । यह अग्नि के प्रत्यक्ष दर्शन हैं । इस अग्निमूर्ति शरीर से प्राणाग्नि का निरन्तर विस्रसन होता रहता है । इन्द्रियजन्य परिश्रम, रोकूप आदि से प्राणाग्नि खर्च होता रहता है । इसी कमी को पूरा करने के लिये सायं प्रातः अन्नाहुति (भोजन) की आवश्यकता होती है । शरीरपिण्ड अग्निमय है, जो वस्तु खर्च हो रही है वह भी अग्नि है । इस प्रकार पिण्डरूप कर्म विस्रसनलक्षण क्रिया दोनों का अग्निमयत्व सिद्ध होजाता है । वस्तुपिण्ड कर्म है, यह भी अग्नि है । वस्तुपिण्ड में होने वाला व्यापार क्रिया है, यह भी अग्नि ही है । इस प्रकार संसार में जितने भी कर्म हैं, उन सब का अग्निमयत्व मान लेना पड़ता है । अग्नि की इसी कर्मव्यापकता को लक्ष्य में रखकर “विद्वानि (सर्वाणि) कर्मण्यग्नयमग्निः” (शत० ब्रा० १ का० । ५ अ० । १ ब्रा० । ४२ क०) यह कहा जाता है । हम अमुक वस्तु देख रहे हैं, इस वाक्य का ‘देखना’ कर्म से ही तो सम्बन्ध रहता है । परिवर्तनरूपक्रिया, एवं पुद्गलावस्थापन्न कर्म (वस्तुपिण्ड) ही तो दृष्टि के विषय बनते हैं । दृष्टि विषयक सारे कर्म अग्नि रूप हैं, दूसरे शब्दों में इन कर्मों का प्रवर्तक, किंवा स्वरूप सम्पादक अग्नि ही है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर निघ्नन्धु (निघ्नन्धु) शास्त्र कहता है—

“यच्च किञ्चिदार्ष्टिविषयकमग्निकर्मैव तत्” (या० नि० दे० का० ७।८।३)

सर्वकर्मप्रवर्तक, सर्वकर्ममूर्ति इस अग्नि की प्राण-भूत भेद से दो अवस्थाएँ हैं । प्राणाग्नि अमृताग्नि है, यही देवता है । भूताग्नि मर्याग्नि है, यही भूत है । वस्तुपिण्ड भौतिकाग्नि है, पिण्डगत निराकार प्राणाग्नि देवता है । प्राणाग्नि क्रिया है भूताग्नि कर्म है । इस प्रकार संसार के सारे भूत, एवं संपूर्ण देवता “सर्वाणि वाऽएष भूतानि, सर्वान् देवान् गर्भी विभक्ति, योऽग्निं विभक्ति” (शत० ब्रा० १ का० । ५ अ० । १ ब्रा० । ६२ क०) के अनुसार अग्निमय ही है । इस अन्नादाग्नि की सत्ता सोमाहुति पर निर्भर है । जब तक सोमाहुति होती रहती है तभी तक अग्नि स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है । भूताग्निमय प्राणाग्नि ही मूर्तिरूपमें परिणत हुआ है । परन्तु विश्वास कीजिए जब तक इस में सोम की आहुति नहीं होगी, तब तक वह

मूर्ति कभी प्रतिष्ठित न रहेगी । कारण—अग्नि तेजोमय होता हुआ विशकलनधर्मा है । वह ठहरना जानता ही नहीं । उसमें निरन्तर गति होती रहती है । वह मूर्ति का निर्माण नहीं करता, अपि तु उस के स्वरूप को विशकलित करता है । परन्तु स्नेहगुणक सोम इस में आहुत होकर इस की विशकलनशक्ति का स्तम्भन कर देता है । इस सोमसम्बन्ध से अग्नि को बाध्य होकर मूर्तिरूप में परिणत रहना पड़ता है । यह सोम अग्नि में आहुत होकर अग्निमय बनकर ही मूर्ति सत्ता का कारण बनता है, इसी आधार पर अग्नि को मूर्ति का अधिष्ठाता मानलिया जाता है । परन्तु वस्तुतः यह मूर्तिभाव सोम की कृपा पर ही निर्भर है । जिस प्रकार अग्नि 'प्राण' कहा जाता है, एवमेव सोमतत्त्व 'रयि' नाम से व्यवहृत होता है । रयि (सोम) ही मूर्ति बनता है, इसी आधार पर—'तस्मान्मूर्तिर्नैव रयिः' (प्रश्नोपनिषत् १ प्र० ५ क०) यह कहा जाता है । सोमतत्त्व आहुति द्रव्य है, अत एव भोक्ता अग्नि की अपेक्षा इसका स्थान (दर्जा) नीचा माना जाता है । यह सब कुछ होते हुए भी सोम अग्नि का अभिन्न मित्र है, अन्तरंग सखा है । अपने छोटे दर्जे के इसी सोम सखा के कारण प्रज्वलित होकर यह अग्नि ही वेदत्रयी का प्रभव बनता है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।

अग्निर्जागार तपयं सोम आह तवाहमग्निं सख्ये न्योकाः ॥

(ऋक् सं० ५।४४।१५)

उक्त अग्नि-सोम के निरूपण से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि सम्पूर्ण भौतिक विश्व में अग्नि-सोम का साम्राज्य है, जैसा कि 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादि से स्पष्ट है । स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि विश्व के पांच पर्व हैं । पांचों में स्वयम्भू सत्याग्निमय, सूर्य देवाग्निमय, पृथिवी भूताग्निमयी है । परमेष्ठी और चन्द्रमा सोममय हैं, जैसा कि शुक्निरुक्ति में विस्तार से बतलाया जा चुका है । इस दृष्टि से भी विश्व का अग्निसोममयत्व सिद्ध होजाता है । इनमें अग्नि-वेद वेदत्रयी है, सोमवेद चौथा अथर्ववेद है । अग्नि की अग्नि-वायु-आदित्य यह तीन अवस्थाएं हैं, अतएव अग्निवेद ऋक्-यजुः-साम भेद में तीन भागों में विभक्त होजाता है ।

सोमत्व दिक् सोम (निगयन सोम) भास्वर सोम (सायन सोम) वेद से दो भागों में विभक्त है। अतएव सोमवेद—योगाङ्गिरा अथर्वाङ्गिरा वेद से दो भागों में विभक्त होजाता है। दोनों की समष्टि अथर्ववेद है। त्रयीवेद की प्रतिष्ठा अग्निमूर्ति ब्रह्मा है, दूसरे शब्दों में त्रयीवेद पिता पर प्रतिष्ठित है, एवं सोमवेद ब्रह्मा के ज्येष्ठपुत्र अथर्वा पर प्रतिष्ठित है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। सोमवेद को थोड़ी देर के लिये छोड़ दीजिये, अग्नि वेद पर दृष्टि डालिए।

यह अग्निवेद आत्मा प्रतिष्ठा, ज्योति, वेद से तीन भागों में विभक्त है। आत्मवेद यजुर्वेद है प्रतिष्ठ वेद ऋग्वेद है एवं ज्योतिर्वेद सामवेद है। यह तीनों ही वेद पूर्वप्रतिपादित मन—प्राण—वाक् के त्रिवृत्करण में त्रयीभाव से युक्त है। तीनों में से सर्वप्रथम सर्व प्रधान आत्मरूप यजुर्वेद को ही लीजिए।

१-आत्मवेदः (यजुर्वेदः- ऋग्यजुःसाममयः)

‘स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः’ के अनुसार आत्मा मन-प्राण-वाङ्मय है। इसी का नाम विद्यार्गमन अव्ययात्मा (कर्मात्मा) है। आत्मा की इन तीनों कलाओं में क्रमशः रूप-कर्म-नाम इन तीन मर्थ कलाओं का उदय होता है। मन रूपमात्र का उक्त्य है। मन ही विषयरूपाकाराकारित बनता है। दूसरे शब्दों में भारे रूप मन से ही उठते हैं, अतएव हम मन को रूपों का उक्त्य (प्रभवस्थान) मानने के लिए तैयार हैं। मन ही रूपों को धारण करता है विषयाकार मन पर ही प्रतिष्ठित रहता है अतएव इसे सब रूपों का ब्रह्म (विभिर्नि रूपाणि) कहा जासकता है। अक्ष-मनुष्य-घट-पट आदि सब के रूप परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं। परन्तु उन भिन्नो में मन अभिन्न रूप से व्याप्त है, सब रूपों में समान ह, सम ह, अब मनको ही रूपों का साम (प्रवसानभूमि) कहा जासकता ह। इस प्रकार ‘यतो उत्तिष्ठन्ति सर्वाणि रूपाणि, विभिर्नि यत् सर्वाणि रूपाणि, स यत् सर्वेषु भूतेषु’ इस निर्वचन प्रक्रिया के अनुसार हम आत्मा की मनोकला को रूपों का उक्त्य-ब्रह्म-साम लक्षण आत्मा मानने के लिए तैयार हैं। इसी प्रकार आत्मा की प्राणकला कर्मों की उक्त्य

ब्रह्म-साम है, वाक्कला नामों का उक्थ-ब्रह्म-साम है। नाम-रूप-कर्म भेद से वह एक आत्मतत्त्व तीन भागों में विभक्त हो रहा है। तीनों मिलकर एक आत्मा है। इस आत्मा की मनो-कला में उक्थभाव प्रधान है, ब्रह्म-साम भाव गौण हैं, प्राणकला में ब्रह्मभाव की प्रधानता है, उक्थ-साम गौण हैं, एवं वाक्कला में साम की प्रधानता है, उक्थ ब्रह्म गौण हैं। इस गौणमुख्य भाव के कारण तद्वादऽन्याय से हम मन को उक्थ कहसकते हैं, प्राण को ब्रह्म कहसकते हैं, एवं वाक् को साम कहसकते हैं। यह उक्थ ऋक् है, ब्रह्म यजु है, साम साम है। इस प्रकार उक्थ-ब्रह्म-साम भेद से आत्मरूप यजुर्वेद में तीनों वेदों का समन्वय होजाता है।

१—प्रतिष्ठावेदः (ऋग्वेदः—ऋग्यजुःसाममयः)

दूसरा है प्रतिष्ठावेद। इसीका नाम ऋग्वेद है। यह प्रतिष्ठातत्त्व आत्मधृति, असतोधृति, सतोधृति भेद से तीन भागों में विभक्त है। मन-प्राण-वाक् की अव्याकृतावस्था का नाम-सत्ता है, यही आत्मा है। प्रत्येक वस्तु पर इस आत्मलक्षण सत्ताब्रह्म का अनुग्रह है। प्रत्येक वस्तु अतिभावा न है। सूर्य स्वरूप से विद्यमान है, पृथ्वी है, हम हैं, इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ का पदार्थत्व सुखित रखने वाला जो अतिभाव है-स्वसत्ता है, इसी का नाम 'आत्मधृति' (आत्म प्रतिष्ठा-आत्मसत्ता) है। हम (प्रत्येक पदार्थ) मन को धारण करते हैं, प्राण को, एवं वाक् को धारण करते हैं। इसी धृति से हम हैं। 'अहमस्मि' (मैं हूँ) यही तो आत्मधृति किंवा-स्वधृति है।

जो वस्तु सत्ताशून्य होती है वह अन्य सत्ता के अनुग्रह से सत्तावत् बन जाती है। उदाहरणार्थ-घट पहले न था, वह असत् था, नास्ति रूप था, अभाव के गर्भ में विलीन था। कुम्भकार मिट्टी में कुलल द्वारा अपने मनप्राणवाङ्मय आत्मा के आधार पर हस्तप्रयोग से बल डालता है। कुम्भकार के बौद्धजगत् में प्रतिष्ठित, अतएव तदाकाराकारित (घटाकारा-कारित) मन प्राण वाक् की सहायता से दण्ड-चक्र-चीवरादि साधनों द्वारा वह असत् घट

मृत्तिका में स्थित सत्ता को ग्रहण कर सत्तायुक्त बन जाता है । घट में जो सत्ता है, वह मिट्टी से आई हुई है । असत् घट मृत्सत्ता से सत् बन रहा है । इसी सत्ता की अपेक्षा से 'घट उत्पन्न हुआ' यह व्यवहार होता है । अपूर्वसत्ताधारण को ही 'जन्म' कहा जाता है । उत्पन्न वस्तु अपनी प्रकृति (उत्पादक) में ही प्रतिष्ठित रहती है । अतएव इस प्रकृतिसत्ता को 'असतो धृति' कहा जाता है जैसा कि—'वाचास्मभ्य विचारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सन्यम्' इत्यादि से स्पष्ट है । स्वस्वरूप से हम आत्मधृति रूप हैं, एव शरीर असतो धृति रूप है । जीवात्मसत्तारूप आत्मधृति से असत् शरीर सत्तायुक्त बन रहा है । यही दूसरी प्रतिष्ठा है ।

तीसरी सतोधृति है । जल भी सत् है, घट भी सत् है । सत् घट में सत् जल भरा हुआ है, यही सतोधृति है । हम भूषुष्ट पर प्रतिष्ठित हैं, पुस्तक मेज पर रखी है । अस्तियुक्त पदार्थ स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित रहते हुए अन्य प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं । महाप्राण अल्प-प्राण की प्रतिष्ठा है । अनाद अन्न की प्रतिष्ठा है । शरीर वस्त्र की प्रतिष्ठा है । हमारे प्रतिष्ठा घर है, घर की प्रतिष्ठा भूषिण्ड है, भूषिण्ड की प्रतिष्ठा पानी है, पानी की प्रतिष्ठा अग्नि है अग्नि कि प्रतिष्ठा वायु है, वायु की प्रतिष्ठा आकाश है, आकाश की प्रतिष्ठा सौम्यप्राण है, प्राण की प्रतिष्ठा मन है, मन की प्रतिष्ठा विज्ञान है आनन्द मन्त्र की प्रतिष्ठा है । इस प्रकार यह प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर के सद्भावों को अपने में प्रतिष्ठित रखती है । अतएव हम इसे 'सतोधृति' कहने के लिये तय्यार हैं । इसी को परप्रतिष्ठा भी कहा जा सकता है । यही तीसरी प्रतिष्ठा है ।

पुरुषप्रतिष्ठा आत्मधृति है, प्रकृतिप्रतिष्ठा असतोधृति है, एव विकृतिप्रतिष्ठा सतोधृति है । पुरुष ही प्रकृति है, प्रकृति ही व्यक्तावस्था में आकर विकृति कहलाने लगती है । फलतः उक्त तीनों प्रतिष्ठाओं का अन्ततोगत्वा—'आत्मविधृति' (आत्मप्रतिष्ठा) पर ही पर्यवसान सिद्ध हो जाता है । तीनों प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा हैं । प्रतिष्ठातत्त्व 'ब्रह्म' है । ब्रह्मतत्त्व प्राण है, जैसा कि पूर्व के आत्मवेद में बतलाया जा चुका है । यह वही प्राण है जो सप्तपुरुषपुरुषात्मक ब्रह्मप्रजापति के

तप से प्रकट होता है । “ब्रह्म व सर्वस्य प्रथमजम्” “ब्रह्म वे सर्वस्य प्रतिष्ठा” के अनुसार ब्रह्माक्षर से समुद्भूत यह प्राणप्रतिष्ठा साक्षात् वेद है । जिसे अप्रकृतिक अक्षर विष्णु से उत्पन्न होनेवाले भाव लोक कहलाते हैं, एवमेव प्राणप्रकृतिक ब्रह्माक्षर से प्रसूत प्रतिष्ठाभाव वेद नाम से प्रसिद्ध हैं । पूर्वप्रतिपादित इन तीनों धृतियों में आत्मधृति ऋग्वेद है । क्योंकि आगे की सारी प्रतिष्ठाएँ आत्मप्रतिष्ठा पर ही प्रतिष्ठित रहनी हैं । असतोधृति-सतोधृति दोनों का आधार आत्मप्रतिष्ठा है । यजु-आर साम ऋक् पर प्रतिष्ठित रहते हैं । अतएव सर्वप्रतिष्ठारूप इस आत्मप्रतिष्ठा को हम अवश्य ही ऋग्वेद कह सकते हैं । प्रस्ताव ऋग्वेद है, ऋक् ही उपक्रम है । आत्मप्रतिष्ठा ही इतर प्रतिष्ठाओं का प्रस्ताव (उपक्रम) स्थान है । असतोधृति यजुर्वेद है । कार्य में कारण सत्ता का योग हो जाना ही असतोधृति है । कारणसत्ता कार्य में आहुत हो जाती है । दोनों का यजन होता है । अतः ‘यजनान्’ से इस असतोधृति को हम अवश्य ही यजुर्वेद कहने के लिये तय्यार हैं । एवं शेष सतोधृति सामवेद है । साम का ‘ऋचा समं पेने’ यह लक्षण है । आत्मधृति ऋक् है । अन्य को धारण करने वाली आत्मसत्ता ही सतोधृति है । आत्मधृति ही आगे जाकर सतोधृति बन जाती है । सतोधृति ऋग्रूपा आत्मधृति से समभावापन्न है, अतः इसे सामवेद कहा जा सकता है । इस प्रकार ऋग्वेदरूप प्रतिष्ठावेद में प्रतिष्ठात्रयी के कारण ऋक्-यजु-सामात्मिका वेदत्रयी का उपभोग सिद्ध होजाता है ।



३-ज्योतिर्वेदः (सामवेदः-ऋग्यजुःसाममयः)

तीसरा है ज्योतिर्वेद । ‘सर्वं तेजः सामरूपं शश्वत’ के अनुसार ज्योति ही सामवेद है । ज्ञानज्योति, भूतज्योति, सखज्योति भेद से ज्योतितत्त्व तीन भागों में विभक्त है । आत्मज्योति ज्ञानज्योति है । सूर्य-चन्द्र-विद्युत्-नक्षत्र-अग्नि-भेद से पञ्चधा विभक्त ज्योति भूतज्योति है । ज्ञानज्योति ही भूतज्योति की प्रतिष्ठा है । ज्ञान ही भूत की आधार भूमि है । ज्ञानज्योति से ही भूतज्योति प्रकाशित रहती है, अतएव इस ज्ञानज्योति को ‘ज्योतिषां ज्योतिः’

(ज्योतियों की भी ज्योति) कहा जाता है। भूतज्योति पांच हैं, इसी बहुत्व की अपेक्षा से 'ज्योतिषां' कहा गया है। इसी मूलज्योति का निरूपण करती हुई उपनिषद्भुक्ति कहती है—

न तत्र सूर्यो भानि न चन्द्रतारक नेषा विशुतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्नमनुभानि सर्वं तस्य भामा सर्वमिदं विभाति ॥

यन्त यथाय है। जवतक हम में ज्ञान है, तभी तक सूर्य-चन्द्रादि हमारे लिए प्रकाशित हैं। यदि ज्ञान विलुप्त है तो सारे विश्व में हमारे लिये अन्धकार है। इसी आधार पर प्रान्तीय भाषा में "आप मरा तो जग परज (पन्नज)" यह किंवदन्ती प्रचलित है। इस ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित भूतज्योतियों का मूलधार सूर्यज्योति है। इसका चक्षुरिन्द्रिय पर अनुग्रह होता है। तीसरी सत्यज्योति नामरूपात्मिका है। नामरूपात्मक घटपटादि में जो भाग विशेष नाम से प्रसिद्ध है, वही अमृत है। यही तब विज्ञानभाषा में 'माण' नाम से प्रसिद्ध है। यह अमृतभाग घट-पटादि समस्त पदार्थों में ममान है, अविशेष रूप से व्याप्त है। यही अविशेष (अमृतत्व) नामरूप की कृपा से विशेष बन कर 'अयं घटः' 'अयं पटः' इत्यादि रूप से पृथक् पृथक् प्रतीत होने लग गया है। यदि नामरूप का परित्याग कर दिया जाता है तो वह अमृतत्व और अधिक विशेषभाव से पृथक् होता हुआ अप्रतीति का विषय बन जाता है। नामरूप के बिना वह सर्वथा तिरोहित है। नामरूप से परिच्छिन्न होकर हा वह प्रकाशित होता है। अतएव अमृत को आच्छादित करने वाले, किन्तु उसे भास्वरूप से प्रकाश में लाने वाले नामरूप को हम अग्नय ही 'ज्योति' कहने के लिए तय्यार हैं। विषयोपक्रम में बतलाए हुए सत्यनिर्वचन के अनुसार नामरूपात्मिका ज्योति सत्यज्योति है। जैसा कि निम्न श्रुति से स्पष्ट हो जाता है—

“तदेतदमृतं सत्येन छन्नम् । नापरूपे सत्यम् । ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः”

(शत० १४ का०) इति ।

इन्हीं तीनों ज्योतियों के कारण ज्योतिर्मय देवताओं को त्रिमय कहा जाता है । उक्त तीनों ज्योतिष विज्व में परस्पर में नित्य सम्बद्ध हैं । ज्ञानज्योतिर्मय आत्मा (विज्ञानात्मा) सुषुप्ति-काल में जब पुरीतति नाड़ी में चला जाता है तो वह भूत-एवं सत्यज्योतियों का प्रत्यक्ष करने में असमर्थ होजाता है । सूर्य-चन्द्र-अग्नि-वाक्-आत्मभेद से पञ्चज्योतिर्मय यह ज्ञानज्योतिर्घन जीवात्मा भूतज्योति के सहारे ही अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित रहता है । आदित्यज्योति से ही यह तत्त्व कर्मों में प्रवृत्त होने के लिए समर्थ होता है । तदभाव में चन्द्रमा, चन्द्राभावमें अग्नि, अग्नि के अभाव में वाक्, सर्वाभाव में आत्मा है । परन्तु विना सूर्यादि ज्योतियों के यह अधिक समय तक नहीं टहर सकता, जैसा कि 'अमृता नाम ते लोकाः' इत्यादि पञ्चभाष्य में विस्तार से बतलाया जा चुका है । शरीरप्राणों के केन्द्रभूत हृदय में जो विज्ञानज्योति है, वही आत्मा है । भूतज्योतिर्घन सूर्य द्वारा अध्यात्म में प्रविष्ट होने वाला यह आत्मा स्वप्नभवरूप ज्योतिर्मय मर्यादों के बिना कैसे प्रतिष्ठित रह सकता है । इसी प्रकार नामरूप के बिना भी शुद्ध ज्ञानात्मा का विकास असम्भव है । नामरूप को छोड़ देनेपर ज्ञानात्मा निर्विकल्पकभाव में परिणत होता हुआ भातिजगत् से बाहर निकल जाता है । ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त तीनों ज्योतिष परस्पर में ओतप्रोत रहकर ही उपलब्ध होती हैं । इन तीनों में मूलप्रभव ज्ञानज्योति प्रस्तावस्थानीय होने से ऋग्वेद है । विषयावसानभूमिरूप सत्य-ज्योति सामवेद है । दोनों का यजन (सम्बन्ध) कराने वाली मध्यपतिता भूतज्योति यजुर्वेद है । इसप्रकार ज्योतिर्लक्षण सामवेद में ज्योतिर्वयी से वेदत्रयी का भोग सिद्ध होजाता है ।

आत्मा, प्रतिष्ठा, ज्योति इन तीनों में प्रतिष्ठा सत्तात्व है, ज्योति चेतना है, आत्मा आनन्दधन है । सत्ताश्रयभाव सत् है, चेतनाश्रय चित् है, आनन्दाश्रयभाव आनन्द है । निरवातीत विशुद्ध अव्यय के सत्ता-चेतना-आनन्द के आश्रय से प्रतिष्ठित रहने वाला विश्व-मूर्ति प्रजापति भी सच्चिदानन्दधन है, तदंशभूत जीवात्मा भी सच्चिदानन्द है, ईश्वराश्रयभूत विश्व भी 'सच्चिदानन्दम्' है । सच्चिदानन्दधन ईश्वर-जीव-विश्व इन तीनों के सत्ता-चेतना आनन्द यह तीन वेद हैं । सुतरां वेदत्रयी का भी सच्चिदानन्दत्व सिद्ध होजाता है । यही ब्रह्म

है, यही सर्वत्र व्याप्त है, यही सब कुछ है, इसी में सब कुछ है । यह है मौलिकवेद । इन तीनों में आनन्दात्मकवेद ही (यजुर्वेद ही) पहिला पुरञ्जन है । यही सृष्टि का मूलप्रभव है ! यह अनेजत् है, मनसो जवीयः है, एकम् है । आगे का सारा प्रपञ्च इसी अव्यक्त वेद से उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर इसी प्रतिष्ठित पर रहता है, अन्त में इसी में विलीन होजाता है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

अग्निवेदविवर्त्त

अग्निवेदस्त्रयीवेदः—(मूलवेदः)

- १—आत्मवेद आनन्द आनन्द → → यजुर्वेदः
 २—प्रतिष्ठावेद सत्ता सत् → → ऋग्वेद
 ३—ज्योतिर्वेद चेतना चित् → → सामवेद

अग्निमयो मूलवेदः

- १ उक्थम् — १ — उक्थवेद — → ऋग्वेद.
 ब्रह्म — २ — ब्रह्मवेद — → यजुर्वेदः
 साम — ३ — सामवेद — → सामवेद

- २ आत्मा — १ — आत्मभृतिवेद — → ऋग्वेदः
 भृति — २ — असतोभृतिवेद — → यजुर्वेदः
 विभृति — ३ — सतोभृतिवेद — → सामवेदः

- ३ आत्मा — १ — ज्ञानज्योतिर्वेदः — → ऋग्वेदः
 भूतानि — २ — भूतज्योतिर्वेदः — → यजुर्वेदः
 नामरूपे — ३ — सत्यज्योतिर्वेदः — → सामवेदः

आत्मवेदः—वेदत्रयात्मकः

↓ यजुर्वेदः १ यजुरग्निः

↓ प्रतिष्ठावेदः—वेदत्रयात्मकः

↓ ऋग्वेदः २ ऋगाग्निः

↓ ज्योतिर्वेदः—वेदत्रयात्मकः

↓ सामवेदः ३ सामाग्निः

आत्म-प्रतिष्ठा-ज्योति तीनों मिलकर एक वेद है। तीनों का समुच्चित रूप ही हमें उपलब्ध होता है। प्रत्येक वस्तु की हमें अस्तिरूप से उपलब्धि होती है। अस्ति मत्तानन्त्र है, यही प्रतिष्ठावेद है। वस्तु है—यह हम जानते हैं। यह ज्ञानज्योति ही चेतना है। चेतना ही ज्योति वेद है। जो वस्तु है, जिस का हमें ज्ञान होता है, ज्ञानसत्ता का प्रतिष्ठाभूत वही तीसरा वस्तु-तत्त्व 'स' है। यही प्रिय है, यही आनन्द है, यही आत्मा है, यही आत्मवेद है। अग्नि-भानि-प्रिय की समष्टि ही वस्तुपलब्धि है। यही त्रयीवेद है। संसार का प्रत्येक पदार्थ वेद है, 'अनन्त व्यक्ति' हैं, अनन्त वेद हैं। समष्टिरूप से एक ही वेद है। उपलब्धिरूप यह 'मच्चिदानन्दात्मकवेद' नामरूपकर्मात्मक भौतिक पदार्थ के आधार से ही प्रतीति का कारण बनता है। यदि अस्तिमत् पदार्थ में से नामरूपात्मक भूतभाग को हटा दिया जाता है तो स्वस्वरूप से निराकार रहता हुआ वेद तिरोहित हो जाता है। उपलब्धिरूप वेद को आप जब भी देखेंगे, भूत के आधार पर ही देखेंगे। त्रयीवेद के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला नामरूपकर्मप्रपञ्च सर्वथा असत् रहता हुआ भी उस वेद अस्ति से अस्तित्व प्रतीत होने लगता है। संसार में आप जो कुछ 'अस्ति' 'अस्ति' कर के देख रहे हैं, विश्वास कीजिए वह सब त्रयीगर्भित वेद ही है। वही अस्ति अमृत है, जो अमृत है वही है। साथ ही मैं नामरूपकर्मात्मक मत्तभाग भी वही है। क्योंकि मनप्राणवाङ्मय अस्तिभाग ही तो नामरूपकर्म का प्रभव है। इसी वेदविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

“स त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत् । एतद् वा अस्ति ।
एतद्धि-अमृतम् । यद्ध्यमृतं तद्ध्यस्ति । एतद् तत्-यन्मर्त्यम् ।
त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि- प्रतिष्ठितानि ।”

(शत० १० । ६ । १ । २ ।) इति ।

वेदतत्त्व को प्राजापत्य कहा जाता है। ब्रह्मप्राजापति से उद्भूत वेद वास्तव में प्राजापत्य है। पुरुष (मनुष्य) प्राजापति से उत्पन्न केशलोमादि जैसे पुरुष को चारों ओर से वेष्टित कर

लेते हैं, एवमेव प्रजापति से उत्पन्न प्राजापत्यवेद प्रजापति को केन्द्र बनाकर इस के चारों ओर व्याप्त हो जाता है । सम्पूर्ण विश्व इस प्राजापत्यवेद से आप्यायित रहता है । इसी प्राजापत्य-वेद का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

१—“प्रजापतिर्गिद ब्रह्म वेदानां संसृजते रसम् ।

तेनाहं विश्वमाप्यामं सवान् कामान् दुहा महत् ॥ (ऐ. आ.)”

२—“महाव्रतं कर्म वा, निष्केवल्यं गन्धं वा संसृजे,

तेन सर्वफलमाप्नुयाम, सर्वाश्च कामान् सम्पादयेयम् ।”

३—“प्राजापयो वै वेदः” (तै० ब्रा० ३।३।७) ।

४—“प्रजापतेर्वा एतानि श्मश्रूणि यद् वेदः” (तै० ब्रा० ३।३।६) ।

उक्त ब्रह्मप्रजापति अपनी वेदविभूति के कारण वेद, वेद, यज्ञ, प्रजापति, वेद से चतुःसंस्थ बन जाता है । उदाहरण के लिए पार्थिवप्रजापति की संस्थाओं का विचार करिए । पृथिवीस्वरूपममर्षक समपुरुषपुरुषात्मक अग्नि प्रजापति है, जैसा कि विश्वनिरुक्ति में बतलाया जा चुका है । भूपिण्ड निर्माण की इच्छा रखने वाले इस अग्निप्रजापति की सव से पहिले ‘पुष्करपर्ण’ पर दृष्टि जाती है । पुष्करपर्ण इस की पहिली प्रतिष्ठा वनती है । पार्थिवप्रजापति (ब्रह्मा) पुष्करपर्ण पर प्रतिष्ठित होकर ही पार्थिवसृष्टि निर्माण में समर्थ होता है अतएव पार्थिव ब्रह्मा को ‘पद्मभूः’ कपलोटोद्भवः’ आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । इसी आधार पर पद्मपुगणादि में भूपिण्ड को चतुर्दलकमल माना गया है । पानी में वृन्तद्वयात्मक मृक्षमतिमृक्षम हरितवर्ण की जो ‘काई’ है, जो कि काई आगे जाकर शैवाल रूप में परिणत होजाती है, वही ‘पुष्करपर्ण’ है । पुष्करपर्ण का शब्दार्थ है—पानी का पत्ता । आरम्भ में

- ब्रह्मा की प्रतिष्ठाभूत पद्म का क्या स्वरूप है ? पाशुपतकोश के आदि प्रवर्तक कौन थे ? इत्यादि विषयों के आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक रहस्यों को जानने के लिए शतपथ बिज्ञान माध्य देखना चाहिए ।

पानी के ऊपर पानी से ही इसका निर्माण होता है । पानी प्रतिष्ठाशून्य है, ऋत है । आप उसमें जो भी डालेंगे विलीन होजायगा । मन्त्र से पहिली प्रतिष्ठा यही पुष्करपर्ण है । ऋत-पानी का पहिला सत्यरूप पुष्करपर्ण है । सशरीर-महदय भाव को ही विज्ञानभाषा में सस कहा जाता है । अबतक पानी में हृदयभाव न था । परन्तु पुष्करपर्णरूप दो वृन्तवाली काई से पिण्डभाव का उदय होजाने से हृदयभाव प्रकट होजाना है । 'प्रजापतिश्चरति गर्भे' के अनुसार प्रजापति हृदय में प्रतिष्ठित होकर ही सृष्टिनिर्माण में समर्थ होता है । इस प्रजा-रति की पहिली प्रतिष्ठामूर्ति यही पुष्करपर्ण है । पुरभाव में हृदय है, हृदय प्रजापति की प्रतिष्ठा है । उक्त पर्ण पुरभाव का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ ही 'पुष्करम्वात' पुष्करपर्ण नाम से व्यवहृत होता है । इसमें प्रतिष्ठित प्रजापति (हृदयशक्ति-केन्द्रबल) ही पार्थिवसृष्टि का कारण बनता है । अभी मृदुभाव का उदय नहीं हुआ है । पुष्करपर्ण में अभी पानी ही प्रधान है । पानी ही घनताभाव में आकर मर्केन्द्र बन गया है । इसी आधार पर-'आपो वै पुष्करपर्णम्' (शन० ६।४।२।२) यह कहा जाता है । आपोमय पुष्करपर्ण की प्रतिष्ठा आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु है । विष्णुकी नाभि में पुष्करपर्ण प्रतिष्ठित है, पुष्करपर्ण पर ब्रह्मा प्रतिष्ठित है , ब्रह्मों पर सब कुछ प्रतिष्ठित है । सब की प्रतिष्ठा होने से जहा ब्रह्मा को प्रतिष्ठा कहा जाता है, वहा इसकी भी प्रतिष्ठा होने से आपोमय विष्णु को प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा कहा जाता है । विष्णु की नाभि से पुष्करपर्ण निकला है । उसी पर प्राण-आप-वाक-अन्नानादरूप चतुर्मुख ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं । वह आपोमय पानी स्थूल पानी नहीं है, अपि तु अम्भः नाम का वायुमय पानी है । इसी में सप्तरसात्मक दुग्ध का उदय होता है, अतएव इसे क्षीरसमुद्र कहा जाता है । प्रतिसंचरक्रम में वायु शेष रहजाता है, वायु गतिशील है, सर्पणशील है । इसी शेष पर विष्णु प्रतिष्ठित है । यह वायुमय पानी जिस ऋषि (प्राण) से उत्पन्न होता है, वह 'नारद' नाम से प्रसिद्ध है । वर्णावाक जैसे अनुष्टुप है, मन्त्रवाक जैसे बृहती है, एवमेव ध्वनिवाक मन्त्रस्वनी नाम से प्रसिद्ध है । जैसे पार्थिवसमुद्र 'अर्णव' कहलाता है, स्वायम्भुवसमुद्र नभस्वान कहलाता है, एवमेव पारमेष्ठ्य वैष्णव समुद्र 'मरुस्वान्' नाम से प्रसिद्ध है । इसी में ध्वनिप्रव-

तिका नरस्वनीवाक् प्रतिष्ठित है । स्वर-वर्ण दोनो इसी ध्वनिवाक् पर प्रातिष्ठित है । यही वाग्-
यी मृष्टि की मूलप्रवर्तिका है । यह आपोमयी ध्वनिवाक् स्वप्रभव उसी नारदऋषि (प्राण)
पर प्रतिष्ठित है । इसी महासृष्टि विज्ञान को प्रसादभावा मे प्रकट करत हुए पुराणे ने कहा है—

“नीरममुद्र मे शेष शय्या पर विष्णुभगवान सो रहे हैं । उन की नाभि
मे से कमल निकल रहा है । कमल पर चतुर्मुख ब्रह्मा विराजमान है ।
यह चाणों वेदों मे सृष्टिनिर्माण कर रहे हैं । विष्णुभगवान के मन्त्र की
ओर नारद खंड हुए हैं उनके हाथ में वीणा है”

प्रकृत मे उक्त निदर्शन मे हमें यही बतलाना है कि समपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (अग्नि)
क व्यापार मे सर्वप्रथम पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, वही प्रजापति की, किवा सारे पार्थिव विश्व
की पहिली प्रतिष्ठा बना । इसी रहस्य को लक्ष्य मे रख कर श्रुति कहती है—

यत् पयपयत् सगिरम्य मध्ये-उर्वीमपयज्जगतः प्रतिष्ठाम् ।

न पुष्करध्यायतनाद्रि जान पर्ण पृथिव्यायतन इगमि ॥

(तै० ब्रा० १।२।१) इति ।

यही पुष्करपर्ण आगे जाकर रुद्रवायु की रक्तता, पानी की विनयता के परस्पर के संसृष्टि
सम्बन्ध मे उत्तरोत्तर घनभाव मे परिणत होता हुआ भूपिण्डरूप मे परिणत हो जाता है ।
प्रजापति के वेद मे पानी पैदा हुआ, पानी मे पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, वही घनावस्था मे
आकर भूपिण्ड बन गया । इस भूपिण्ड के केन्द्र मे प्रजापति प्रतिष्ठित हो गये । यही पृथिवी
वेदमूर्ति प्रजापति के सम्बन्ध मे 'वेदि' नाम से प्रसिद्ध हुई । इस वेदि पर अग्निरूप वही त्रयी
वेद प्रतिष्ठित हुआ । पार्थिव अग्नि साक्षान्त वेद है । अग्निमय वह वेद सत्यमूर्ति है । इस सत्या-
त्मवेदरूप उक्त प्रजापति के अर्करूप प्राणदेवताओं के द्वारा (इसी वेदि पर) यज्ञ होता है ।
सोमाहुति होने मे वही अग्निवेद २१ स्तोम पर्यन्त विनत हो जाता है । पार्थिव पिण्डाग्नि
अग्न्याधान है, त्रिवृत्सोमावच्छिन्न यज्ञमस्था अग्निहोत्र है, पञ्चदशसोमावच्छिन्न यज्ञसंस्था

दर्शपूर्णमास है, सप्तदशस्तोमावच्छिन्न यज्ञसंस्था चातुर्मास्य एवं पशुबन्ध है, एवं यही ज्योतिष्टोम है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न यज्ञसंस्था अग्नियज्ञ किंवा चधनयज्ञ है। इस प्रकार स्तोम-भेद से पार्थिव यज्ञसंस्था उक्त विभागों में परिणत हो जाती है। इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ में वह प्राजापत्य वेद एकविंशस्तोमपर्यन्त व्याप्त हो जाता है। त्रिवृन्स्तोम तक अग्निमय ऋग्वेद है, पञ्चदशस्तोम तक वायुमय यजुर्वेद है, एकविंश तक आदित्यमय सामवेद है। यही मूलवेद का वितान है। इसी वितान सम्बन्ध में उक्त पार्थिव यज्ञसंस्था विनानयज्ञ आतानयज्ञ आदि नामों से प्रसिद्ध है।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

दुदोह यज्ञमिद्वयर्थ-ऋग्-यजुः-सामनक्षत्रम् ॥ (मनुः १।२३)

इत्यादि मानवसिद्धान्त इसी पार्थिव यज्ञमात्रिक प्राजापत्यवेद का स्पष्टीकरण करता है। इस वेदतत्त्व की प्रतिष्ठा पिण्डपृथिवी, एवं अमृता पृथिवी है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार चित्प्राग्निमय भूपिण्ड 'ऋग्णाग्नि' कहलाता है, एवं चितेनिधेयाग्निमयी महापृथिवी पुष्करपर्णा नाम से प्रसिद्ध है। (देखिए शत० ६।४।१।६)। पिण्डपृथिवी में रुन्दोवेद प्रतिष्ठित है, तत् सम्बन्धी पार्थिवयज्ञ- 'आतानयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। भूपिण्ड वेदि है, महापृथिवी महावेदि है। प्रजापति केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है, यह अनुपद में ही बतलाया जा चुका है। हृदयस्थित हृ-द-यम्-रूप, अन्तर्यामी नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र का नाम ही प्रजापति है। अग्नि-सोमान्तर वेद हैं। यह अग्नि सोम उस हृद्य प्रजापति से अभिन्न हैं। इन्द्र ही ब्रह्मगर्भित होकर अग्नि बनता है, विष्णु ही ब्रह्मगर्भित होकर सोम कहलाने लगता है। अतएव अन्तर्यामी हृद्य प्रजापति के अवयवभूत, विश्वस्वरूपसम्पादक अग्नीषोमात्मक वेद को हम अवश्य ही प्रजापति के 'श्मश्रु' कहने के लिए तैयार हैं। हृदयभाव का नाम ही सत्य है। इस सत्य अन्तर्यामी का विवर्तभूत वेद भी अवश्यमेव सत्य है। प्रजापति सत्य, इसका वेद सत्य, वेदमय विश्व सत्य- 'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'। यही सत्यवेद यज्ञद्वारा महावेदि के आधार पर २१ तक व्याप्त होता है। इस प्रकार वह सत्यप्रजापति सत्य (वेद) के द्वारा पानी

उत्पन्न करता हुआ पृथिवीरूप वेदि को उत्पन्न कर यज्ञसंपत्ति से युक्त होता हुआ—वेदि—वेद-यज्ञ—प्रजापति भेद से चतुष्कल बनजाता है । इसी वेद रहस्य को प्रकट करते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं ।

१—“एष प्रजापतिर्यद् हृदयम्, एतद् ब्रह्म, एतत् सर्वम् ।

तदेतन् व्यन्तरं हृदयमिति । तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव” (श० १४।८।४।)

२—“ते देवा सर्वे सत्यमवदन् । तद्यत् तत् सत्यं त्रयी सा विद्या ।

ते देवा अब्रवन्—यज्ञं वै कृत्या सत्यं तनवापहे” (श० ६।५।१।)

३—“न्वया (वेदेन) वेदिं विविदुः पृथिवी न्वया यज्ञो जायते विश्वदानिः ।

अच्छिद्रं यज्ञमन्वेपि विद्वान् न्वया होता सतनोयद्विद्वाम्मान ॥” (ते० ब्रा० ३।७।४।)

४—“अयं वेदः पृथिवीमन्वविन्दन् गुह्यमर्ता गहने गह्वर्यु ।

स विन्दतु यजमानाय लोकमच्छिद्रं यज्ञ भृगिर्मा कर्गेतु ॥”

(ते० ब्रा० ३।७।६।)

५—“वेदेन वै देवा अमुगणां वित्त वेद्यमविन्दन् ।

तद् वेदस्य वेदत्वम्, भूमिरेव वेदिः । सा वा इयं सर्वैव वेदिः ”

इत्यादि..... ।

‘सर्वा—एव वेदिः’ इस वाक्य के सर्वशब्द से सर्वभूतप्रपञ्च अभिप्रेत है । इसकी प्राप्ति उन्नी त्रयीविद्या के उदर में हुई है । तभी तो पूर्वोक्त—त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्य-पश्यन्’ यह कथन चरितार्थ होता है । यह प्रजापति वेदि—वेद—यज्ञ—इन तीन कलाओं से चतुष्कल बनता हुआ इस महाभुवन के केन्द्र में पृ० अ०—द्यौ रूप तीनों भुवनों का शास्ता बनता हुआ अन्तर्यामी नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । यह अन्तर्यामी जिस नियति मूत्रसे

चराचरभावमय विश्व का शासन कर रहा है, उसका वही नियतिसूत्र, विज्ञानदण्ड वेद पदार्थ है। इस वेदसीमा के बाहर कुछ भी नहीं है। जिसका वेद नहीं वह भी—न स वेदः, न स वेदः। जो सब कुछ जानता हुआ भी वेदतत्त्व नहीं जानता, वह भी—न स वेद, न स वेद। इसी वेद से वेद और यज्ञरूप विश्व का निर्माण हुआ है। विश्वनिर्माण के लिए इसे सर्वप्रथम पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है। स्वायम्भुव ब्रह्मनिश्चित वेदप्रजापति के काम-तप-श्रम से सुवेद नाम से प्रसिद्ध अथर्वा नाम का अपूर्व उत्पन्न होता है। इसी मिथुनभाव में त्रयीवेद सृष्टि करने में समर्थ होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

उक्त मलवेद का ऋक भाग छन्दोवेद है, इससे मृत्ति का (पिण्ड का) निर्माण होता है। सामभाग गितानवेद है, इसमें महिमाभाव की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। एवं यजु भाग रमवेद है, यही गतिभाव का अधिष्ठाता है। इन तीनों वेदों की मूलप्रतिष्ठा आहुतिरूप ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) है। इन्हीं चारों मौलिक वेदोंका निरूपण करते हुए महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

ऋग्यो जाता सर्वगो मृत्तिमाहुः सर्वागनिर्याजुषी हवँ गञ्वत ।

सर्व तेजः सामरूप्यं ह गञ्वत सर्व हेतुं ब्रह्मणा हवँ सृष्टम् ॥

(तै० ब्रा. ३।१२।६।१-२-) ।

ऋगभिः पूर्वाङ्गो दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अहः ।

गामवेदेनास्तमये पहीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः ॥

(तै० ३।१२।६।१) ।

मनप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव के कारण उक्त तीनों वेद ऋग्-यजुः-साम भेदसे तीन तीन भागों में विभक्त हैं। इन सबका विशद निरूपण उपनिषद्भाष्यभूमिका में किया जा चुका है, अतः प्रकृत में इनके नाममात्र का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१-छन्दोवेदः—मूर्तिः.....उक्तम्→	ऋग्वेदः	} मूलवेदः १
२-रसवेदः—मध्यस्थो वायुमयोऽग्निः...ब्रह्म →	यजुर्वेदः	
३-वितानवेदः—महिममण्डलम्.....साम →	सामवेद	

१-छन्दोवेदः—(ऋक्)

१-विक्रमः—ऋग्वेदः	} तदित्यं ऋग्वेदो वेदत्रयोपभोग
२-परिणाहः—सामवेदः	
३-हृदयम्—यजुर्वेदः	

२-वितानवेदः—साम)

१-पूर्वपूर्वमण्डलम्.....ऋग्वेदः	} तदित्यं सामवेदो वेदत्रयोपभोग
२-उत्तर—उत्तरमण्डलम्.....सामवेदः	
३-ऋजु (ऋकुटिला) रेखा.....यजुर्वेदः	

३-रसवेदः—(यजुः)

१-उत्तरोत्तरं हृस्वीभवन्तो विक्रमभाः—ऋग्वेदः	} तदित्यं यजुर्वेदो वेदत्रयोपभोग
२-उत्तरोत्तरं वृद्धिमन्ति मण्डलानि—सामवेदः	
३-तयोरेन्तराले प्रतिष्ठितानि वाक्—यजुर्वेदः	
- प्राणमनांसि

इति—त्रयीवेदानिरुक्तिः

* इस विषयका संक्षिप्त विवेचन कल्याण मासिक पत्र के वेदान्त-अङ्क में वेद का स्वरूप विचार नाम के लेख में निकल चुका है।

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-अथर्ववेदनिरुक्तिः



दत्रयी का निरूपण समाप्त हुआ । अब क्रमप्राप्त चौथे अथर्ववेद का स्वरूप बतलाया जाता है । पूर्व के वेदत्रयी प्रकरण से यह मान लेना पड़ता है कि केवल वेदतत्त्व (वेदत्रयीरूप केवल अग्नि) सृष्टि करने में असमर्थ है । सृष्टि अग्नि-मोम के समन्वय पर निर्भर है । कारण सृष्टि संसृष्टिभाव से सम्बन्ध रखती है । एवं संसृष्टि परस्पर में विजातीय योषा वृषाभाग पर निर्भर है । योषा रयि नाम से, वृषा प्राण नाम से प्रसिद्ध है । इधर ऋक्सामरूप वयोनाथ से सीमित वयरूप यजुर्वेद प्राणात्मक बनता हुआ केवल 'वृषा' रूप है, अग्निमय है । आग्नि-प्राणप्रधान (ब्रह्माग्निरूप ऋषिप्राणप्रधान) यह वृषावेद सर्वथा अमंग है । ऐसी अवस्था में इस असंग वेदप्रजापति से तब तक सृष्टि नहीं होसकती, जब तक कि 'योषा' नामक ससंग अपृतत्त्व (रयि) उत्पन्न नहीं होजाता । अतएव सृष्टिकामुक त्रयीमय उस ब्रह्मप्रजापति को मब से पहिले पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है । सृष्टिकामना से प्राण जुब्ध होजाता है । प्रत्येक कामना फलसिद्धि पर्यन्त प्राणक्षोभ का कारण बनी रहती है, यह सर्वानुभूत विषय है । वही जुब्ध प्राणाग्नि संघर्ष के कारण अवरूप में परिणत होजाता है । इस का यह अर्थ नहीं है कि अबुत्पत्ति के अनन्तर प्राणाग्नि रहा ही नहीं । यह कार्यकारणभाव ऊर्णान्तु (मकड़ी का जाला) के समान है । मकड़ी अपने एक प्रदेश से जाल बनाती है । वही (आशिकरूप से) जाल बनती है, परन्तु उस का स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है, जैसा कि स्वरूप जालोत्पत्ति से पहिले था । इसी को "अभिन्नसत्ताक कार्यकारणभाव" कहा जाता है । यही अवस्था यहां है । वेदप्राण का जो भाग जुब्ध हो जाता है, वह पानी बन जाता है, शेष भाग ज्यों का त्यों स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है । इस प्रकार अशनाया के प्रभाव से क्षोभ द्वारा सर्वप्रथम पानी उत्पन्न होता है । एक ही प्रजापति प्राण-आप मेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है । प्राणभाग वृषा है, पुरुष है, पति है । अप्भाग योषा है, स्त्री है, पत्नी है । इसी दम्पती

के मिथुनभाव से प्रजा उत्पन्न होती है। प्रजापति की इस इच्छा का— “एककी न रमते, तद्वितीयैश्चरन्—पतिश्च पत्नी च” इत्यादि रूप से अभिनय किया जाता है। इसी सृष्टि-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् मनु कहते हैं—

यत्तत्कारणमव्यक्त नित्यं सदसदात्मकम् ।

तद्विशिष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यत ॥१॥ (मनुः १।११।)

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः ।

मनश्चावयवंः मूर्क्षैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥२॥ (मनुः १।१८।)

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।

मूर्क्षाम्भ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययादव्ययम् ॥३॥ (मनुः १।१९।)

सर्वेषां तु सनापानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।

वेदगव्देभ्य एवादौ पृथक् सन्धाश्च निर्गमे ॥४॥ (मनुः १।२१।)

सोऽभिध्याय गरीरात् स्वात् मिसृत्तुर्विविधाः प्रजाः ।

अप एव ससर्जदौ तामृ बीजमवासृजत् ॥५॥ (मनुः १।८।)

द्विधा कृन्वात्मनो देहपट्टेन पुरुषोऽभवत् ।

अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ ६ ॥ (मनुः १।३३।)

उक्त मानव विज्ञान के अनुसार योपावृषा के मिथुन से सर्वप्रथम विराट् पुरुष उत्पन्न होता होता है, हमारे शब्दों में वह स्वयं ही इस मिथुनभाव से विराटरूप बन जाता है। इस विराट् का स्वरूप आगे जाकर स्पष्ट होगा, पहिले अप्रतत्त्व का विचार करिए।

मूलवेद के ऋक्-साम-यजु यह तीन विवर्त्त बतलाए हैं। इन तीनों को क्रमशः महद्वक्त्र-महात्रय-रूप इन नामों से व्यवहृत किया जाता है। उदाहरण के लिए मूर्यपिण्ड (मूर्ति-गोला) महद्वक्त्र है, मौर्यप्रकाशमण्डल (रश्मिमण्डल) महात्रय है, मूर्यकेन्द्र में रहने वाला स्थिति-गर्भित गतिरूप प्राणमि पुरुष है। इसी को ‘हिरण्यगर्भप्रजापति’ ‘हिरण्यपुरुष’ ‘चान्तुष-

पुरुष' 'आदित्यव्य परं भाः' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है, यही मौलिकतत्त्व है । ऋक् साम इस यजुपुरुष की प्रतिष्ठा है । इसी त्रयीविद्या का निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

यदेतन्मण्डलं तपनि-तन्मदुक्थम्, ता ऋचः, स ऋचां लोकः ।

अथ यदेतदचिदीप्यते, तन्महाव्रतम् । तानि सामानि, स साम्नां लोकः ।

अथ यत्तपन्मन्मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः, तानि यजृषि । स यजुषां लोकः ।

सैषा त्रयैव विद्या तपनि" (शत. १०।१।२।१-२) ।

ऋक् साम वयोनाथ है, यजु वय है । वस्तुपिण्ड का विक्रम (व्यास) ऋक् है । वस्तु के चारों ओर का घेरा (परिणाह) साम है । व्यास को त्रिगुणित कर देने से वस्तु का घेरा बन जाता है । इसी शब्दों में वस्तुपिण्ड का घेरा वस्तुपिण्ड के व्यास से तिगुना होता है, इसी आधार पर साम का ' त्रिचं माप ' । तीन ऋक् का एक साम—तीन व्यासों का एक परिणाह) यह लक्षण किया जाता है । इस व्यास और परिणाह में देखित वस्तुतत्त्व यजु है । जिस प्रकार उदर में अन्न प्रतिष्ठित रहता है, एतमेव यजु (वस्तुतत्त्व) ऋक् साम रूप व्यास और परिणाह में अन्तर्भुक्त रहता है । इस भुक्तिभाव को लक्ष्य में स्मरकर ही यजु को वय (अन्न) नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है । वय शब्द अन्न शब्द का ही पर्याय नहीं है, जैसा कि प्राचीनों ने वय का अर्थ अन्न किया है । अन्नधर्म की समता के कारण ही यजु को वय कहा जाता है । अपि च जिस प्रकार पञ्जर (पीजरा) में रहने वाला पक्षी पञ्जर से निकल कर आकाश में इधर उधर संचरण करता रहता है, एतमेव ऋक् साम रूप पञ्जर में प्रतिष्ठित रहने वाला गतिमूर्ति यजु वितानभाव से स्वमहिमामण्डल में विचरण किया करता है, इस पक्षिरूप साधर्म्य से भी इसे वय (पक्षी) कहा गया है । इस वय को बध्न में रखने वाले सीमित रखने वाले आयतनरूप ऋक् साम हैं, अतएव इन्हें ' वयोनाथ ' (वय का बंधन करने वाला) कहा जाता है । वयोनाथ और वय की समष्टि ' वयुन ' नाम से व्यवहृत होती है । प्रत्येक वस्तु वयुन

है। वयुन में वय-वयोनाथ दो विभाग हैं, वय यजु है, वयोनाथ ऋक्साम है, ऋक्साम यजु में ओतप्रोत रहते हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

“ने यदा स्तुवते. यदानुशंसति. अथास्मिन्नेत वषट्कृते जुहोति। तदेनमेप रसोऽप्येति। न वै मद्याव्रतषिदं स्तुतं शेते, इति पश्यन्ति। नो महदुवथमिति। अग्निमेव पश्यन्ति। आत्मा ह्यग्निः। तदेनमेतेऽउभे रसोभूत्वापीत ऋक्च साम च। तदुभे ऋक्सामे यजुरपीतः” (शत० १०।१।१।६।) इति।

इस से यह सिद्ध होजाता है कि केवल आयतनरूप ऋक्साम सृष्टि करने में असमर्थ हैं। ऋक्सामरूप व्याम परिणाह से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। व्यास मध्यरेखा है, परिणाह चारों ओर की रेखा है। यहाँ रेखात्मक किवा लेखात्मक एक पुर (सीमाभाव) है। इस पुर में प्रतिष्ठित यजुग्नि ‘पुरि शेते’ के अनुसार पुरुष है, यही सृष्टिकर्ता है। नपुंसक ऋक् साम सहकारी मात्र हैं। ऋक्सामरूप छन्द से छन्दित यजुपुरुष ‘द्वित्रह्य’ है। यत्-और जू दो ब्रह्मों की समष्टि यजु है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। यत् भाग वायु (प्राण) है, जू भाग वाक् (आकाश) है। इस यत् रूप प्राणवायु के व्यापार से जूरूप मर्त्यशास्त्र भाग ही जुन्ध हो कर अचूर्ण्य में परिणत होता है, जैसा कि सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत (शत. ६।१।१।७।) इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। वाग्नि जुन्ध होकर पानी बन जाता है, इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यदि क्रोध से अथवा वेगान्तर से शरीरप्राणाग्नि जुन्ध हो जाता है तो उसी समय पसीनें निकल पड़ते हैं।

शरीर में अबुत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। परिश्रम करने से पानी उत्पन्न होजाता है। शोक से पानी उत्पन्न होता है, एवं प्रेम से पानी उत्पन्न होता है। परिश्रमजनित पानी ‘ध्वेद’ कहलाता है, शेष दोनों शोकाश्च प्रेमाश्च माम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों पानियों के अतिरिक्त एक चौथा स्वाभाविक पानी निरन्तर रोमकूपों से निकला करता है। मूत्र-मुखसाला-कफ-किङ्क

आदि में जो अद्रिता है वह यहा स्वाभाविक पानी है। इस प्रकार अव्याप्तिसंस्था में अयुत्पत्ति का चार धाराएं हैं। 'अग्नेरापः' इस सिद्धान्त के अनुसार यह चारों पानी अग्नि से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु इन चारों के स्वरूप में बड़ा अन्तर है। कार्यरूप अर् के अन्तर से मानना पड़ता है कि इन के कारणान्नि में भी अवश्य ही अन्तर होगा। प्रसंगोक्त वह अन्तर जान लेना भी अनुचित न होगा।

अग्निस्वरूप सत्य श्री यज्ञ भेद से दो भागों में विभक्त है। सत्याग्नि मौलिक अग्नि है, यज्ञाग्नि यौगिक अग्नि है। विगुद्रावस्था सत्याग्नि है, मिश्रावस्था यज्ञाग्नि है। सत्याग्नि अमृतप्रधान है, यज्ञाग्नि मृत्युप्रधान है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार सत्याग्नि चित्तेतिथेयाग्नि है, यज्ञाग्नि चित्याग्नि है। 'अद्भुतं ह वै आत्मनो मर्त्यमासीद्भ्यममृतम्' यह प्रसिद्ध है। मौलिक अग्नि ब्रह्म

(Physics) है, मिश्राग्नि यज्ञ (Chemistry) है। ब्रह्म ही यज्ञ का प्रतिष्ठा है—'ब्रह्म ह वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'। सुप्रसिद्ध यजुर्वाग्नि (वेदाग्नि) ही सत्याग्नि है। 'यज्ञं कृत्वा सन्धं तनवापट्टे' के अनुसार इस वेदाग्नि के आधार पर ही यज्ञाग्नि का विधान होता है। इस वेदाग्नि को अगे जाकर तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। स्वयम्भू इस की प्रथम विकासभूमि है, सूर्य दूसरी विकासभूमि है, भूपिण्ड तीसरी विकासभूमि है। एक ही सत्याग्नि तीन स्थानों में प्रतिष्ठित होकर भिन्न भिन्न नाम रूपों में परिणत हो रहा है। इन्हीं तीन विद्वत्तों के कारण सत्यभाव 'त्रिसत्य' कहलाता है। स्वयम्भू में प्रतिष्ठित वेदाग्नि ब्रह्माक्ष के सम्बन्ध से 'ब्रह्माग्नि' कहलाता है, सूर्य में प्रतिष्ठित यही सत्याग्नि सौर प्राणरूप देवताओं के सम्बन्ध से 'देवाग्नि' नाम से एवं भूपिण्ड में प्रतिष्ठित वही सत्याग्नि भूत सम्बन्ध से 'भूताग्नि' कहलाता है। प्रकृत्य पेक्षया स्वयम्भू प्राणमय है, अतएव ब्रह्माग्नि को 'प्राणाग्नि' कहा जाता है। यही मूल प्रकृति है, अतएव इसे 'प्राकृताग्नि' भी कहा जाता है। सूर्य वाङ्मय है, अतएव देवाग्नि को 'वाग्नि' कहा जाता है। वैश्वयज्ञ की प्रवृत्ति इसी से होती है, अतएव इसे याज्ञिक परिभाषानुसार 'वैश्वग्नि' भी कहा जाता है। भूपिण्ड अन्नादमय है, अतएव भूताग्नि को 'अन्नादाग्नि' कहा जाता है। भूपिण्ड में ही पञ्चपशुप्राणों का विकास होता है, अतएव तत्सम्बन्ध से इसे

‘पायुकाग्नि’ भी कहा जाता है। स्वायम्भुव अग्नि ब्रह्मनिष्कसित वेद है, सौर अग्नि गायत्री-मात्रिक वेद है, पार्थिव अग्नि सत्यवेद किवा यज्ञमात्रिकवेद है। इस प्रकार एक ही वेदाग्नि किवा सत्याग्नि तीन भागों में विभक्त हो रहा है। दूसरा है यज्ञाग्नि। इस का विकास अन्नादाग्नि नाम के पार्थिव सत्याग्नि से होता है। पार्थिव सत्याग्नि तत्त्व विभक्त होकर अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। अन्नादाग्नि अन्न प्रधान है, अन्नादवायु व्यान-प्रधान है, अन्नाद आदित्य प्राणप्रधान है। मध्यस्थ व्यानाग्नि के आधार पर अन्न-प्राणाग्नि का वर्णन होता है। यह वर्णन तीनों का यजन है यही यज्ञ है। इस से वैश्वानर नाम के यज्ञाग्नि का प्रादुर्भाव होता है। अन्नादाग्नि को हमने पार्थिव बनलाया है। इस की मूल ओर तल भेद से दो अवस्थाएँ हैं। मूल अन्नादाग्नि भूषिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ प्रजापति नाम से प्रसिद्ध है। इन अग्निम का ऊर्ध्व गन्त होता है। यही अग्निम विवा सत्याग्नि पृथिवी के २१ स्तोक तक व्यस हो कर वन-वग्नि-विग्नि इन तीन अवस्थाओं में परिणत होता हुआ अग्नि-वायु-आदित्य कहलाने लगता है। स्व पृथिवी में स्तान्यप्रेलोक्य किवा तीन विश्व हैं। इन तीनों के नर (नायक) यही अग्नि-वायु-आदित्य हैं। उक्त यज्ञाग्नि इन तीनों विश्वनरों के वर्णन से उत्पन्न होता है, अतः इसे ‘वैश्वानर’ कहना न्याय प्राप्त है। इस प्रकार एक ही अग्नि की त्र्युत-मृग्य भेद से दो अवस्थाएँ, अमृताग्नि की तीन अवस्थाओं की अपेक्षा से चार अवस्थाएँ हो जाती हैं, जैसा कि—“चतुर्धा विहितो ह वा अग्नेऽग्निगमः” (शत० १।२। १। १।) इत्यदि में स्पष्ट है।

१-सत्याग्निः (अमृताग्निः)-अत्मा
२-यज्ञाग्निः (मर्याग्निः)-विश्वम्

} आत्मन्वी-प्रजातिः

१-ब्रह्म ग्निः-प्राण ग्निः-प्राकृतग्नितः → → स्वायम्भुवः-ब्रह्मनिष्कसितवेदः
२-देव ग्निः-वागग्निः-वैश्वग्निः → → सौरः-गायत्रीमात्रिकवेदः
३-भूताग्निः-अन्नादाग्निः-पायुकाग्निः → → पार्थिवः-यज्ञमात्रिकवेदः

} सत्याग्निः

४-वैश्वानराग्निः-यज्ञ ग्निः-तूलाग्निः-विश्वग्निः-वितानवेदः

} यज्ञाग्निः

इन चारो अग्निषों के कार्य सर्वथा नियत हैं । विधेरण और प्रतिष्ठा यह दो काम स्वाय-
म्भुव ब्रह्माग्नि के हैं । क्षरपरमाणुओं को एक स्थान पर बद्ध रखना विधेरण है , पदार्थ को संघ-
ठित रखना विधेरण है । यह काम प्राणरूप ब्रह्माग्नि का है, अतएव प्राण को विधर्त्ता कहा
जाता है । प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार का टहराव होता है । पाषाणादि में यह टहराव अधिष्ठा
है । तूलादि (रूई-हवा आदि) में टहराव कम है । विद्युत् में ओर भी कम है । पदार्थों में तार-
तम्य से रहने वाला यह टहराव ही प्रतिष्ठातत्त्व है । 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' के अनुसार
प्रतिष्ठाधर्म ब्रह्माग्नि का ही है । प्रतिष्ठा और विधेरण ब्रह्माग्नि के साक्षात् दर्शन हैं । दूसरा है
देवाग्नि । रूप और विकास यह दो धर्म सौर देवाग्नि के हैं । पुष्पकलिका आगे जाकर विक-
सित होती है, खिल जाती है, स्वस्थ मनुष्य का चेहरा खिला रहता है । वस्तुभाव का यह
प्रसादभाव ही विष्णु है, इसका प्रवर्त्तक इन्द्रप्रधान सौर अग्नि ही है । सारी प्रजा सूर्योदय से
विकसित होजाती है । रात्रि के तम से संकुचित पदार्थ सौर प्रकाश से खिल पड़ने हैं । सौर-
इन्द्रमय अग्नि ही 'रूप रूप मयया बोधवन्ति' के अनुसार सप्तरूप कि वा अनन्त रूपों (रंगों)
का अधिष्ठाता है । अतएव सूर्य को 'पृष्टिण' कहा जाता है । रूप और विकास देवाग्नि के
साक्षात् धर्म हैं । तासरा है पार्थिव भूताग्नि । पाक और विलयन इसके स्वाभाविक धर्म हैं ।
दस प्रकार के सोमो में एक सोम 'वृत्र' नाम से प्रसिद्ध है । इस वृत्र सोम की घन-तरल-
विरल-गुणा भेद से चार अवस्थाएँ हैं । यही चारो अवस्थाएँ विज्ञानभाषा में क्रमशः ध्रुव-धर्म-
धरुण-धर्म इन नामों से प्रसिद्ध हैं । इनमें ध्रुवसोम अश्मसोम कहलाता है । पाषाणादि
घन पदार्थों की स्वरूपनिष्पत्ति इसी अश्मसोम से होती है । तरलसोम तरलता का प्रवर्त्तक
है । पानी-घृत-आदि में इसी की प्रधानता है । वायु-प्राण- आदि में विरल सोम की प्रधा-
नता है । आत्मा में गुणसोम प्रतिष्ठित रहता है । अश्मसोमप्रधान अन्नादाग्नि पदार्थों का परि-
पाक करता है, तलसोममय वही अग्नि पदार्थों को पिघला देता है । कर्पूर अग्नि की पाका-
वस्था है, पिघला हुआ कर्पूर अग्नि की विलयनावस्था है । अग्नि ही संघात करता है, अग्नि ही
विलयन करता है, जैसा कि 'अपां संघातो विलयन च तेजः-संयोगात् (वै० द०) से स्पष्ट

है । यह दोनों धर्म अन्नादाग्नि के हैं । चौथा है मिश्र, वस्थापन्न यज्ञाग्नि नाम का वैश्वानराग्नि । ताप और दाह यह दो इसके स्वाभाविक धर्म हैं । गरमी मालुम होना—वस्तु को जला डालना दोनों काम वैश्वानर के हैं । हम शरीर को जहां से छूते हैं गरम पाते हैं । यह वैश्वानर के साक्षात् दर्शन हैं । पूर्वोक्त तीन सत्याग्रियो में न ताप है, न दाह है । मौलिक अग्नि में ताप—दाह का नितांत अभाव है । ताप और दाह वर्षणाधीन है । संवर्ष से ही ताप उत्पन्न होता है, संवर्ष से ही दाह होता है । सत्याग्नि निराकार है । उसमें संवर्ष कयमपि संभव नहीं है । संवर्ष होता है पार्थिव त्वाग्रियो में । इसी से ताप दाहलक्षण वैश्वानर उत्पन्न होता है । इस प्रकार इन धर्मों से युक्त चारों अग्नि विश्व का स्वरूप संपादन कर रहे हैं ।

अग्निः—प्रजापतिः—

१-विधरणम्	}	ब्रह्माग्निः स्वायम्भुवः	}	सत्याग्निः (अमृतग्निः)		
२-प्रतिष्ठा						
—++—						
१-विकासः	}	देवाग्निः-सौरः				
२-रूपम्						
—++—						
१-पाकः	}	भूताग्निः-पार्थिवः				
२-विलयनम्						
—++—						
१-तापः	}	यज्ञाग्निः-वैश्वानरः	}	यज्ञाग्निः (अर्याग्निः)		
२-दाहः						
—++—						

अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो यत्पर्यमासीदूर्ध्वममृतम्

इन चारों अग्निषों से चार प्रकार का भिन्न भिन्न पानी उत्पन्न होता है । कारण पानी उत्पन्न करना अग्नि का स्वाभाविकधर्म है । स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि से पारमेष्ठ्य अम्भ नाम का पानी उत्पन्न होता है । यही पवित्रतम पानी भागीरथी का स्वरूपसमर्पक बनता है । सौर देवग्नि से वरीचि नाम का पानी (दिव्य पानी) उत्पन्न होता है । यही दिव्यपानी यमुना जल का स्वरूप समर्पक बनता है । पार्थिव भूताग्नि से मर नाम का पानी उत्पन्न होता है , एवं आन्तरिक्ष चान्द्र प्राणमय वैश्वानर से श्रद्धा नाम का पानी उत्पन्न होता है । इन्हीं चारों का स्वरूप बनलाने हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

“आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्ना यत् क्रिञ्चन मियत् । स ईतत-जोका-न्नु
सृजा इति स इषाँल्लोकादसजत- अम्भो मरीचिर्मरमापः अदोऽम्भः परेण
दिवं यौः प्रतिष्ठा । अन्तरितं मरीचयः । पृथिवी मरः । या अधस्तात्ता आपः
(श्रद्धा वा आपः)” (ऐ० उ० १ ख० १-२-) इति ।

यह है आधिदैविक जगत् की स्थिति । “ यदेवेह तदमुत्र-यदमुत्र तदन्विह ” के अनुसार उक्त चारों अग्निएं हमारे शरीरमें भी प्रतिष्ठित हैं । एवं यहा भी इन चारों से चारों पानी उत्पन्न होते हैं । किसी कार्य सिद्धि के लिए मनुष्य जब परिश्रम करने लगता है तो इस से स्वायम्भुव प्राणाग्नि जुग्ध हो पड़ता है । प्रतिष्ठाभाव शिथिल होने लगता है । अतएव परिश्रम के अनन्तर थकान मालुम होने लगती है । प्राणाग्नि के विधरणशक्ति, और प्रतिष्ठाशक्ति के हास ही का नाम थकान है । इस परिश्रम से सबसे पहिले ललाट पर पसीने आते हैं, जैसा कि अनुपद में ही स्वेदवेदोत्पत्ति में बतलाया जाने वाला है । अत्यधिक परिश्रम से सारे शरीर में पसीने चूने लगते हैं । प्राणाग्नि के तप से पसीने निकलते हैं, यही कार्यसिद्धि की प्रथमभूमिका है । इसी आधार पर लोक में “ अमुकने अमुक कार्य के लिए पसीना बहाया है ”—अजी ! पसीने की कमाई है ’ ऐसी किंवदन्तिएं प्रचलित हैं । शिरोगुहा स्वायम्भुवी है । अतएव तत्प्रतिष्ठ ब्रह्माग्नि के जोन से सर्वप्रथम ललाट में ही पसीने आते हैं ।

यदि मनुष्य प्रेमविभोर हो जाता है तो आंमू निकल पड़ते हैं । इन्हीं को 'प्रेमाश्रु' कहा जाता है । प्रेमाश्रु से आत्मा में एक प्रकार का शान्ति का उदय होता है । यह सौगमि की कृपा है । सौगमि बुद्धि का अनुमाहक है । बुद्धि और मन साथ रहते हैं । बौद्धसोर अश्रुओं की वर्षण से मन पर आघात होता है । मन पिघल पड़ता है । वही मनोरेग अश्रुरूप में परिष्कृत होकर आंखों से बहर निकल पड़ता है । प्रेम कैसा-दिग्ग, पवित्र, सात्विक । मनप्रधान प्रेम जहां दुःख का कारण है, वहां बुद्धिप्रधान प्रेम आनन्द का वागण है । लौकिक विषयप्रेम दुःख का प्रवर्तक बनता हुआ शोक में ही अन्तर्भूत है । तीसरा है पार्थिव भूताग्नि, कि वा पाशुपाग्नि । यही पशुपति रुद्र है । यह अर्थशक्ति के अधिष्ठाता हैं, भूतपति हैं । रुद्रना इनका स्वाभाविक कर्म है, अनन्त-‘मोऽग्नेदीर् नदुरुग्र्य रुद्र वम’ के अनुसार रोदनकर्म के अधिष्ठाता यह पार्थिव भूतपति रुद्र नाम से प्रसिद्ध हैं । अज्ञान में (मानविक विषयों में) अत्यधिक आवृत्ति करने से मोह का उदय होता है । यह मोह विज्ञानशक्ति (सौगमि) को निर्वल बनता हुआ मन को सुख बनत हुआ सज्जानोप सवन्ध से अर्थशक्ति प्रवर्तक पार्थिव भूताग्नि का अनुमाहक बनता हुआ पार्थिवग्नि को लुब्ध का डालना है । इस क्षोभ में जो रोद पानी उत्पन्न होता है, वही शंकाश्रु नाम से प्रसिद्ध है । यदि यह पानी शरीर में ही रह जाता है तो वैचित्र्य (पागन-पन) राजयक्ष्मा आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं । दुःख के अत्यन्तिक वेग से यही रुद्र सहार के कारण बन जाते हैं । जिसे रोना आता हो, उसे जीभर के रोलेना चाहिये । खूब अश्रुपात करने चाहिए । इससे शरीर हलका हो जाता है । जो मनुष्य इन आसुओं को पों जाते हैं-वे अवश्य रोगी बन जाते हैं । चौथा वैश्वानराग्नि है । मूत्रादि की उत्पत्ति इसी अग्नि से होती है ।

उक्त अग्निवर्षा से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि पानी अग्नि से उत्पन्न होता है । मीथ के अनन्तर वर्षा का आगमन प्रकृतिसिद्ध है । अग्नि में ताप है, पानी में ताप नहीं-यह ठंडा है । वस्तुतः अग्नि ही तो पानी बना है, अतएव पानी को ठंडा अग्नि (ठंडी आग) कहा जाता है । प्रकारान्तर से विचार करिए । परिश्रम-प्रेम-शोक भेद से अस्वास्थ्यसंस्था में तीन ही प्रकार के पानी प्रधानरूप से उत्पन्न होते हैं । सत्ताटवेद परिश्रमजन्य है । इसका

प्रभव स्वायम्भुव अग्नि है । शरीर में मूलद्वार से नाभि पर्यन्त पृथिवीलोक है, यही वस्तिगुहा है । हृदय पर्यन्त अन्नरित्तलोक है, यही उदरगुहा है । हृदय से कण्ठ पर्यन्त द्युलोक है, यही उरोगुहा है, यही सूर्यलोक है । मस्तक चौथा पारमेष्ठ्यलोक है, यही शिरोगुहा है, यही स्वयम्भू भगवन् प्रतिष्ठित हैं । इसी ब्रह्मप्रजापति की सत्ता से केशान्तस्थान 'ब्रह्मरन्ध्र' नाम से प्रसिद्ध है । परिश्रम से इनके वाक् भाग पर आघात होता है, पानी उत्पन्न होजाता है । इसी का नाम पसीना है । इसी को हमने 'अम्भः' कहा है ।

सूर्य देवाग्निमय वतलाया गया है । इसी को शुक्राग्नि भी कहते हैं । मण्डप्रकरण में चन्द्रमा 'पन्थी' प्रह नाम से सूर्य शुक्रप्रह नाम से प्रसिद्ध है । प्रेमानन्द में एवं शोक में दोनों में अग्नि शुब्ध होता है । इस से मन पवित्र जाता है । यद्यपि मनोस सभी इन्द्रियों से निवृत्त है, परन्तु इसका प्रधान विनिर्गम स्थान चक्षु ही है । अतएव चक्षुस्य बिन्दुको मानस (लोकभाषा में 'माण्ड्या' नाम से प्रसिद्ध) कहा जाता है । अतएव दोनों पानी मन के द्वारा चक्षु से ही बाहर निकलते हैं । मन चान्द्र है । चन्द्रमा सोम रमय है, अश्रुमूर्ति है । यदि पवित्र सोम अग्नि का इस पर आघात होता है तो चान्द्रमन द्रुत होता है । इस द्रुति में प्रेमका उद्रेक है । अतएव इसे 'प्रेमःस' कहा जाता है । इस रसका प्रस्रवण कुल पांच भागों में विभक्त है । वे पाँचों रसना-वन्धाएं श्रद्धा-वा-पल्ल-स्नेह-काप-रति इन नामों से प्रसिद्ध हैं । हमारा मनोस यदि गुरु-पिता-माता-ज्येष्ठभ्राता विद्वान्-तपस्वी-आदि पूज्यो की ओर जाता है तो इस परानुयोगिक-अवप्रतियोगिक प्रेम को 'श्रद्धा' कहा जाता है । यदि हमारा मन पुत्र-सेवक-आदि छोटे की ओर जाता है तो यह अवप्रानुयोगिक परप्रतियोगिक प्रेम वात्सल्य कहलता है । इन दोनों में एक वा आसन उचा है, एक का नीचा है । श्रद्धा में प्रेम करने वाला अवप्रकृता में है, जिन के साथ प्रेम किया जाता है, वे उच्चकृता में हैं । वात्सल्य में प्रेम करने वाला उच्चकृता में है, जिन के साथ प्रेम किया जाता है, वे अवप्रकृता में हैं । दो अभिन्नमित्रों का पारस्परिक प्रेम 'स्नेह' नाम से प्रसिद्ध है । यह प्रेम 'समानप्रतियोगिक समानानुयोगिक' है । यहां दोनों समान हैं । श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह तीनों प्रेमों में प्रेम करने वाले भी चेतन हैं, एवं

जिन के साथ प्रेम किया जाता है वे भी चेतन हैं । परन्तु पुस्तक-मकान-वित्तादि अन्य स्थावर संपत्ति के साथ जो हमारा प्रेम है, उसमें केवल 'धाम' का विकास है । जड़वस्तु के साथ प्रेम करना ही काम है । उक्त चारों प्रेमों का यदि एक ही स्थान में समावेश होता है तो—'रति' नाम के अपूर्वभाव का उदय होता है । रतिप्रेम के अधिकारी विश्व में केवल दो ही हैं । श्री और ईश्वर इन दो के साथ ही रतिप्रेम घटित होता है । श्री को हम घर का अधिष्ठाता समझते हैं । गृहलक्ष्मी को हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं । साथ ही में पुत्रादिवत् श्रीर हमारा वास्तव्यभाव भी रहता है । श्री एक सन्मित्र का भाति उचित परामर्श देने वाली जीवनसङ्गिनी है । सर्वथा जड़ स्त्री के वशाश, नासिका, मोह, कपोल वेशभूषा-नृपुणध्वनि आदि के साथ मनुष्य का जो प्रेमकर्षण है, वह कामरूप है । यही रति है । जब तक यह रति श्री के साथ है, तब तक ससार है, बधन है । यही रति यदि ईश्वर के साथ हो जाती है, जोकि रति भक्तसंप्रदाय में 'प्रेमाभक्ति' नाम से प्रसिद्ध है तो मुक्ति है । बधन मुक्ति का यही रहस्य है । अनादरुद्राग्नि के आघात से जो पानी निकलता है, वही शोकाश्रु है । प्रकृतिमण्डल में इसी रुद्राग्निजन्य पानी से रजत (चाँदी) का निर्माण होता है । चाँदी रुद्र के आसुओं में बनी है । इसी लिए—'वर्हिषि रजत न देयम्' यह आदेश है । वर्हि में यदि यजमान रजत दक्षिणा दे देगा तो एक वर्ष के भीतर भीतर वह महाप्रयाण कर जायगा । इसी लिए रजतदक्षिणा का निषेध किया गया है । इस प्रकार अनेक दृष्टियों से पानियों की उत्पत्ति का विचार किया जा सकता है ।

यह तो हुई प्रासङ्गिक चर्चा । अब चलें प्रकृत विषय की ओर । अभी केवल वेद-मूर्ति स्थायम्बुव प्राणमय यजुर्मात्र का साम्राज्य है । अग्नि ऋजुपन्था है । इसका प्रदेश नियत है । इस यजु के वाक् भाग से जो तत्त्व उत्पन्न हुआ वह ऋजु न रहा अपितु व्याप्त होगया । पानी की बुद आप जहाँ भी ढालेंगे, वह नियत प्रदेश में न रहकर चारों ओर फैल जायगी । इसी आपत्ति, किंवा व्याप्तिभ्रम से यह उत्पन्न तत्त्व 'आप' नाम से व्यवहृत हुआ है । वेदत्रयी के बाक्यमात्र से उत्पन्न इस 'आप' किंवा 'अप' तत्व में जाया-धारा-आप-जीवन-ऋत वेद से पाँच प्रकार के बल उत्पन्न होते हैं । इन सबकी आवासभूमि महामाया नाम का बलकोश

है, जैसा कि पूर्व की परात्परनिरुक्ति में बतल या जा चुका है। इन पाँचों बलों की उत्पत्ति में आत्मेच्छा ही प्रधान कारक है। 'उसे एसी इच्छा ही क्यों हुई।' यह अनतिप्रश्न है। हम भोजन क्यों करते हैं? इसका उत्तर है—हमें भोजन की इच्छा होनी है इसलिए। परन्तु भोजन की इच्छा क्यों हुई? इस प्रश्न का उत्तर देने में हम असमर्थ हैं। अधिक से अधिक 'ईश्वरेच्छा' कहकर पाँचा लुढ़ा लिया जाता है। जब हम हमारी इच्छा का ही उत्तर नहीं दे सकते तो ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है। ईश्वरतत्त्व अनुमान सिद्ध है। क्रिया से (वहिर्य्याप) से) प्राण का अनुमान होता है, क्योंकि बिना प्राण (अन्तर्यापार-यत्न-कृति) के बाह्ययापार नहीं हो सकता। प्राणयापार बिना इच्छा के संभव नहीं है। संपूर्ण विश्व क्रियमय है। इसका संचालन प्राण से होगा है। प्राण का उद्गम स्थान इच्छा है। साथ ही में यह सब निर्माण हमारी इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। अतएव मानना पड़ता है कि सृष्टिनिर्माण में जो कुछ वैचित्र्य उत्पन्न होता है, वह सब प्रजापति की इच्छा पर निर्भर है। वह जैसा जैसा चाहता है, वैसा वैसा ही बना डालता है। तभी तो ईशावास्यमिदं सर्वम्' इस वाक्य को यथावत् चरितार्थ होने का अवसर मिलता है। पूर्वोक्त जायादि पाँचों बलों का आधा-भूत आप उभी की इच्छा से उत्पन्न हुआ। वेद प्रजापति, किन्ना वेदावच्छिन्न षोडशी प्रजापति कामना द्वारा अपने वेद के वाक भाग में सर्व प्रथम पानी उत्पन्न करता है। पानी उत्पन्न कर 'त्रय्या विनयया सदाप प्राविशत्' शत० ६१।१।२। के अनुसार उत्पन्न आपो-मण्डल के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। इससे मण्डल (ब्रह्माण्ड) का उदय हो जाता है—'तत आशदं समवर्त्तत'। इस प्रकार अप्रविष्ट प्रजापति आगे की सृष्टि कामना से प्रेरित होकर सृष्ट्युपयोगिनी 'मै इन् पानियों से संसार को अपने ऊपर धारण करूँ' यह कामना करता है। उसी क्षण सत्यकाम सत्यसंस्वरूप प्रजापति की उक्त इच्छा से उस पानी में एक प्रकार का धुनिबल (प्रतिष्ठा बल) उत्पन्न हो जाता है। यही प्रतिष्ठाबल गोपथादि श्रुतियों में 'धारा-बल' नाम से व्यवहृत हुआ है। वास्तव में सातों लोकों को पानीने ही धारण कर रखा है। लोक सबकी प्रतिष्ठा है, लोक की प्रतिष्ठा आप् है। आप् पुरजन् ही तो लोकसृष्टि का अधिष्ठाता है—'सर्वमप्यु प्रतिष्ठितम्'।

धाराबल को उत्पन्न करने के अनन्तर—‘नै इन पानियों से सब कुछ उत्पन्न वरुं’ इस इच्छा का उदय होता है । इस इच्छा से पानी में प्रजनन शक्ति आजाती है । सचमुच संसार एवं संसार में रहने वाले पदार्थमन्त्र की उत्पत्ति पानी से ही होती है । शुक्रतत्त्व उत्पत्ति का कारण है । शुक्र पानी का ही रूपान्तर है । फेन-मृत-सिकता-शर्करा-अग्नि-हिरण्य सब पानी से बने हैं । पानी ओषधि बना है, ओषधि शुक्र बना है । इस प्रकार प्रजासृष्टि का मूलोपादान भी पानी ही है जैसा कि—‘छान्दोग्य’ की ‘इति तु एज्वभ्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति’ इत्यादि पञ्चाग्निवेद्या में स्पष्ट है । यह दूसरा बल ही विश्व एवं विश्वप्रजा की उत्पत्ति का कारण है, अतएव ‘जायने अस्या’ इस निर्वचन से इस बल को ‘जायाबल’ कहा जाता है । विशुद्ध जायाबल तत्त्वतः सृष्टि करने में असमर्थ है, जब तक कि वह अग्निरूप पुरुषबल को अपने में प्रतिष्ठित न करले । जायरूप शुक्रमय पानी मान्निश्वा की प्रेरणा से उस अग्निवेद को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर लेता है । ऐमा अग्निरहित जाया पानी ही प्रजननधर्मा है । स्त्री स्वयं जाया है, सौम्या है । सोममय जायाबल ही स्त्री का उपादान कारण है । अग्नि पुरुष है । वही इस जायाभाव से वेष्टित गर्भगत शोणित है । स्त्री का (गर्भाशयगत) शोणित साक्षात् अग्न है । यह जायाभाव से नित्य वेष्टित है । अब पुरुष के शुक्र को लोजिये । शुक्र सोमरूप जाया है । शुक्र में रहने वाली गर्मी पुरुष है । स्त्रीवत् पुरुष भी जाया है । ओषधितिक आत्मा सर्वप्रथम पुरुषशरीरस्थ शुक्रवच्छिन्न इसी जाया में गर्भधारण करता है । यही प्राणी का प्रथमजन्म कहलता है । पुरुष के सर्वाङ्ग शरीर का शुक्र पुरुषाकार को अपना आयतन बनाकर ही शोणित में आहुत होता है । शरीर के जिम प्रदेश का शुक्र आहुत नहीं होता, उत्पन्न प्रजा में उसी अङ्ग की कमा रह जाती है । शुक्र द्वा । माता के गर्भाशय में प्राणी का प्रतिष्ठित होना इस का दूसरा जन्म है । १० मास के अनन्तर एतयाभरु के प्रत्यावात से गर्भ का भूमिस्थ हो जाना इस का तीसरा जन्म है । श्रौतमर्त्त संस्कारों से निर्धूतपाप्मा बन जाना चौथा जन्म है । ‘चतुष्टयं वा इदं सर्वम्’ के अनुसार इस चतुर्थ जन्म में प्राणी सर्वत्व भावको प्राप्त होता है । इसी वृत्त्य को लक्ष्य में रखकर मङ्गि महीदास कहते हैं —

पुरुषे इ वा अयमादिनो गर्भो भवति यदेतः । तदेतत् सर्वेभ्यो—

उद्ग्रेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवान्मानं विभर्ति” (ऐ. ब्रा. २।५।१।)

जायाबलोत्पत्ति के अनन्तर ‘मैं इन पानियों से उत्पन्न विश्व में एवं प्रजा में अर्बु रूप से व्याप्त होजाऊँ’ यह इच्छा होती है । इच्छा के अव्यवहितोत्तरकाश में ही पानी में आपिबल उत्पन्न होजाता है । पानी की अप्-वायु-सोम यह तीन अवस्थाएं हैं । फैलकर इस अप्त्रयी का स्वाभाविक धर्म है । संसार के इतर पदार्थों को आप जिस निम्न प्रदेश में रख देंगे, वे उस स्थान से आगे नहीं बढ़सकेगे । परन्तु पानी-हवा-सोम में यह बात नहीं है । एक बिन्दुमात्र पानी भी जहां गिरेगा वहां से आगे फैल जायगा प्रजापति किस रूप से विश्व में व्याप्त हो रहे हैं ? इसका उत्तर यही पानी है । अर्बु रूप से प्रजापति सब पर व्याप्त हैं, अप् में ही सब का संवरण कर रक्खा है । अतएव ‘सर्वमाप्नोत तस्मादापः’ “यद्वृक्षोत् तस्माद् वाः” (शत० ६।१।१।७) इत्यादि के अनुसार इस तत्त्व को— आप्-वारि इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है । अप् तत्त्व की डरा (रस) स्थिर नहीं है, बहती हुई है, अतएव व्याप्तिलक्षणा है । इरास का प्रस्रवण ही व्याप्ति में प्रधान कारण है । अतएव पानी को ‘सरित्-डरा यस्य’ के अनुसार ‘सरिर’ कहा जाता है । सरित् ही सलिल नाम से प्रसिद्ध है । यद्यपि यह ठीक है कि यही पानी लोकरूप में परिणत होकर द्रुतभाव को छोड़देता है, उस समय यह सरिर नहीं रहता । परन्तु लोकसृष्टि के पहिले तो यह सरिर ही रहता है । अप् की इसी पूर्वावस्था को लक्ष्य में रखकर—‘आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास’ (शत. ११।१।६।१) यह कहा जाता है । ‘कस्मै देवाय इविषा विधेम’ (यजुः सं० १३।४) के अनुसार वेदमूर्ति अव्यक्त, अतएव अनिरुक्त नाम से प्रसिद्ध प्रजापति ‘क’ नाम से व्यक्त होता है । यह क (अनिरुक्त) प्रजापति पानी उत्पन्न कर सर्वत्र व्याप्त होता हुआ, दूसरे शब्दों में पानी के कारण सर्वप्रजापति किंवा निरुक्त बनता हुआ ‘अलम्’ संपत्ति से युक्त हो जाता है । क-प्रजापति की कामना को ‘अलम्’ बनाने वाला यही पानी है । अतएव “कं (अनिरुक्तप्रजापतिं) अन्नं (सर्वभावयुक्त) करोति” इस व्युत्पत्ति से पानी को ‘कमल’ कहा जाता

है। उधर कमल नाम का एक पुष्प भी है। कमलपत्र ही पुष्करपर्ण है, जैसा कि त्रयीवेद-निरुक्ति में बतलाया जा चुका है। यह भी आपोमय है। यही वेदमय अनिरुक्त प्रजापति की पहिली प्रतिष्ठा है। अतः इसे भी 'कं—घनं करोति' से कमल कहना अन्वर्थ बन जाता है। लोकसृष्टि का अधिष्ठाना पानी ही है। लोक-तु भुवने जन' के अनुसार लोक का ही नाम भुवन है। पानी ही लोक है, अतएव पानी को 'भुवन' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। बतलाना यही है कि पानी में आसिलक्षण तीसरा 'आपोवन' उत्पन्न होता है।

आपोवन के अनन्तर—'मैं इन पानियों से जीवन का मंचार करूँ—आदार्थों में जीवनीय शक्ति डालूँ' इस इच्छा से पानी में चौथा जीवनवन उत्पन्न होता है। वस्तु की स्वस्वरूप में जो स्थिति है, वही उस वस्तु का जीवन है। स्थितिविच्युति का नाम ही मृत्यु है। ठहरी हुई वस्तु में जो गतिप्रवाह है वही जीवन का सूचक है। प्रतिष्ठावल के उच्छिन्न हो जाने से जिस समय गतिवल उत्क्रान्त हो जाता है, उसी क्षण मृत्यु का साम्राज्य हो जाता है। इस मृत्युभाव को रोकने वाला यही आप्यप्राणरूप वायु है। यह कल्याणकर है, आपोमय प्राण ही कल्याण (जीवन) का अधिष्ठाना बनता हुआ आपोमय होने से 'साम्बसदाशिव' नाम से प्रसिद्ध है। यही शिव जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है। यही जीवनीय रम है। इसी के लिये 'यो वः शिवतपो रमन्मभ्य भाजयते ह नः' (यजुः सं. ११। ५१) यह कहा जाता है। हम प्राण को जीवनसत्ता का कारण समझते हैं। परन्तु वास्तव में अप्रतत्त्व का जीवनीयमही जीवन का हेतु है। जब तक प्राण में यह रम रहता है, तभी तक जीवन है। मनुष्य १५ दिन तक अन्न के बिना जीवित रह सकता है, परन्तु पानी के बिना जीवन धारण करना अशक्य है। मन के मर जाने से मृत्यु नहीं होती, प्राण निकलने से मृत्यु होती है। इस प्राण का रक्षक वही आप्यरस है। 'प्राणायाम एव नमिन् पुने जाग्रति' (प्र. उ. ४। ३) के अनुसार यह अर्वागमिन् प्राणायाम सतत जागृत रहता है। इस प्रकार प्राण में जीवनीय शक्ति डालने वाला आपोवन ही 'जीवनवन' नाम से प्रसिद्ध है।

पांचत्रं ऋतबल है। इसी ऋतबल को 'परिश्रित' भी कहा जाता है। आपो वै परिश्रितः' (शत. १।४।३।६) के अनुसार प्रत्येक पिण्ड इस ऋतबल से आक्रान्त रहने हैं। ऋत के उदर में मूर्ति प्रतिष्ठित रहती है। प्रत्येक पिण्ड को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना ऋतबल का मुख्य काम है। वस्तुपिण्ड सत्य है। वह ऋत से विरा रहता है। त्रय पिण्ड के भी प्रत्येक परमाणु ऋतरूप हैं। इस प्रकार अन्तर्तोम्या ऋत पर ही सब का पर्यवसान हो जाता है। 'ऋत नात्येति किञ्चन' यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है।

इस प्रकार प्रजापति की इच्छा से वाङ्मय स्थायम्भुव पानी में जाया-धारा-आप-जीवन-ऋत यह पांच बल उत्पन्न हो जाते हैं। इन पांचो बलों से ही पाङ्कयज्ञप्रजापति का पाङ्क-रज्ज स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। गोपथब्राह्मण के आरम्भ में ही इन बलों का चिन्नेन दृष्टा है।

१—"अद्विर्वो अहमिद सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च" →→→ इति 'धारा'	} सर्वमसु प्रतिष्ठितम्
२—"अद्विर्वो इद सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च" →→→ इति 'जाया'	
३—"अद्विर्वो इद सर्वं आप्स्यामि यदिदं किञ्च" →→→ इति 'आपः'	
४—"ऊर्क्-वा अपा रसः । ऊर्क् जीवनम्" →→→ इति 'जीवनम्'	
५—"ऋतं भूमिरियं श्रिता" →→→ इति 'ऋतम्'	

१—"सर्वमसु प्रतिष्ठितम्"—इति—धाराबलम्

२—"सर्वमद्वयः प्रजायते"—इति—जायाबलम्

३—"सर्वमापोमयं जगत्"—इति—आपोबलम्

४—"आपोमयः प्राणः"—इति—जीवनबलम्

५—"ऋतं नात्येति किञ्चन"—इति—ऋतबलम्

"आपो वै सर्वे देवाः । जाय-
मानो वै जायते एताभ्यो देवता-
भ्यः" इति निगमो भवति ।

सबसे पहिले क्या था ! उत्तर है 'वेदमय प्राणमूर्ति असत् नाम सं प्रसिद्ध सप्तपुरुष-पुरुषात्मकस्वयम्भू सत्य प्रजापति' । 'एकाकी न रमते नृद्वितीयमैकत्वं पतिश्च पत्नीच'

मन्त्रार्थ प्रकरणा



ष्टिकामुक ब्रह्म के-इच्छा तप श्रम से सुब्रह्मतत्त्व में सर्वप्रथम जाया धारा, आप, जीवन, ऋत, यह पांच बल उत्पन्न होते हैं, जैसा कि पूर्वप्रकरण में बतलाया जा चुका है। त्रयीधन प्रजापति का पहिला कार्य सुब्रह्म था, पञ्चबलोत्पत्ति दूसरा कार्य है। इच्छा-तप-श्रम का विश्राम नहीं है। तीनों व्यापार निरन्तर होते रहते हैं। फलतः नए नए पदार्थ उत्पन्न होने रहते हैं। इच्छातपादि सृष्टि-अनुबन्धों से आगे जाकर भृगुतत्त्व उत्पन्न होता है। उत्पन्न होने वाले आपोमय ब्रह्म में क्षार और मधुर यह दो रस उत्पन्न होते हैं। मधुररस आप का स्वरूपवर्म है, एवं क्षाररस (लवणरस) आश्रित वर्म है। पानी में दोनों कैसे हैं ? इस प्रश्नसमाधि के लिए पसीने पर दृष्टि डालिए। पसीना सुवेद कि वा सुब्रह्म है। पसीने में उक्त दोनों रस हैं, परन्तु हमारे पसीने में लवण रस की प्रधानता है। कारण हमारा शरीर पार्थिवभाग प्रधान है, एवं पृथिवी के मूल उपादानों में 'मृत्' नाम से प्रसिद्ध क्षारभाग की प्रधानता है। अतएव पार्थिव समुद्र क्षारप्रधान ही होता है। मधुररस अत्यल्प मात्रा है, अतएव प्रायः हमारा पसीना किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि अत्यधिक मात्रा से पसीना चूने लगता है तो उस में मधुररस अधिकमात्रा से संघटित होजाता है। वह किसी वृषास्थान में गिर कर सृष्टि का कारण बन जाता है। योषारूप हमारे पसीनों के साथ जब वायुगत वृषाग्नि का सम्बन्ध होता है तो इस योषा वृषा के मिथुनभाव से पसीनों में सूक्ष्मक्रीटाणु उत्पन्न होजाते हैं, जिनका कि दूरवीक्षण यन्त्र अथवा माइक्रोसकोप (English) से प्रत्यक्ष किया जासकता है। रूद्रायतार पवनपुत्र के इन्ही संचित पसीनों से (मत्स्यगर्भ में) सुप्रसिद्ध मकरध्वज का जन्म हुआ था। इस प्रकार जीवप्रजापति के स्वेद में दोनों रस उपलब्ध होते हैं। अतएव तत्प्रभव ईश्वरप्रजापति में भी दोनों की सत्ता माननी पड़ती है। अन्तर केवल इतना है कि वहां (ईश्वर में) मधुररस की प्रधानता है, क्षाररस अत्यल्पमात्रा में है। कारण स्पष्ट है। हमारे में पञ्चीकृत अन्नाद (पृथिवी) की प्रधानता थी, उस में पञ्चीकृत प्राण

की प्रधानता है। पञ्चीकृत प्राण में भी क्षारस्वरूपसमर्पक अन्नाद भाग (पार्थिव भाग) है, परन्तु अत्यल्पमात्रा में। इसी प्राजापत्य पानी से गांगेय पानी की स्वरूप निष्पत्ति हुई है, अतः पार्थिव पानियों की अपेक्षा गांगेय पानी अतिमधुर है, यह साक्षात् सोम है, अमृत है, जीवनीय रस है, दोष (कीटाणु) नाशक है। इसी शान्त मधुर-अमृत रसभाग से भृगुतत्त्व का विकास होता है। भर्जनशील तत्त्व ही भृगु है। इस भृगु की बन-तरल-विरल भेद से तीन अवस्थाएं होजाती हैं। घनावस्था आप नाम से, तरलावस्था वायु नाम से, एवं विरलावस्था सोम नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शब्दों में घनावस्थापन्न भृगु आप, तरलावस्थापन्न भृगु वायु, विरलावस्थापन्न भृगु सोम नाम से व्यवहृत होता है। आप तत्त्व का मधुररस ही सृष्टि का उपादान बनता है। अतएव इसे 'रेत' [उपादानद्रव्य-शुक्र] कहा जाता है। वही रेत वेदाग्नि से संतप्त बन कर भृगु रूप में परिणत होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

“ता अपः सृष्ट्वाऽन्वैक्षन्, तामु स्वा क्वायामश्यत् । तमस्येक्षमाणस्य स्वयं
रेतोऽस्कन्दत् । तदप्सु पततिष्ठत् । तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, सम
तपत् । ताः श्रान्तास्तप्ताः संत्पन्नाः सार्द्धमेव रेतसा द्वैधमभवन् । तासा
मन्या अन्यतरा अतिलवणा अपेया अस्वादयः । ता अशान्ता रेतः समुद्रं
वृत्वाऽनिष्ठन् । अथेतराः पेयाः स्वादयः शान्तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्य
तपत्, समतपत् । ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः संतप्ताभ्यो यद्रेत आसीत्,
तदभृज्यत । यदभृज्यत तस्माद् भृगुः समभवत्, तद्भृगोर्भृगुत्वम् ।
भृगुरिव वै सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद’—(गो० पू० १।३-) इति ।
‘वायुरापश्चन्द्रमा इयेते भृगवः’ [गो० पू० २।८] ।

उक्त भृगुतत्त्व में पारमेष्ठ्य आप्य प्राण [वरुण] की प्रधानता रहती है। आपोमय रेत ही भृगु-रूप में परिणत होता है, अतएव ‘तं वरुणो न्यगृह्णीत, तस्माद् स भृगुर्वारुणिः’ (ऐ० ब्रा०-३।३।४।) इत्यादि के अनुसार इसे वारुणि (वरुणपुत्र) माना जाता है। रूसोमशक्ति से यही अर्चि [प्रकाश] रूप में परिणत होता है। दीपशिखा अंगिरा है, दीपप्रभा भृगु [जलता हुआ]

सोम] है, इसी आधार पर 'अग्निषिभृगुः, संवभूव, अङ्गिराष्वङ्गिराः सम्बभूव' (.....)
 इत्यादि कहा जाता है सोमशक्ति से ही यह पदार्थों का संहनन[संघात-एकीकरण]करता हुआ
 गतिशील बनता है, अतएव 'विभ्रन्-गच्छति' इस निर्वचन से इसे भृदगु' कहा जाता है ।
 भृदगु ही परोक्षभाषा में भृगु नामसे प्रसिद्ध है । सकोच इसका स्वाभाविकधर्म है । तरला-
 बन्धापन भृगु को हमने वायु बतलाया है । इस वायु की [भागववायु की] प्राण-पवमान-
 मानरिश्वा-सविता यह चार अवस्थाएं हैं । चारों के भिन्न भिन्न कर्म हैं । आसप्रश्वासरूप
 प्राणवायु 'पवमान' है । यह पवमानवायु (Oxygen) और अम्भ नाम का प्रथम आर
 (Hydrogen) दोनों समष्ट होकर स्थूल पानी के उपदान बनते हैं, दूसरे शब्दों में पवमान
 और अम्भके रासायनिक संयोगसे पीनेवा पानी उत्पन्न होता है । यही पानी क्रियमाण-मूर्च्छित
 होने से मर' [मरणधर्मा] नाम से प्रसिद्ध है । दूसरा है मानरिश्वा वायु । मकेतभाषा के
 अनुसार माता पिण्ड का नाम है, पिता महिमामण्डल का नाम है । पिण्ड को पृथिवीशब्द से,
 महिमा को द्यु शब्द से व्यवहृत किया जाता है । सभी पिण्ड पृथिवी हैं, सभी महिमाएं द्यौं हैं ।
 सुप्रसिद्ध पृथिवी की तरह सूर्य-परमेष्ठि-स्वयम्भू आदि सभी पिण्ड पृथिवी हैं । जिस पर आप
 प्रतिष्ठित हैं, उम्मी का नाम पृथिवी नहीं है, अपितु वेदिका नाम पृथिवी है, आधारभूमि का नाम
 पृथिवी है । वेदमूर्ति प्रजापति की प्रतिष्ठा का नाम पृथिवी है । इस परिभाषा के अनुसार
 स्वयम्भू-परमेष्ठि-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी-यह पांचो पिण्ड पृथिवी हैं, पांचो ही पृथिवी होने
 से 'माता' हैं । इस माता के चारों ओर व्याप्त रहने वाला भागव वायु ही 'मानरिश्वा' है,
 जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होनायगा । अभी केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि पिण्ड
 के चारों ओर व्याप्त रहने वाला पिण्डस्वरूपसमर्पक एव रक्षक भागव वायु ही 'मानरिश्वा'
 है । जो भागव वायु सांसारिक पदार्थों को कार्यका'णभाव के लिए प्रेरित करता है, वह प्रेर-
 यिता वायु ही तीसरा 'सवितावायु' है । बिना सविता वायु की प्रेरणा के कोई भी प्राण कोई
 भी वस्तु सृष्टिमुख नहीं बन सकती । इसी आधार पर-'सविता वे देवानां प्रसविता' यह
 कहा जाता है । एवं जिस वायु से विश्व के पदार्थ गतिशील बने हुए हैं, अध्यात्मसंस्था में जो

वायु प्राण-अपान-व्यान-समान-उदान भेद से पञ्चधा विभक्त होकर गतादि संचार का कारण बनता है, वही चौथा प्राणवायु है। माधारण मनुष्य जिसे वायु कहते हैं, जिसका त्वग्निन्द्रिय से हम प्रत्यक्ष करते हैं, जिसके आवात का अनुभव होता है, जिससे मेघ-जल-वृक्षादि विधूयमान होते हैं वह वायु उक्त चारों भार्गव वायुओं से सर्वथा पृथक् तत्त्व है। इस सर्वानुभूत वायु को 'वात'(वान आवात भेषजम्) नाम से व्यवहृत किया जाता है। भार्गववायुचतुष्टयी प्राण-रूपा है, यह वातवायु भौतिक है। भार्गववायु के साथ साथ ही एक अंगिरावायु का विकास और होता है। अंगिरा से रुद्र वायु का विकास होता है। रुद्र से ४१ प्रकार के मरुदवायु का विकास होता है-[मरुतो रुद्रपुत्रामः], मरुत् वायु का विकार मारुत् है, यही वातवायु है। इसी को 'मपीग्ग' कहा जाता है। इसी का हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं। वात वायु से सर्वथा विभक्त मौलिक भार्गव वायुओं में से प्राणवायु प्रजापति के पूर्वभाग में (पूर्वादिक में) उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहा प्राणवायु का खजाना है। यहां से निकल कर प्राणवायु सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होता है। अतएव पूर्वदिकस्थ सूर्य के लिए 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' [प्र० उ० १।८।] यह कहा जाता है। मातरिश्वा वायु दक्षिणदिशा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहा से निकलकर यह सर्वत्र व्याप्त हुआ पिण्डसृष्टि का स्वरूप संपादक बनता है। पश्चिमदिशा में पवमान वायु उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसी पवमान के लिए—'पवमानो हरित आविवेश' (शत० २।२।५।५।) यह कहा जाता है। एवं चौथा सविता उत्तरदिशा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है।

उक्त चारों वायुओं में से पवमान नाम का वायु सौर ब्रह्माण्ड में आकर रुद्रसंसर्ग से पवमान-पावक-शुचि यह तीन रूप धारण कर लेता है। घोरमूर्ति रुद्र के सम्बन्ध से यह तीनों वायु घोररूप में परिणत होते हुए घोराम्नि नाम से प्रसिद्ध होजाते हैं। एकादशमूर्ति पशुपति (महादेव) की सोम आदि आठ मूर्तिएं शिव हैं, पवमानादि तीनों रुद्रमूर्ति हैं, घोरतनू है। पवमान भूषिण्ड से संक्रान्त रहता है, पावक अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता है, एवं शुक्र नाम से प्रसिद्ध सूर्यमण्डलरूप ध्रुलोकस्थ शुचि है। प्राणवायु हमें पूर्व से मिलता है, मातरिश्वा दक्षिण से,

पवमान पश्चिम से, एव सविता उत्तर में मिलता है । चारो वायु भार्गव है । चारो का उत्पत्ति-स्थान [सूर्य से ऊपर] आपोमय परमेष्ठिमण्डल है । वहा से सौरमण्डल में आकर उक्त दिशाओं में क्रमशः उक्त रूप से प्रतिष्ठित होकर उक्त वायु रोदसी त्रैलोक्य के स्वरूपसंपादक बनते हैं ।

प्राण-पवमानादि चारों वायु सोम, आप तीनों भृगु हैं । इस भृगु से आगे जाकर अथवा प्राण का विकास होता है । पानी का जो भाग भृगुरूप में परिणत होने से शेष रह जाता है, वही 'अथ-अर्वाक्-परिशिष्यते' के अनुसार 'अथर्वा' कहलाता है । यही परिशिष्ट अथर्वा-भाग आगे जाकर अग्निरा रूप में परिणत होता है । तात्पर्य यह है कि पानी में हमने मधुर और क्षार भेद से दो रस बतलाए हैं । इन में मधुररस भृगुरूप में परिणत होता है, शेष क्षारभाग अथर्वा कहलाता है । आप पानी को जमीन पर डाल दीजिये । उसका सोमप्रधान मधुर रस तो सूर्यगमिगत मधुप्रिय (सोमप्रिय) इन्द्रप्राण द्वारा आकर्षित होकर धुलोक में चला जायगा, इसी को पानी का सूखना कहते हैं । पानी के वाष्परूप में परिणत होकर उड़जाने से जमीन पर एक सुफेद सा धब्बा रह जाता है, यह माहात् क्षार है । मूत्र में क्षार विशेष मात्रा में रहता है, अतएव इसमें क्षारभाग अधिक मात्रा में शेष रहता है । मधुररस मधुररूप धुलोक के सजातीय आकर्षण से धुलोक में चला जाता है, क्षारभाग क्षारप्रधान पृथिवी के आकर्षण में यही रह जाता है । इसी परिशिष्ट क्षार का नाम 'अथर्वा' है, यही अथर्वा अग्निरा का जनक है । दूसरे शब्दों में वारुण पानी का मधुरभाग भृगु का जनक है, क्षारभाग अथर्वा की प्रतिष्ठा है । मधुररस एव क्षाररस भृगु-और अथर्वा नहीं है, अपितु इन रसोंमें रहनेवाला प्राण भृगु और अथर्वा है । प्रत्येक प्राणी के स्वेद में दोनों रस हैं । इन में मधुररस-वच्छिन्न भार्गव प्राण तो धुलोक में जाता रहता है, एव क्षाररसवच्छिन्न अथर्वाप्राण यही इसी के साथ रहजाता है । मनुष्य के वस्त्रों में, रहने के मकान में, जहा जहां यह मनुष्य जाता है उन उन स्थानों में अथर्वाप्राण अनुशयरूप से व्याप्त रहता है । इसी अथर्वासूत्र के आधार पर तान्त्रिक लोग कृत्याप्रयोग करने में समर्थ होते हैं । प्राणियों में आनप्राणी (कुत्ता) इस अथर्वा-

प्राण का परिज्ञाता है। जिस रास्ते से चोर भागता है, उस रास्ते में उसका अथर्वाप्राण अनु-
शयरूप से प्रतिष्ठित होता जाता है। कुत्ता अपनी घ्राणेन्द्रिय से अथर्वाप्राण को पहिचानता
हुआ चोर का पता लगा लेता है। अथर्वाप्राण का अंगिरा से सम्बन्ध है। अंगिरा रुधिर
में व्याप्त रहता है। इस रक्त सम्बन्ध से एक ही अथर्वासूत्र सतानधारा में प्रतिष्ठित होता हुआ
जनन-मरणाशौच का सकामक बनता है। अथर्वासूत्र द्वारा एक की अपवित्रता सारे वंशधरो
में व्याप्त हो जाती है। यह निराकारसूत्र यद्यपि चमचलुओ से नहीं दिखलाई पड़ता, परन्तु
इसके कार्यों में इसकी मत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। आपका कोई सम्बन्धी आपसे पान्सौ
कोस पर रहता है। यदि उस पर कोई विपत्ति आती है तो तत्काल आपका हृदय व्याकुल हो
पड़ता है। यह उसी अथर्वासूत्रसम्बन्ध की महिमा है। विदेशस्थ बन्धु यदि आपको याद
करता है तो आपके हिकका (हिककी) चलने लगती है। उसके नाम लेते ही हिककी बंद हो
जाती है, यह अनुभूत विषय है। छोटें बच्चों का मन अथर्वा सूत्र सोम की प्रधानता से कोमल रहता
है। एवमेव सौम्या स्त्री का भी अथर्वाप्राण निर्बल रहता रहता है, अतएव बच्चों एवं स्त्रियों पर
कृत्याप्रयोग अधिक एवं शीघ्र सफल हो जाता है। (देखिए शत० १४।६।७।१।११।)
अथर्वा अंगिरा की विक्रामभूमि है, अतएव अंगिरा को 'अथर्वाङ्गिरा' नाम से भी व्यवहृत किया
जाता है। एक ओर भृगु है दूसरी ओर अंगिरा है, मध्य में अथर्वा है ! मध्यपतित अथर्वा
का प्रधानरूप से अङ्गिरा के साथ, गौरावरूप से भृगु के साथ सम्बन्ध है। अतएव तन्मध्यपतित-
न्याय से दोनों को अथर्वा मानलिया जाता है। भृगु-अङ्गिरात्मक यह अथर्वा सुबल है। यह
उस वेदमूर्ति ब्रह्म की सबसे पहिली मन्तान है, ज्येष्ठ पुत्र है। त्रयीवेद की प्रतिष्ठा न भृगु है
न अंगिरा है, अपि तु समष्टिरूप अथर्वा है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सर्वभूत विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्यामितिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह (मुण्डक० १।१।११)।

+ इस विषय का विशद विवेचन भद्रविज्ञानान्तर्गत आशौचविज्ञान में देखना चाहिए।

अथर्वा रूक्ष है, क्षार है। इससे अङ्गिरा का विकास होता है, अङ्गिरासे अग्नि का विकास होता है। उधर भृगु स्नेह तत्त्व है, मधुररस है। अथर्वा की प्रतिष्ठा यही भृगुवेद है। अत एव भृगु को हम सोमवेद की प्रतिष्ठा कह सकते हैं। परन्तु आग्नेयी अथर्वात्रयी त्रयीवेद की प्रतिष्ठा बनती है। दूसरे शब्दों में त्रयीवेद अवस्थात्रययुक्त अग्नि, वायु, आदित्य भेदभिन्न अङ्गिरा पर ही प्रतिष्ठित है। अग्निवेद की प्रतिष्ठा अग्निरूप अङ्गिरा ही बन सकता है।

ऊपर बताया गया है कि मध्यपतिन अथर्वा दोनों में अन्तर्भूत है। अतएव परमायतः भृगु अङ्गिरा यह दो तत्त्व बच जाते हैं। एक मधुप्रधान है तो दूसरा क्षार प्रधान है। सीधे भाषा में एक (भृगु) मीठा पानी है तो दूसरा (अङ्गिरा) खारापानी है। जिस भूप्रदेश में भृगु की प्रधानता रहती है, वहाँ कृपादि का पानी मीठा होता है, एवं जहाँ अङ्गिरा की प्रधानता रहती है, वहाँ खारापानी मिलता है। दोनों ही आपोमूर्ति होनेसे 'ऋत' है, भृगु भी ऋत है, अङ्गिरा भी ऋत है। आपोमय (भृग्वङ्गिरोमय प-मेष्टी ऋत है - 'ऋतेमव प्रमेष्टी'। यद्यपि पार-मेष्ठय षण्डल में भृगु और अङ्गिरा दोनों आपोमय होने हुए ऋत ही हैं, परन्तु आगे जाकर [मौक्तिकाण्ड में जाकर] अङ्गिरा सत्यरूप में परिणत होजाता है। भृगु [आप-वायु-सोम] सदा ऋत प्रधान ही रहता है। ऋत अङ्गिरा सत्य का प्रभव बनता हुआ सत्यमूर्ति है भृगु ऋत है। स्वयम्भू प्रजापति के तप से उत्पन्न होने वाले यही ऋत सत्य (भृगु-अङ्गिरा) अहो-गात्र के परित्वरूप सवसगात्मक सूर्य के जनक हैं। यही दोनों 'प्रणाव' नाम से प्रसिद्ध रोदसी समुद्र के, एवं द्वावापृथिवीरूप रोदसीत्रैलोक्य के जनक हैं। इसी ऋतसत्यविज्ञान को लक्ष्य में ग्वकर श्रुति कहती है—

ऋतं च सत्यं चाभीद्वानपसोऽयनायत ।

ततो राश्वजायत ततः समुद्रो अर्गावः ॥ १ ॥

समुद्रादर्गावादधि सम्बन्धरो अजायत ।

अहोगात्राणि विदधद्विश्वस्य पिषतो वशी ॥ २ ॥

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो म्वः ॥ ३ ॥

[ऋक् सं० १० मं० ११० मृक्] इति ।

अथर्वा को हमन ब्रह्मा का ज्येष्ठ पुत्र कहा है । यही अथवा अग्नि-यम-आदिभ्य रूप में परिणत होकर भूः-भुवः-स्वः इन तीन लोको का प्रवर्तक बनता है । यही 'गोदमीश्वर' है । यह 'अथ-अर्वाक्' रूप अथर्वा से उत्पन्न हुआ है, अतएव रोदसी को 'अवमथाम' 'अव-गार्ध्य' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । अथर्वा से उत्पन्न होने वाला अग्नि-यम-आदि-यरूप त्रयीवेद दूसरा वेद है । यही वेद सौरमथा का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ 'गायत्री-मात्रिक' नाम से प्रसिद्ध होता है । त्रयीविद्या को माथ लेकर आपोमय ममुद्र में प्रविष्ट होने वाला पुरुष प्रजापति सर्वप्रथम इस अग्नित्रयीवेद को उत्पन्न करता है । विश्व की अपेक्षा स्वा-यम्भुवब्रह्मनिश्चित वेद प्रथमज, एवं हमारी सौरत्रिलोकी की अपेक्षा यह वेद सर्वप्रथमज है । ब्रह्मनिश्चित वेद पुरुषाविनाभूत पुरुषस्वरूपसमर्पक बनता हुआ अपौरुषेय था, परन्तु यह गायः वेद इस वेदमूर्ति पुरुष प्रजापति से उत्पन्न होने के कारण पौरुषेय है । हिरण्यमण्डलस्थ त्रयी-वन जिस सूर्य को आप देख रहे हैं, हमारे ब्रह्माण्ड में सबसे पहिले इन्हीं हिरण्यगर्भगवान् का प्रादुर्भाव होता है । इसी सौरवेदत्रयी की उत्पत्ति का क्रम बतलाती हुई वाजिश्रुति कहती है—

“तम्यां (अपौरुषेयवेद) प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽस्तयत् । सोऽपोऽसृ-
जत वाच एव (वेदवाच एव) लोकात्, वागेव साऽसृज्यत । सोऽका-
मयत-आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेयेति, सोऽनया (अपुरुषविधया)
त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्, तत आण्डं समवर्त्तत । तदभ्यमृ-
शत्-अस्त्विति । अस्तु-भूयोऽस्तु-इत्येव तदब्रवीत् । ततो ब्रह्मैव
प्रथममसृज्यत त्रय्येवे विद्या- [गायत्रिमात्रिको वदः]”

[शत० ६।१।१।१०] ।

त्रयीविद्या ही प्रजापति का पहिला अम्बैण्ड है। अनन्तर कमशः पोषाण्ड, यशोण्ड, रेनोण्ड भेद में तीन अण्ड और उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक ब्रह्म चार अण्डों में परिणत होकर 'मर्वम्' बन जाता है। चारों अण्डों की संमष्टि ही एक रोदसी ब्रह्माण्ड है। इसी का नाम सौम्यगण्डन किंवा सौमित्रिजोकी-(सौरजगत) है।

स्वयम्भुव वैश्वरूप्य 'महिमासण्डल' व्योम (परमाकाश) नाम से पारमेष्ठ्य वैश्वरूप्य समुद्र नाम से व्यवहृत होता है, एवं सौ वैश्वरूप्य ब्रह्माण्ड नामसे प्रसिद्ध है। यह ब्रह्माण्ड उस अपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में बुद्बुदरूप से प्रतिष्ठित है। एवं पारमेष्ठ्य समुद्र स्वयम्भु के वैश्वरूप्य में (परमाकाश में) बुद्बुदरूप से प्रतिष्ठित है। जैसे व्योम का अधिष्ठाता ब्रह्मनि-श्चस्मिन्वेदावच्छिन्न स्वयम्भू है, समुद्र का अधिष्ठाता सुब्रह्मावच्छिन्न परमेष्ठी है, एवमेव इस ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्न भगवान् सूर्यनारायण है। यह ब्रह्माण्ड के प्रथम अधिष्ठाता हैं। इन्हीं का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तनाग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाशरु पृथिवीं द्यामुतेषां कर्म देवाय दृविषा विधेम ॥

यजुः० म० १३।४)

“मर्वप्रथम वेदमयस्वयम्भु ब्रह्म का आविर्भाव होता है, अनन्तर उसके वाक्भाग से आपोमय मुब्रह्म का आविर्भाव होता है। मुब्रह्म भृगु एवं अगिरामय है। आप-वायु-सोन भृगु हैं, अग्नियमादित्य अंगिरा हैं। ६ओ की संमष्टि आप है। इनमें से आपोमय अगिरा से गायत्रीमात्रिक वेद उत्पन्न होता है। अंगिरा से उत्पन्न यह वेदतन्त्र सूर्यरूप में परिणत होकर उसी भृगुवङ्गिरोमय अपसमुद्र में प्रतिष्ठित हो रहा है। वेदमय सय स्वयम्भु का पहिला अवतार पानी है। इस आप का पहिला अवतार गायत्रीमात्रिक नाम

* इस विषय का विशद विवेचन हिरण्यगर्भविद्यामूलक मुण्डकोपनिषत् विमानभाष्य में देखना चाहिये।

का सत्यवेद है” यह पूर्व के सन्दर्भ से भलीभाँति सिद्ध होजाता है । साथ ही में यह भी सिद्ध होजाता है कि “आपोमय परमेष्ठी ऋत है । ऋत में ही साग सत्यविश्व प्रतिष्ठित है ऋत परमेष्ठी का कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता” । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर निम्न लिखित श्रुतिवचन हमारे सामने आते हैं—

१-“तद्यत् तत् सत्यमाप एव तत् । आपो हि वै सत्यम् । अप एव तस्य
[ब्रह्मनिश्वसितवेदसत्यस्य] अग्रमकुर्वन् । तस्माद्यदवापो यन्नि-
अथेदं सर्वं जायते यदिदं किञ्च” (शत. ७ का. १४ । १ । ६ । कं.) ।

२-“ऋतमेव परमेष्ठि ऋतं नान्येति किञ्चन ।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरिय श्रिता ॥ ”

३-‘ आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्नरंते त्रयोवन्दा भृग्वन्नङ्गिरसः श्रिताः ॥ ”

४- आप एवेदमग्र आमुः । ता आपः सत्य [गायत्रीमात्रिकवदसत्यं] अमृ-
ज्यत । सत्य ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापति, प्रजापतिदेवान्, ते देवा सत्यमित्यु-
पामते । तदेतत् त्र्यक्षरं सत्यमिति । स इत्येकमक्षरं, तीत्येकमक्षरं, अमित्येक-
मक्षरम् । प्रथमोक्षमेऽक्षरे सत्यं सत्यतोऽनृतम् । तदेतदनृतं सत्येन परिगृहीतं
सत्यभूयमेव भवति । तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यः” ।

[शत० १४ का० । ८ । ६ १-२]

ब्रह्म-वेद-त्रयी-अग्नि-सब अभिन्नार्थक है । सुब्रह्म-सुवेद-अथर्व-सोम यह सब अभिन्नार्थक है । मन्त्रोपात्त एजत्-अनेजत् तत्त्व वही ब्रह्मनिश्वसित वेद है । पूर्वप्रतिपादित चतुर्विध भार्गव वायुओं में से अन्यतम मातरिश्वा ही मन्त्रगत मातरिश्वा है । इसी मातरिश्वा से आप की उस अनेजदेजद्रूप ब्रह्म में आहुति होती है । इसी से सारे विश्व का स्वरूप सम्पन्न होता है । ‘आप’ तत्व का स्वरूप निर्वचन होचुका । संभव है आप ‘आप’ के स्वरूप विस्तार

से घबड़ा गये होंगे । अतः इस प्रकरण को थोड़ी देर के लिये यहीं छोड़ दीजिये, एवं ब्रह्म पर दृष्टि डालिये ।

पूर्व प्रतिपादित मन्त्रार्थ सम्बन्धी वेदप्रकरण से विज्ञ पाठको को यह भलीभांति विदित होगया होगा कि ब्रह्मनिश्चसिन स्वायम्भुव त्रयीवेद का यजु भाग ही सृष्टि का मौलिक तत्त्व है । ऋक्साम सहकारी मात्र है । यजु पुरुष है, ऋक्साम नपुंसक है, केवल लुप्तदोरूप है । ऋक्सामावच्छिन्न यजुर्वेदविद्या—कर्ममय अव्ययपुरुष की विकासभूमि है, अतएव इसे 'पुरुष' शब्द से व्यवहृत किया जाता है । यह यजुपुरुष द्वित्रत्न की समष्टि है । वस्तुतः इस का नाम 'यजु' वेद है । 'जृगत्कागे सरम्बन्त्या पिगाच्यां यवने स्त्रियाम्' इस कोश के अनुसार 'जृ' शब्द आकाश का वाचक है, एवं यत् शब्द वायु का वाचक है । यह वायु चतुर्द्धा विभक्त पवमान-मानरिखा आदि भार्गववायु, एवं वातवायु आदि से सर्वथा भिन्न वस्तु है । यहा का वायु शब्द ऋषि नाम से प्रसिद्ध अमृत प्राण का वाचक है । यह यत् रूप प्राणवायु विशुद्ध गतिरूप है, यही अव्यय के कर्मभाग का विकास है, जृ रूप आकाश विशुद्ध स्थितितत्त्व है, यही अव्यय के विद्याभाग का विकास है । 'यथाकाशगतो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्' गी.) के अनुसार स्थितिरूप आकाश, एवं गतिरूप वायु नित्य अविनाशूत हैं । विद्या, स्थिति, आकाश, वाक्, जृ, यह सब शब्द अभिन्नार्थक हैं । कर्म, गति, वायु, प्राण, यत्, यह सब शब्द अभिन्नार्थक हैं । यत्-और जृ-इन दोनों वस्तुओं की समष्टि यजु' वेद है । यही 'यजु' शब्द परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'यजुर्वेद' नाम से प्रसिद्ध है । इसी यजुर्वेद का निर्वचन करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

“अयं वाक् यजुर्योऽयं पवने । एष हि यज्ञेवेदं सर्वं जनयति । एतं यन्तमिद-
मनु प्रजायते तस्माद् वायुरेव यजुः । अयमेवाकाशो जृः, यदिदमन्तरि-
क्षम् । एतं आकाशमनु जवने । तदेतद्यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षं च, यत्च,
जृश्च । तस्माद्यजुः । +×× । तदेतद्यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्, ऋक-
सामे वहतः” (शत. १० को. ३।५।१-२।) इति ।

यत् और जू दोनों ही अमृत-मृत्यु भेद से दो दो भागों में विभक्त हैं । अमृत जू अमृता-काश है, अमृत यत् अमृत प्राण है । मर्त्य जू मर्त्याकाश है, मर्त्य यत् मर्त्यप्राण है । मर्त्य की प्रतिष्ठा अमृत है । अमृताकाश इन्द्र नाम से प्रसिद्ध है, अमृतप्राण प्राण नाम से प्रसिद्ध है । मर्त्याकाश वाक् नाम से, मर्त्यप्राण वायु नाम से प्रसिद्ध है । दोनों अविनाभूत हैं । अमृता-काशरूप इन्द्र, और प्राण से देवसृष्टि होती है, मर्त्याकाशरूप वाक् (जिसे इन्द्रपत्नी भी कहा जाता है), एवं मर्त्यवायु से भूतसृष्टि होती है । देव और भूत दोनों सृष्टियों के उपादान अभिन्न हैं, अतः देव-भूत का अविनाभाव सिद्ध होजाता है । गौण-प्रधानता की अपेक्षा से 'इयं देवता' 'उदं भूतम्' यह भेद व्यवहार प्रचलित है । वस्तुतः न देवता भूत के बिना रहता, एवं न भूत देवता के बिना प्रतिष्ठित रहता । इस प्रकार अपनी मर्त्यकला से भूतसृष्टि का, अमृत-कला से देवसृष्टि का अधिष्ठाता बनता हुआ ऋक्पामावच्छिन्न यजुषुरूप ही मन्त्र कुल बन रहा है—'पुरुष एवेदं सर्वम्' ।

उपनिषदर्थ का समन्वय करने वाले व्याख्याताओंने मन्त्रगत 'मातरिश्वा' वायु को 'मूत्र-वायु' समझा है । कहना नहीं होगा कि वैज्ञानिक पदार्थों के पृथक्करण को न समझने के कारण कैसी कैसी भयङ्कर भूलें होजाती हैं । मूत्रवायु तो हमारा यत् नाम का 'प्राणवायु' है । इसी को मूत्रात्मा कहा जाता है । 'वायु वै गौतम नन मूत्रम्' शत-१४ का. ६ । ७ । ५ । ' मे स्वायम्भुव वेदमस्ति मूत्रवायु ही अभिप्रेत है । मूत्रात्मा स्वयम्भु का मनोता है, देखिए ई० १३० भा० १२६ पृ० १ । ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्ररूप हृदयाक्षरों की समष्टि अन्तर्यामी है, अग्नि-सोम की समष्टि, किं वा सोमगर्भित अग्नि मूत्रात्मा है । अग्नि सत्यवेद है । यही मूत्रसत्य है । उधर मातरिश्वा भार्गववायुरूप बनता हुआ परमेश्वरी का मनोता है ।

यजुर्वेद विश्व का उपादान होने से ब्रह्म है । इसमें दो कलाएँ हैं, अतएव यह 'द्विब्रह्म' का महकारी, इसी से उत्पन्न होने वाला सुवेद सुब्रह्म है । भृगु अङ्गिरा के अवस्था भेदों से यह सुब्रह्म आप, वायु, सोम, अग्नि, यम, आदित्य इन ६ भागों में विभक्त है । अतएव इस

‘आपब्रह्म’ को हम ‘पड़ब्रह्म’ नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। द्विब्रह्म के समन्वय से सब कुछ उत्पन्न हुआ है। द्विब्रह्म का (मर्त्य) वाग्भाग (इन्द्रपत्नी) उसी प्राणरूप यत् के व्यापार से पानी बना है। यही पानी अम्भ है, वाय्वात्मक है। अतएव पाञ्चभौतिक सृष्टिक्रम में इसे ‘वायु’ कहा जाता है। ‘अग्नेरापः’ यह सिद्धान्त सर्वविदित है। एव—“तस्य वा एतस्याग्नेर्वैश्वोपनिषत्” शत. १० का. ५। १। १। के अनुसार मर्त्याकाशवाक् (इन्द्रपत्नी) मातात् ब्रह्माग्नि है। वही तो प्राणव्यापार से क्षुब्ध होकर अम्भरूप वाय्वात्मक पानी के रूप में परिणत हुआ है जैसा कि—‘वागेव सामृज्यत’ इत्यादि रूप से पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है। इस वायुमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में इसी के अङ्गिराभाग से देवाग्नि नाम से प्रसिद्ध गायत्रीमात्रिक अग्नि उत्पन्न होता है। यही पौरुषेय वेदाग्नि है, यही मूर्त्य है, ‘त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः’। सौर अग्निम् ‘मरीचि’ नाम से प्रसिद्ध है। इनके वर्षणसे मर पानी उत्पन्न होता है। मूर्च्छित मरीचि अग्नि ही मर पानी है। सौराग्नि से उत्पन्न यही पानी आगे जाकर क्रमशः आप-फेन-मृत-मिकना-शर्करा-अश्मा-अय-हिरण्य रूप में परिणत होता हुआ भूपिण्ड का स्वरूपममर्पक बनता है। इसप्रकार वह एक ही जू—[मर्त्याकाश-मर्त्यावाक् वाक् (आकाश), वायु, अग्नि, पानी, मिट्टी, इन पांच रूपों में परिणत हो जाता है। पांचो भूत वाङ्मय है। तभी तो—‘अथो वागेवेदं सर्वम्’ (ऐ०आ. ३। १। ६) ‘वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता’ (ते० आ. २। ८। ५) यह कहना चरितार्थ होता है। प्रजापति (षोडशी) उक्त वेद का आत्मा है। शब्दतन्मात्रारूप अतएव शब्दनाम से व्यवहृत वेदवाक् उस आत्मप्रजापतिरूप ब्रह्मा के निश्चास हैं, यही वेद-वाक् आकाश है, यही विश्व का मूल है। इसी वेदमूला, अतएव वेदमयी सृष्टि का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः,
वायोरग्निः। अग्नेरापः। अदभ्यः पृथिवी’ [ते. उ. २। १।]

षाट्कौशिकमिदं सर्वम्

प्रजापतिरात्मन्वी	१-१-ब्रह्मात्तरः प्राणमयः षोडशीप्रजापतिः ← 'आत्मा'	
	२-१-यन-गर्भितो जः-स्वयम्भुः → आकाशः (आकाश)	
	३-२-आपोमयं मुब्रह्म-परमेष्ठी → वायुः (वायु)	
	४-६-त्रयीधनः → मूर्यः → अग्निः [तेज]	शरीरम्
	५-४-मूर्च्छिता आपः-चन्द्रमा → आपः [जल]	
	६-५-मूर्यमयी → पृथिवी → पृथिवी [पृथिवी]	

‘अनेजदेकम्’ इत्यादि मन्त्र यजुर्ब्रह्म का निरूपण करता हुआ इसी आत्मन्वी प्रजापति का विरलेषण करता है। यजुर्ब्रह्म का अनेजत् भाग सोपाधिक विद्याभाग है, एजत् भाग सोपाधिक कर्मभाग है। चलाचलरूप विद्याकर्ममय अव्यय ही यजु है। इस यजुर्ब्रह्म की व्याप्ति कहा तक है ? उत्तर है ‘मायावत्’। जहा तक मायी महेश्वर व्याप्त है, वहां तक वेदतत्त्व व्याप्त है। तभी तो उसे ‘वेदिमूर्ति’ शब्दसे व्यवहृत किया जाता है। जहा तक मायी अव्यय व्याप्त है, वहा तक तत्त्वप्रकृतिभूत अक्षरात्मक्षर व्याप्त हैं। सुतरा आत्मक्षर के प्राणरूप विद्वानक्षर से संपन्न पञ्चीकृत प्राणपञ्चजन के विवर्तभूत वेदपुरञ्जन की सत्ता वहा तक सिद्ध होजाती है। इस मायाचक्र को सामने रखिए, मन्त्र का अर्थ कीजिए, स्थितिगतिरूपा सारी वस्तुस्थिति स्पष्ट होजायगी।

संसार में गतितत्त्व अव्ययवगति, अवयवीगति, उभयगति भेद से तीन भागों में विभक्त है। रथचक्र की गति उभयगति है। रथ का पहिया (अवयवी) भी चलरहा है, एवं पहिये के अवयव भी चलरहे हैं। कुल्लार के चक्र [चाक्] की गति अव्ययवगति है। चक्र जरा भी नहीं चलता, अव्ययव जरा भी नहीं ठहरते। पूर्वदेश परित्यागपूर्वक उत्तरदेश का संयोग करना ही

गति है। चक्र अपने नियत कीलक से अणुमात्र भी नहीं चल रहा। वह एक स्थान पर ही रहता हुआ घूम रहा है। वह क्या घूम रहा है, उस के अवयव घूम रहे हैं। एवं मन्तकभृत चक्र की गति अवयवीगति है। हम ट्रेन में बैठे हुये चल रहे हैं। हमारे अवयव नहीं चल रहे, अपि तु हम (अवयवी) चल रहे हैं। इन तीनों गतियोंमें से प्रकृतमन्त्र केवल अवयवगति का निरूपण करता है। मायावाञ्छित वेदघन ईश्वर सर्वथा स्थिर है। वृक्षवत् स्तब्ध है। एवं ईश्वरशरीर में प्रतिष्ठित यच्चयावत् पदार्थ पदार्थों के परमाणु परमाणु गतिशील है। व्यापकदृष्टि से समग्र सर्वथा स्थिर है, अचलरूप से खड़ा है। व्यष्टिदृष्टि से सब अस्थिर है। यदि व्यक्तिभाव को छोड़कर आप विश्व को अपनी दृष्टि में लावेंगे तो वह आपको सर्वथा स्थिर दिखलाई देगा, व्यक्तिभाव को सामने रखने से वही गतिशील मिलेगा। अवयवी स्थिर है, अवयव चल है, यही तात्पर्य है।

आप्त महर्षियों की दूरदर्शिता का जब हम विचार करने लगते हैं तो हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। निगूढतम जिस अध्यात्मविद्या के स्वरूप को यथावत् पहिचानना बड़ी कठिन समस्या है, ऋषियोंने व्यावहारिक (लौकिक) दृष्टान्तों द्वारा उसे इतना सरल बना रक्खा है कि उसे समझने में एक बालबुद्धि भी महज में ही समर्थ होजाय। कुम्भकार (कुम्हार) लोकभाव में 'प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध है। घट-उदशरादिमृण्मय पात्रों का निर्माण करने वाले, वर्ण में शुद्ध मनुष्य का ऋषियोंने 'प्रजापति' नाम रक्खा, जो कि प्रजापति शब्द त्रिभुवन-विधाता धाता (ईश्वर) का वाचक है। साधारण दृष्टि से विचार करने पर कुम्भकार की इस प्रजापति संज्ञा में कोई विशेष महत्व नहीं मालूम होता। परन्तु जब इस मज्ञा का सूक्ष्मेक्षण किया जाता है तो प्रतीत हो जाता है कि कुम्भकार वास्तव में प्रजापति का अवतार है। जैसी स्थिति मृष्टिनिर्माता ईश्वर प्रजापति की है, ठीक वैसी ही स्थिति इस प्रजापति (शब्द) की है। घटनिर्माणप्रक्रिया में कुम्भकार, मिट्टी, दण्ड, चक्र, सूत्र, भूषिण्ड, पानी, यह सात उद-करण अपेक्षित हैं। इस कारणसमष्टि से घटकार्य उत्पन्न होता है। इन में भूषिण्ड कुम्भकार एवं चक्र [चाक] का आधार है। कुम्भकार भी जमीन पर बैठता है, एवं चक्र भी कील के आधार पर भूषिण्डपर रहता है। कुम्भकार निमित्तकारण है, घट बनाने वाला है। सूत्र-दण्ड

असमवायिकारण हैं, मिट्टी उपादान कारण है, पानी सहकारीकारण है। कुक्षार मिट्टी में पानी डालकर उसको पिन्दमान बनाकर पिण्ड बना लेता है। अनन्तर चक्र के समीप नियत स्थान पर बैठकर चक्रपर मृत्पिण्ड रख देता है। अनन्तर कीलक से बद्ध चक्र को दण्ड से बड़े वेग से घुमाता है। घूमते हुए चक्र पर रखे हुए मृत्पिण्ड में हस्तकौशल से अपने बौद्धघट [खपालीघट] का आकार देता जाता है। थोड़ी देर में घट उत्पन्न होजाता है। निर्माण होने के अनन्तर सूत्र [डोरी—अथवा चीवर—चिथड़ा] से घट को चक्र से पृथक् कर भूपृष्ठपर सूखने के लिए रख देता है। सूख जाने पर अग्नि द्वारा उसे पकाता है। अग्नि सम्बन्ध से घट का विनाश हो जाता है। अग्नि सब से पहिले घट के मृत्परमाणुओं को विशकलित कर डालता है। इस अग्निविशकलन से परमाणुओं की सन्धि में प्रतिष्ठित पानी धूप बनकर उत्क्रान्त हो जाता है। इसी विशकलन प्रक्रिया का नाम न्यायदर्शनानुसार 'घटध्वंस' है। पानीको निकाल कर संधिस्थानों में स्वयं अग्नि अन्तर्यामि सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होजाता है। इस अग्निसंधान से रत्नपरमाणु दर्शन के शब्दों में ध्वरतघट पुनः सहित होता हुआ परिणत बन जाता है। इस प्रकार इस पिठापाक के अनन्तर घट सर्वात्मना संपन्न हो जाता है। घट का स्वरूप [आकार] सभी को विदित है। ऊपर की ओर गोलाकार मुख होता है, मध्य में विपुलोदर होता है, पैदा उठा हुआ होता है, यह तो हुई इस [कुम्भकार] प्रजापति की सृष्टि। अब चलिए उस [ईश्वर] प्रजापति की ओर।

अक्षरतत्त्वं कुम्भकार [निमित्त कारण] है। पञ्चकोशात्मक अव्ययब्रह्म भूपृष्ठ [आलम्बन] है। पूर्वोक्त सूत्रवायु ही सूत्र है। यजुर्वेद चक्र है। इसी वेद का क्षर मर्त्यभाग मिट्टी [उपादान] है। प्रजापति की ध्रुवनीति दण्ड है, इसी को 'ब्रह्मदण्ड' कहाजाता है। सुप्रसिद्ध आपोब्रह्म पानी [सहकारी कारण] है। विश्वनाभि में [केन्द्र में] यह यजुश्चक्र बद्ध है। इस की स्थिति ठीक कुक्षार के चक्र जैसी है। चक्र खूब ही घूम रहा है, परन्तु समुदाय [अवयव] सर्वथा स्थिर है। इस चक्र पर प्रजापति क्षरवेदरूप मृत्पिण्ड रखता है। यह क्षरवेद वही हमारा

सुप्रसिद्ध गायत्रीमात्रिकवेद है। यही वेद आगे जाकर घटरूप में परिणत होता है। भूः-भुवः-स्वः तीनों लोकों की समष्टि एक घट है। यही विश्वमूर्ति घट चयन यज्ञ में 'उखा' नाम से प्रसिद्ध है। भूलोक इस का बुध्न (पैदा) है, भुवर्लोक उदर है, द्युलोकोगलक्षित सूर्य मुख है। एक सवत्सर पर्यन्त इस घट में अग्नि गूँवता रहता है। अनन्तर उम का चयन होता है। त्रिलोक्यरूप उखा (घट) के परमाणु परमाणु में अग्निचिति हो जाती है। यही चिति संश्रियानों से पाँच भागों में विभक्त हो जाती है। चिति से घट सर्वात्मना संलग्न हो जाता है। इसी प्राजापत्य घट का दिग्दर्शन कराती हुई अग्निहस्त्यश्रुति कहती है—

१- 'इमे वै लोका उखा' [श० ७.५.२।१७]

२- 'प्राजापत्यमेतत् कर्म यदुखा' [श० ६।१।२।३।]

[शतः ६।७।१।२३॥ ७।५।२।३॥ ६।२।२।७॥]

प्राजापति से निर्मित सारी पार्थिव प्रजा घटस्वरूप में परिणत होकर ही प्रतिष्ठित हो रही है। इस प्रकार कुम्भकारसृष्टि एवं प्राजापत्यसृष्टि दोनों समानधर्मी हैं। इसी सृष्टिरहस्य के शिखण के लिए ऋषियों ने कुम्भकार की 'प्राजापति' मन्त्र रक्खी है। स्वयं मार्कण्डेय ने कुम्भकार के चक्र से ब्रह्मविद्या का स्वरूप पहिचानते हुए कुम्भकार को अपना गुरु माना था। सवमुच जो स्वरूप इस प्राजापति के चक्र का है, वही स्वरूप इस यज्ञचक्र का है। वह गोल है तो 'सर्वतः पाणिपदं नृ' के अनुसार यह भी वर्तुलवृत्त है। वह घूमता हुआ समुदाय रूप में स्थिर है तो यह भी अवयवदृष्ट्या एजत् बनता हुआ समुदायदृष्ट्या अनेजत् है। मानो हमारा यह (कुम्भकार) प्राजापति उस (ईश्वर) प्राजापति के साथ स्पर्द्धा कर रहा है। इसी आधार पर कवि की "घटाना निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः" यह सूक्ति प्रचलित है।

जैसे न चलने वाला चाक, और चलने वाले अवयव एक ही स्थान पर हैं, इसी प्रकार न चलने वाला जू और चलने वाला यन् दोनों का एक ही बिन्दु पर समन्वय है। स्थिति गति दो विरुद्धभावों का अधिष्ठाता चक्र जैसे एक है, एवमेव यत् और जू के दो होने पर भी यज्ञ-

ब्रह्म एक है । वह एक ही तत्त्व जू की अपेक्षा से सर्वथा अनेजत् है, यत् की अपेक्षा से वही एजत् है । वही एजत् है, वही अनेजत् है । वह मन से भी जवीय [तेज दौड़ने वाला] है । आधिभौतिक जगत् में तेज चलने वाला वायु है । आध्यात्मिक जगत् में वायु से भी शीघ्रगामी मन है । इन दोनों में बड़ी गति आई हुई है । जिम यत्प्राण के आगमन से वायु और मन जब शीघ्र गामी बन जाते हैं तो उस यत् के गतिवेग का क्या कहना है । वह तो स्वयं गतिरूप ही है । इस स्वयंगति की गतिमान् वायु और गतिमत् मन कैसे समता कर सकते हैं । मन में इन्द्रियुत् है, विशुद्धिन्द्र गतिशील है । मन में प्रतिष्ठा त्रय [स्थिति भाग]की अल्पता ही मन की दुर्गत गति में मुख्य काण है । उधर वह शुद्ध गतिरूप होता हुआ सचमुच 'मनसो जवीयः' है बात यथार्थ में यह है कि अनेजदेजत् की समष्टि से आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक प्रपञ्च का निर्माण होता है । फलतः आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक पदार्थों में [प्रत्येक में] स्थिति-गति दोनों भावों की मत्ता मिद्ध होजाता है । आप जिनने भी गतिमान् पदार्थ देख रहे हैं, विश्वास कीजिए (गतितात्पर्य से) उनमें थोड़ी बहुत स्थिति अवश्य है, जितने भी स्थितिमत् पदार्थ हैं उन सबमें (स्थिति के तारतम्य से) गति अवश्य है । विशुद्धगति-और विशुद्धस्थिति-रूप पदार्थ न आधिभौतिक जगत् में हैं, न आध्यात्मिक जगत् में । कारण इनका उग्रादान स्थितिगति की समष्टि है । कहीं स्थिति तत्त्व प्रधान है तो कहीं गतितत्त्व । परन्तु हैं प्रत्येक में दोनों । यदि स्थिति में से गति को सर्वथा निवाल दिया जाता है तो वह स्थिति गतिरूप में परिणत होजाता है । एवमेव यदि गति में से स्थिति सर्वथा निकल जाती है तो वह गति स्थिति-रूप में परिणत होजाती है । उदाहरण के लिए ५ मनुष्य अपने घर से ठीक नियत समय पर एक साथ बगीचे के लिए रवाना होते हैं । इनमें कुछ आदमी तो जल्दी पहुंच जाते हैं, कुछ देर में पहुंचते हैं । इसका क्या कारण ? उत्तर यही होगा कि जो शीघ्र चला वह शीघ्र पहुंच गया, जो मन्दगति से चला वह देर से पहुंचा । इसका अर्थ यह हुआ कि जिमने जल्दी जल्दी पैर उठाए वह जल्दी पहुंचा, एवं जिमने धीरे धीरे पैर उठाए वह देर से पहुंचा । निष्कर्ष यह हुआ कि जिसने अपने पैरों में स्थिति कम रखी एवं गति अधिक रखी वह जल्दी पहुंचा,

जिसने गति कम रखी एवं स्थिति अधिक रखी वह देरसे पहुंचा । इस स्थिति—गति के तात्पर्य से गति में अन्तर होगया । मान लीजिए एक व्यक्ति जहां घंटेभर में पहुंचा वहां दूसरा आध घंटे में, तीसरा १.५ मिनिट में, तीसरा पांच ही मिनिट में पहुंच गया । लीजिये चौथा आदमी दो मिनिट में ही पहुंच गया । आश्चर्य—पांचवा तो एक ही मिनिट में जा पहुंचा । एक मिनिट में पहुंचने वाला ऐसे वेग से चला कि उसने कब पैर रक्खा, कब उठाया यह अनुमान लगाना ही कठिन होगया । वह ठहरता सा न दिखाई देकर चलतासा ही दिखलाई दिया । फलतः यह सिद्ध होगया कि अपने घर से एक मिनिट में पहुंचने वाले व्यक्ति की गति (चाल) में स्थिति (ठहराव) बहुत कम थी, तभी तो वह एक मिनिट में पहुंच गया । कल्पना कर लीजिये, जिस अल्पस्थिति में नियत स्थान पर पहुंचने में एक मिनिट जायगा, यदि वह अल्पस्थिति भी उसकी गति में से निकाल दी जाय तो क्या होगा । ऐसी स्थिति में उसे एक मिनिट भी न लगेगा, अपि तु एक क्षण में ही वह वहां पहुंच जायगा । एक क्षण में नहीं पहुंचेगा, अपि तु जिस क्षण में वह घर रहेगा उसी क्षण में बगीचे में मिलेगा । इस प्रकार स्थिति के सर्वथा निकल जाने से उसकी गति स्थितिरूप में परिणत होजायगी । क्या ऐसा होना संभव है ? नहीं । स्थितिगति दोनों की समष्टि से उत्पन्न होनेवाले मनुष्य में (मनुष्योपलब्ध पदार्थमात्र में) शुद्धगति नहीं रह सकती । उस में अवश्य ही स्थिति रहती है । ऐसा तत्त्व तो केवल वह प्रजापति ही हो सकता है । मन में थोड़ी बहुत स्थिति है, परन्तु उस विशुद्धगति में स्थिति के आत्यन्तिक अभाव से जरा भी ठहराव नहीं है, तभी वह एक ही क्षण में यहां—वहां—ऊपर—नीचे—सर्वत्र उपलब्ध हो जाता है । प्रजापति के स्थितिरूप, अतएव व्यापक इसी गतिरहस्य को लक्ष्य में रखकर—‘मनमो जवीयः’ कहा गया है ।

एक पुस्तक मेज पर रखी हुई है । पुस्तक स्थिति (ठहराव)—भाव से आक्रान्त है । परन्तु विद्वान कहता है कि आप इसे चलती हुई समझिए । स्थिररूप से प्रतीयमान पुस्तक एक ही क्षण में चारों ओर जा रही है । यह गतिममष्टि ही एक दूसरी गति से अवरोद्ध होती हुई स्थितिभाव में परिणत हो रही है । आप पूर्व में बैठे हैं । पुस्तक आपसे पश्चिम रखी हुई है ।

यदि आप पुस्तक को अपनी ओर लावेंगे तो पुस्तक की पश्चिमगति निकल जायगी । दूसरे शब्दों में जबतक पश्चिमदिगति को आप पुस्तक में से निकाल न देंगे, तब तक पुस्तक पूर्व की ओर न आसकेगी । इस प्रकार स्थित पुस्तक में से गति के निकाल देने से पुस्तक की स्थिति गतिरूप में पाणित होजायगी । निदर्शन मात्र है । संसार में जितने भी स्थिर पदार्थ हैं, वे निरन्तर चारों ओर चल रहे हैं । यदि चारों ओर की गति निकाल दी जायगी तो पदार्थ की स्थिरता सर्वथा उन्मूलन होजायगी । वह पदार्थ गतिगर्भ में विलीन हो जायगा । इस निदर्शन से बतलाना यह कि विशुद्धस्थिति एवं विशुद्धगति उस मूलब्रह्म का ही स्वरूप है । यद्यपि सत्ता-दृष्टि में उसे भी विशुद्धगति, स्थितिरूप नहीं माना जासकता । कारण दोनों तत्त्व अविना-भूत हैं । तथापि विश्व और उस के पार्थक्य समझने के लिए बौद्धजगत् में उस की विशुद्धता की भावना की जासकती है । इसी बौद्धप्रत्यय को लक्ष्य बना कर ऋषि—‘मनसो जवीयः’ यह कहा है । इस से बतलाना केवल यही है कि सम्पूर्ण विश्व में उसके जैसा तो वही है ।

पूर्वकथनानुसार वही ज्योतिर्मयी देवसृष्टि का प्रवर्तक है । देवता प्राणवन् हैं । प्राण स्वयं गतिरूप अवश्य है, परन्तु इस का विकास मृत्यु में होता है । देवता भी इतर पदार्थों की तरह एक पदार्थ है । अतः गतिरूप प्राण की प्रधानता रहने पर भी इन में स्थिति का आत्यन्तिक अभाव नहीं माना जासकता । जब प्रजापति के पश्चात् उत्पन्न होने से प्राणवन् देवताओं में आशिकरूप से स्थिति विद्यमान है तो प्राण की प्रधानता से दौड़ते हुए भी देवता उस पूर्वप्रतिष्ठ (पूर्वमर्षत्) प्रजापति को केमे प्राप्त कर सकते हैं । अध्यात्मपक्ष में इन्द्रि देवता हैं । मुख्य-प्राण का विकास ही इन्द्रि हैं । आत्मा हृदय में प्रतिष्ठित है । हस्त आत्मप्रकाश इन्द्रियदेव-ताओं में आता है । इन्द्रियों के द्वार बहिर्मुख हैं । ऐसी अवस्था में प्राणेन्द्रमूर्ति प्रधानमन से संचालित इतस्ततः सासारिक विषयो की ओर अनुधावन करने वाले इन्द्रियदेवता उस पूर्वमर्षत् आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं । वह पूर्व है, यह पर है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर उपनिषत् कहती है—

पराञ्च खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्यात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैतदावृत्तचक्षुरमृतमविच्छन् ॥

(कठ० उ० २।१।१।)

इसी अभिप्राय से—‘नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्पन्’ यह कहा गया है । वह इन्द्रियातीत है, इन्द्रियागम्य है, यही तात्पर्य है ।

आत्मा हृदय में है, देवता उससे पर है । तो क्या देवता [इन्द्रियो] और देवताओं के विषय में (भौतिकपदार्थों में) आत्मा नहीं है ? इसी प्रश्न के समाधान को लक्ष्य में रखती हुई श्रुति आगे जाकर कहती है—‘नद्वावतोऽन्यानयेति तिष्ठत्’ । देवता उसे पकड़ कैसे सकते हैं, जब कि वह स्वस्थान में बैठा बैठा ही दौड़ लगाने वाले देवताओं के आगे से आगे प्रतिष्ठित रहता है । अनेजत् दृष्टया वह तिष्ठत् है, एजत् दृष्टया देवताओं का अतिक्रमण करने वाला है, जैसा कि पूर्व में स्थिति-गति का तारतम्य बतलाते हुए कहा जा चुका है । वह सर्वथा व्यापक है । उस के आशय में सब कुछ प्रतिष्ठित है, परन्तु वह किसी में प्रतिष्ठित नहीं है । ‘न स्वह नेषुते मयि’ । उस का तात्पर्य यह है कि आधेय आधार के बिना नहीं रह सकता, किन्तु आधार स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहसकता है । उसे आधेय की अपेक्षा नहीं होती ।

अवतक के सारे प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि “महामायावच्छिन्न ईश्वरस्वरूप यजुर्वेद भी ईश्वरवत् महामायावच्छिन्न होता हुआ व्यापक है ।” यह मूलवेद महेश्वर का निश्चित है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

“एव वा अग्रेऽम्य महतो भूतस्य [महेश्वरस्य] निश्चितमेतद्यद्वेदो

यजुर्वेदः सामवेदः +++ अस्यैतानि सर्वाणि निश्चितानि”

[श० १।४।४।१०] :ति ।

महतोभूत वही मायी महेश्वर है । तन्मूर्ति वेद में कोई स्थान रिक्त नहीं है । वह एक स्तब्धचक्रवत् खड़ा हुआ महावृत्त [अश्वत्थवृत्त] है । उस का एक भाग सर्वथा स्थिर है एक

आत्यन्तिक चर है । यही यजुर्वेद नाम का द्विब्रह्मप्रजापति है । इसी का निरूपण करते हुए मन्त्र के तीन पाद हमारे सामने आते हैं । विश्वनिर्माण आप् की आहुति में होगा । वह इस प्रजापति का चौथा पाद है । तीन पाद विश्वके आधार किन्तु विश्वातीत हैं । इस नित्य सिद्ध-त्रिपादविभूति विज्ञान को लक्ष्य में रखकर मन्त्रकृत ऋषि ने तीन पादों से तो विशुद्ध ब्रह्म का निरूपण किया है, एवं एक [चौथे] पाद से विश्व का निरूपण किया है । यही तो मन्त्र का मन्त्रत्व है, यही वेदवाणी का उत्कर्ष है ।

“अनेजेदेकं मनसो जवीयो, नैनदेवा आनुवन पूर्वमर्पन् ।

तद्वावनोऽन्यानन्येति तिष्ठन्॥”

उक्त त्रिपानमन्त्र सृष्टि के मूलाधार का निरूपण करता है । सृष्टि ससृष्टिभावपर निर्भर है । ससृष्टि ही यज्ञ है, एक में दूसरे का आहुत होना ही यज्ञ है, अग्नि में सोम का आधान करना ही यज्ञ है । इसी विश्वात्मक यज्ञपाद का निरूपण करता हुआ निम्न लिखित चतुर्थपाद हमारे सामने आता है—

“तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति”

द्विब्रह्म नामक यजुर्वेद के जूभाग से तप-श्रम-द्वारा पदब्रह्म नाम का अवब्रह्म [सुब्रह्म] उत्पन्न हुआ, यह कहा जा चुका है । प्रकरणसंगति के लिए केवल यही समझलेना पर्याप्त होगा कि पदार्थ की उत्पत्ति में [चाहे वह चेतन हो, या अचेतन] योनि, रेत, रेतोश्वा इन तीनों भावों की अपेक्षा रहती है । रेत उत्पत्ति का कारण है, उपादान कारण है । परन्तु विशुद्ध रेत सृष्टि करने में असमर्थ है । अन्य प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर ही यह प्रजनयिता बनता है । बीज ही वृत्त बनता है, इसमें कोई सन्देह नहीं । परन्तु भूर्गर्भ में प्रतिष्ठित हुए बिना वह प्रजनन कर्म में असमर्थ है । इस प्रकार जो द्रव्य वस्तु का उपादान बनता है—वह तो रेत है, एवं

* “त्रिपादूर्ध्व उदेत् पुरुषः पादोऽस्येहामवत् पुन ” (यजु.सं० ।

जिस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर वह अपनी प्रजनशक्ति को विकसित करने में समर्थ होता है, वह प्रतिष्ठाभूमि योनि है। बीजरूप रेत भी है, योनिरूप भूगर्भ भी है। परन्तु फिर भी काम नहीं चलता। बीज को भूगर्भ में डालनेवाला तीसरा पदार्थ [वप्ता-बीजवपनकरने वाला] और होना चाहिए। यही तीसरा तत्त्व रेत का योनि में आधान करता हुआ—‘रेतोधा’ नाम से प्रसिद्ध है। वैधयज्ञ में अग्नि योनि है, सोम रेत है, आहुति देने वाला अर्धयु रेतोधा है। रेत का आधाता योनि में रेत का आधान करता है, तदनन्तर ही प्रजासृष्टि, किंवा पदार्थोत्पत्ति होती है। सृष्टि-कामुक द्विब्रह्म प्रजापति सृष्टिनिर्माण करना चाहता है। सृष्टिप्रक्रिया में रेत-रेतोधा-योनि तीन भाव अपेक्षित हैं। इधर प्रजापति के पास सिवाय अपने आप के (ब्रह्माग्निरूप यजुर्ब्रह्म के) दूसरी वस्तु का अभाव है। इस अभाव की पूर्ति के लिए (कामना की कृपा से) उसे अपने आपको ब्रह्म-सुब्रह्म इन दो रूपों में परिणत होना पड़ता है। एक भाग से वह ब्रह्म बनता है, एक भाग से सुब्रह्म बनता है। ब्रह्म यजु है, सुब्रह्म आप है। यजु अग्नि है, यही योनि है। आप सोम है, यही रेत है। सुप्रसिद्ध भार्गव मातरिश्वा नामक वायु रेतोधा है। आहुतिरूप आपा-ब्रह्म में आप-वायु-सोम-अग्नि-यम आदिभ्य यह ६ भाग वतलाए गए हैं। इन में अगिरा नाम का यम वायु—‘यमो वै अवसानस्येष्टे’ (शत. ७। १। १। ३) के अनुसार [रुद्रमूर्तियम] सृष्टि का प्रवर्तक नहीं, अपि तु निर्वर्तक है, विच्छेदक है। सृष्टि शिववायु से होती है। शिववायु वही भार्गववायु है। इसकी प्राण-पवमान-मातरिश्वा-सविता इन चारों अवस्थाओं का पूर्व में निरूपण किया जा चुका है। इन चारों में पिण्डस्वरूपसमर्पक मातरिश्वा वायु ही आपरूप रेत का आधान करता है। पूर्व प्रतिज्ञानुसार मातरिश्वा के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक होगया है।

माता पृथिवी का नाम है, पृथिवी शब्द पिण्डमात्र का उपलक्षण है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। प्रत्येक पिण्ड अग्निय है। यह अग्नि चित्त्य चित्तेनिधेय भेद से दो भागों में विभक्त है। चित्त्यअग्नि से वस्तुपिण्ड बनता है, चित्तेनिधेय से बहिर्मण्डल का स्वरूप सम्पन्न होता है। इन दोनों में चित्त्यपिण्ड को संकेतभाषानुसार ‘पृथिवी’ कहा जाता है, एवं चित्तेनिधेयमण्डल को दिव्यप्राण के समावेश से ‘शून्योक्त’ कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक

वस्तु में पिण्डपृथिवी, महिमाद्यो इन दो भावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है । सविता, प्राण, पवमान इन तीनों भार्गववायुतत्त्वों का महिमामण्डल से सम्बन्ध है । महिमामण्डल में तीनों प्राणवायु व्याप्त होकर पिण्ड पर अनुग्रह करते हैं । ईश्वर महिमा का विकास चित्पिण्ड के आधीन है । बिना पिण्ड के महिमा नहीं, एवं बिना मातरिश्वा के पिण्ड नहीं । माता [पृथिवीरूप पिण्ड] के चारों ओर व्याप्त रहने वाला स्थिर वायु ही मातरिश्वा है । पिण्ड निर्माण करना, निर्मित पिण्ड को स्वरूप में सुरक्षित रखना यह दोनों कार्य मातरिश्वा के हैं । आपोमय समुद्र में आपोमय वायु के प्रवेश से पानी का भाग घन हो जाता है । घनावस्थापन यही पानी 'अपांशर' [पानी की धर-मलाई] नाम से प्रसिद्ध है । यह घन परमाणु मृत्पिण्ड के उपादान बनते हुए 'पार्थिवपरमाणु' नाम से व्यवहृत होते हैं । इन्हीं के लिए—'अद्वयः पृथिवी' यह कहा जाता है । यह आपोपरमाणु, किंवा पार्थिव परमाणु उस आपोमय समुद्र में ऋतरूप से इतस्ततः व्याप्त रहते हैं । उस परिस्थिति में वही मातरिश्वावायु (जो कि ईश्वर प्रजापति का अवयव रूप होने से साक्षात् प्रजापति है) चलता है वह समुद्र में फैले हुए उन पार्थिव परमाणुओं का सकलन कर—उन पर व्याप्त होना हुआ उन्हीं पिण्डरूप में परिणत कर देता है । एककालावच्छेदेन विशकलित मय परमाणुओं को सकलित करना इसका पहिला काम है, सकलित कर पिण्डावस्थापन उस पदार्थ के चारों ओर घेरे हुए हो जाना इसका दूसरा काम है । यदि मातरिश्वा वायु एक ही समय में चारों ओर से परमाणुओं का सकलन न करे तो, दूसरी ओर से परमाणु इतस्ततः निकल जाय । ऐसी अवस्था में पिण्डस्वरूपनिर्माण असंभव होजाय । चूंकि यह मातरिश्वा वायु एक ही काल में मृत्परमाणुओं का चारों ओर से संवरण कर उस संकलित भागापन्न पिण्ड के चारों ओर स्थावरूप से व्याप्त होजाता है, अतएव इसे 'वराह' कहा जाता है । "वृणुते—(सवृणुते) इति वरः, अहोति—इति अहः, वरश्चासौ अहश्चेति वराहः" वराह शब्द का यही निर्वचन है । इस महाविश्व में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य चन्द्रमा-पृथिवी यह पांच मह पिण्ड माने जाते हैं । परिभाषा के अनुसार ज्ञानज्योतिर्मय सब पिण्ड स्वयम्भू नाम से, अज्योतिर्मय सब पिण्ड परमेष्ठी नाम से, स्वज्योतिर्मय सब पिण्ड सूर्य नाम से परज्योतिर्मय सब पिण्ड

चन्द्रमा नाम से, एवं रूपज्योतिर्मय सब पिण्ड पृथिवी नाम से प्रसिद्ध हैं । सतलोकात्मक विश्व में असंख्य पिण्ड हैं । नक्षत्रपिण्ड ही अमंख्य हैं । इन सब पिण्डों की जातिएं उक्त प्रकार से पांच ही हैं । अतः यच्चयावत् पिण्डों का स्वयम्भू परमेष्ठी आदि पांच महापिण्डों में अन्तर्भाव समझलेना चाहिये । पांचों पिण्डों का स्वरूप इसी मातरिश्वा नाम के वराहवायु से संपन्न हुआ है । यदि प्रजापति वराहरूप धारण न करते तो आपोमय समुद्र में परमाणुरूप से व्याप्त पाचो ही भूपिण्ड सदा के लिए पानी में डूबे रहते । इसी वराह की कृपा मे भूपिण्ड का उद्धार होता है । अतएव पृथिवी को वराह की पत्नी माना जाता है । स्वयम्भू आदि पांचों भूपिण्डों का स्वरूप भिन्न भिन्न है, अतएव तत्स्वरूप समर्पक, तत्संश्लिष्ट वराह भी पञ्चधा विभक्त होता हुआ पांच स्वरूप धारण करलेता है । वे पाचो वराह क्रमशः आदिवराह, यज्ञवराह, श्वेतवराह, ब्रह्मवराह, एमूषवराह इन नामों से प्रसिद्ध हैं । विश्व का आदिपर्व स्वयम्भू है, अतएव तत्सम्बन्धी वराह 'आदिवराह' नाम से प्रसिद्ध है । 'नम्पिन्नपो मातरिश्वाद्यग्नि' इस मन्त्र-भाग का मातरिश्वा पारमेष्ठ्य 'यज्ञवराह' है । यज्ञ का प्रवक्तक विष्णु अक्षर है । इस का विकासभूमि यही परमेष्ठी है । अतः विष्णुमय परमेष्ठी को हम अवश्य ही यज्ञमूर्ति कहने के लिए तय्यार हैं । अपि च—अग्नि में सोमाहुति होना ही यज्ञ है । अग्नि अगिरा है, सोम भृगु है । दोनों परमेष्ठी के मनोना हैं । स्वयम्भू का ब्रह्माग्निरूप त्रयीवेद ही वाक्भाग से आपोमय (भृगव-ह्निरोमय) यज्ञ बनता है, जैसा कि 'सैषा त्रयीविद्या यज्ञः' इत्यादि से स्पष्ट है । इन्हीं सब कारणों से हम परमेष्ठी को यज्ञमण्डल मानने के लिए तय्यार है ।

प्रजाकामुक प्रजापति सर्वप्रथम आपोमय पारमेष्ठ्ययज्ञ को ही उत्पन्न करता है । यज्ञद्वारा प्रजा का निर्माण करता है । इस आपोमय यज्ञतत्त्व को पिण्डरूप में परिणत करनेवाला मातरिश्वा 'यज्ञवराह' नाम से प्रसिद्ध है । परमेष्ठी के अनन्तर स्वस्वरूप से घोरकृष्ण, परन्तु सोमाहुति से ज्योतिर्मय बना हुआ विश्व का केन्द्रभूत श्वेत सूर्य है । इस का अवच्छेदक वायु 'श्वेतवराह' नाम से प्रसिद्ध है । प्रकृतियज्ञ में अग्नि होता है, वायु अश्वर्यु है, आदित्य उद्गाता

है, एवं चन्द्रमा ब्रह्मा है। इसी ब्रह्मात्मक चन्द्रमा का स्वरूपसमर्पक मातरिश्वा 'ब्रह्मवराह' है। भूपिण्ड का स्वरूपसमर्पक वराह 'एमूपवराह' नाम से व्यवहृत होता है। 'एमूप' शब्दमें 'आ-ईम-वस' यह तीन विभाग है। ईम-भूपिण्ड की ओर इशारा है, आ-आसमन्तात् भावका बोधक है, वस् व्याप्ति का सूचक है। 'वह इस के चारो ओर वस रहा है' एमूप का यही अर्थ है। इसी पार्थिव वराह का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

१ "तां (प्रादेशमात्रीं (पृथिवी) एमूप इति वराह उज्जयान ।

सोऽय्याः पतिः प्रजापतिः । (शत. १४।१।२।११)"

२ "स वै वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जन । (तै. १।१।३।६)"

मातरिश्वा पाचों का सामान्य नाम है, आदिवराह, यज्ञवराहःदि विशेषनाम हैं। वराह वायु रूप है। वायु अन्तरिक्ष की वस्तु है। जैसे पृथिवी में दधिरस (घनरस) का साम्राज्य है, धुलोक में मधुरस का साम्राज्य है, परमेष्ठी में अमृत (सोम) का साम्राज्य है, एवमेव अन्तरिक्षगत वायु में घृतस (ताल रस) की प्रधानता है— 'घृतमन्तरिक्षस्य' (शत.)। यद्यपि वायुप्राणप्रधान घृत सभी प्राणियों में रहता है, परन्तु इस की अतिमात्रा 'शूकर' नाम के पशु में ही रहती है। शूकर पशु उस वायुरूप आधिदैविक वराह की साक्षात् प्रतिमा है। जिस प्रकार कश्यप प्रजापति का अवतार कूर्म (कलुआ) है, एवमेव वराहप्रजापति का अवतार शूकर पशु है। अतएव इतर पशुओं की अपेक्षा शूकर में चर्वी (घृत) अतिमात्रा में उपलब्ध होती है। सब से अधिक घृत इसमें रहता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"अग्नौ (पार्थिवाग्नौ) ह वै देवा घृतकुम्भं प्रवेशयाञ्चक्रुः, ततो—

वराहः सम्बभूव । तस्माद् वराहो मेदुरः, घृतादि सम्भूतः"

[श० ५।४।१।१८]

पार्थिव अग्नि रुद्र है। यह क्रोध [मन्यु] मूर्ति है, इसी में घृताहुति होने से शूकरपशु उत्पन्न होता है। राजसूययज्ञ में दीक्षित राजा वाराहीउपानत् [शूकरचर्म के जूते] पहिनाता

है । 'पशूनां वा एष मनुष्यद्वाराहः' [तै० ब्रा० १।७।१।४]— 'वराहः क्रोधः' [गो० ब्रा० पू० २।२।] के अनुसार शूकर साक्षात् क्रोध की मूर्ति है । दो शेरों के बीच में से शूकर निर्भीक निकल जाता है, परन्तु दो शूकरों के बीच में से शेर नहीं जा सकता । उस वराह के स्वरूप ज्ञान के लिए ऋषियो ने निदान विद्या के आधार पर उन की आकृति शूकर जैसी बना डाली है । वह वराह वायु भूषण से सलग्न रहता है । यही वृत्ति तत्प्रतिकृतिभूत इस शूकर पशु की है । शूकर जब आवेश में आकर चलता है तो अपने शृंग से जमीन को कुदे-दता हुआ फाटे के साथ मृ-मृ-करता हुआ आगे बढ़ता है, यही वायु का व्यापार है । दोनों की समान वृत्ति है । पाठक यह सुनकर आश्चर्य करेंगे कि राजपूताने में हेनवाली सुप्रसिद्ध नृसिंहलीला के दूसरे दिन होने वाली वराहलीला में जो मनुष्य वराह बनता है, वह नृसिंह की तरह सींग धूमता हुआ नहीं चलता, अपितु जमीन पर लोटता हुआ सरपट चलता है । क्यों कि जिम की स्मृति में यह लीन होती है, वह वराह वायुका प्रजापति इसी तरह चलते हैं । आपोमय मण्डल असुरप्राण की आवासभूमि है । परमाणुत्वा पृथिवी विंसी समय इन असुरों के अधिकार में थी परन्तु आगे जाकर इस वराह प्रजापति की कृपा से भूषण्ड अप्समुद्र से निकल कर संवत्सगवद्विज सौदेवताओं के अधिकार में आया है । वह प्रजापति असुरों के द्वेषी हैं, देवताओं के उपकारक हैं । अतएव असुरप्रकृतिभूत पवन, दिव्यप्राणी-पकारक वराहप्रजापति की प्रतिकृतिभूत शूकरपशु को द्वेषबुद्ध से देखते हैं । भूषण्डपर जो मलभाग रहता है उसे अपनी पावनशक्ति से नष्ट करने रहता वराहवायु का स्वाभाविक धर्म है । इसी वराहवायु के लिए 'पवने' कहा जाता है । अतएव तत्प्रतिकृतिभूत शूकरपशु मलभाग का [विष्टादि का] निराकरण किया करता है । पार्थिव भौतिक भाग से अन्यजाति की सृष्टि होती है । यही वराह प्रतिष्ठित है । अतएव शूकरपशु और अन्यज [महतर-भगी] की एक वृत्ति है, मलविशेषन दोनों का समान धर्म है । शूकरपशु का पालन विशेषतः इन्हीं के घरों में होता है । इस प्रकार से यहां हमें यही कहना है कि विश्वनिर्माण का प्रधान कारण रेत का व्याधान करने वाला पिण्डसृष्टि का प्रवर्तक भार्गवविशेष वायु ही—'मानरिश्वा' है । 'अनेजदेक' योनि है, 'अपः' रेत है । 'मानरिश्वा' रेतोधा है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा ।

पूर्व में हमने यजुरूप ब्रह्माग्नि को पुरुष कहा था एवं सुब्रह्मरूप आप को स्त्री कहा था । आज इसमें ठीक विपरीत कहते हैं । अग्निरूप ब्रह्म स्त्री है, आपोमय सुब्रह्म पुरुष है । वह अग्निपुरुष स्त्री बन रहा है, यह सुब्रह्मस्त्री पुरुष बन रही है । इस वैपरीत्य का प्रत्यक्ष अनुभव मनुष्य समाज में किया जा सकता है । आप जिन्हे मनुष्य कहते हैं, वे सब स्त्रियाँ हैं, एवं जिन्हे स्त्री कहते हैं, वे सब पुरुष हैं । इसी रहस्य का प्रतिपादन करते हुए महर्षि दीर्घतमा कहते हैं—

स्त्रियः सतीम्नां उ मे पुंस आदृ पश्यः नृणां वि चेतदन्धः ।

कविर्यः पुत्रः स ईर्ष्याचक्रेत यन्ता विज्ञानात् स पितुष्पितासत् ॥

ऋक् सः १ मण्डल, अस्यवामीयसूक्त १६४, १५ म० ।

सर्वश्री मायणाचार्यने उक्त मन्त्र के आध्यात्मिक और आधिदैविक पक्ष भेद से दो अर्थ किए हैं । अधिदैवतपक्ष में सोमरश्मियों की प्रधानता मानी है । रश्मियों पर ही अर्थ धराया है । एवं अध्यात्मपक्ष में निरस्तममत्तोराधिक विशुद्ध आत्मा के माय अर्थ का समन्वय किया है । इतर वेद के प्रसिद्ध व्याख्याता यास्कमुनिने मन्त्र को आत्मगति परक लगाया है । इस मन्त्र से हम जिस अर्थ का दिग्दर्शन करने वाले हैं उसका किसी भाष्य से सम्बन्ध नहीं है, वह अर्थ स्वतन्त्र अर्थ है । मायणाचार्य ने जो अर्थ किए हैं, उनके सम्बन्ध में भी हमारी यह विप्रतिपत्ति है कि वहाँ पदार्थों का विज्ञानदृष्टि से विरलेषण नहीं हुआ है । केवल शब्दाढम्बर पर विश्राम हुआ है । इस कथन से हम अपने वेदप्रेमी पाठकों को यह सूचित करना चाहते हैं कि उपलब्ध वेदभाष्य कर्मकाण्ड की दृष्टि से भले ही उपयोगी हों, परन्तु विज्ञानदृष्टि से भाष्यार्थ अनुपयुक्त एवं अमर्यादित से प्रतीत होते हैं । उदाहरण के लिए अन्नशब्द को लीजिए । अन्नशब्द का ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अन्नमिति द्रव्यक्षरम्' यह निर्वचन हुआ है । भाष्यकारने 'अतः ज्येष्कमक्षरं, नभियेकमक्षरम्' यह निर्वचन किया है । विचार कीजिए क्या यह निर्वचन ठीक है ! अतः-और नम्-अक्षर हैं, इस सर्वविदित विषय के लिए गभीराशया श्रुतिने—'अन्नमिति-

द्रव्यन्तरम्' कहा हो—यह बात नहीं जचती । अवरय ही श्रुति किसी गूढ़ अर्थ को सूचित करती है । हमारी दृष्टि से यहां दो अक्षरो से अग्नि एवं सोम अभिप्रेत हैं । पञ्चाक्षरों में ब्रह्मा विष्णु—इन्द्र—यह तीन अक्षर सहचारी हैं, अग्नी सोम यह दो अक्षर सहचारी हैं । अग्नि की विकासभूमि सूर्य है, सोम की विकासभूमि चन्द्रमा है । सूर्यचन्द्ररस के समन्वय से अन्न का निर्माण होता है । यह अन्न ओषधि—वनस्पति भेद से दोभागों में विभक्त है । ओषधियों में सौर अग्नि गौण रहता है, चान्द्रसोम प्रधान रहता है, अतएव यह मनोबल वर्द्धक है , अतएव चन्द्रमा को ओषधियों का पति कहा जाता है , चन्द्रमा ही मन का अधिष्ठाता है । एवमेव वनस्पतियों में चान्द्रसोम गौण, सौर अग्नि प्रधान रहता है । अतएव वनस्पतिं बुद्धिर्वर्धक मानी जाती है , सूर्य ही बुद्धि का प्रवर्त्तक है । इसप्रकार ओषधि—वनस्पतिरूप उभयविध अन्न में तारतम्य से अग्नि—सोम दोनों अक्षरों की मत्ता मिद्र होजाती है । श्रुति का लक्ष्य इन्हीं दो अक्षरों की ओर है, न कि आबालवृद्ध विदित अत- और नम अक्षरों की ओर । यही दशा उपर्युक्त मन्त्रार्थ की है । यद्यपि विषय अमाकृत है, तथापि शैली के परिचय के लिए ऐतोया प्रकरण के सम्बन्ध से उक्त मन्त्र का वैज्ञानिक अर्थ पाठको के सम्मुख उपस्थित किया जाता है ।

उक्त मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में आत्मविषयिणीभावना, रश्मिविषयिणीभावना, शुक्र-विषयिणीभावना इन तीन भावनाओं की प्रधानता है । प्रकृत में शुक्रविषयिणी भावना का ही सम्बन्ध है, अतः सूचीकटाह न्याय से पहिले संक्षेप से आत्म० रश्मि० भावना का ही दिग्दर्शन कराया जाता है ।

१-आत्मविषयिणीभावना

आत्मविषयिणीभावना के सम्बन्ध में आपको ब्रह्मात्मा, देवात्मा, भूतात्मा इन तीन आत्मविवर्त्तों के सामने रखना पड़ेगा । न्यायम्भुवआत्मा को ब्रह्मात्मा कहा जाता है, सौर

१-इस विषय का विषद विश्लेषण शतपथ विशानभाष्य के प्रथम वर्ग में उपवसय ब्राह्मणभाष्य में देखना चाहिये ।

आत्मा देवात्मा है एवं पार्थिवआत्मा भूतात्मा है। उपनिषदों में स्वायम्भुव आत्मा की प्रधानता है, निगमशास्त्र [ऋक्-यजुः साम नाम से प्रसिद्ध वेदत्रयी] में सौरआत्मा की प्रधानता है, एवं आगमशास्त्र में पार्थिव भूतात्मा का निरूपण है। मौलिक सौरपदार्थों का निरूपण करने वाला ऋग्वेद है, यौगिक सौरपदार्थों का निरूपण यजुर्वेद है, एवं सौरप्राणों का पार्थिवप्राणों के साथ सम्बन्ध रहस्य बतलाने वाला वेदविभाग सामवेद है। यह त्रयीविद्या निगमशास्त्र है, इस की प्रतिष्ठा देवात्मा है। केनोपनिषद् में इन तीनों का विस्तार से निरूपण होने वाला है। अतः प्रकृत में इनके नाम मात्रों का उल्लेख कर दिया है। वहाँ (केनोपनिषद् में) 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिज्ञे' 'भूतेषु भूतेषु निचिय धीराः' यह कहा गया है। इनमें ब्रह्म ब्रह्मात्मा है, 'देवेभ्यः' देवात्मा का सूचक है, एवं 'भूतेषु भूतेषु' भूतात्मा का सूचक है।

अव्ययपुरुषालम्बनक्षरपुरुषसाधकक्षरपुरुष ब्रह्मात्मा है, यही औपनिषदपुरुष कि व औपनिषदात्मा है। बाह्यमयप्राणरूप अग्नीप्राण के समवाय से जिस अर्द्धप्राण का उदय होता है, वह इतर प्राणों का (इन्द्रियप्राणों का आत्मा है, इसी का नाम देवात्मा है। यही नैगमिक आत्मा है। जो जिसका उक्त्य-ब्रह्म-साम होता है, वही उसका आत्मा कहलाना है। यही आत्मा भूतात्मा है। इसी को आगमिक आत्मा कहा जाता है। इन तीनों में से प्रकृतमन्त्र औपनिषदात्मा ब्रह्मात्मा) का ही निरूपण करता है।

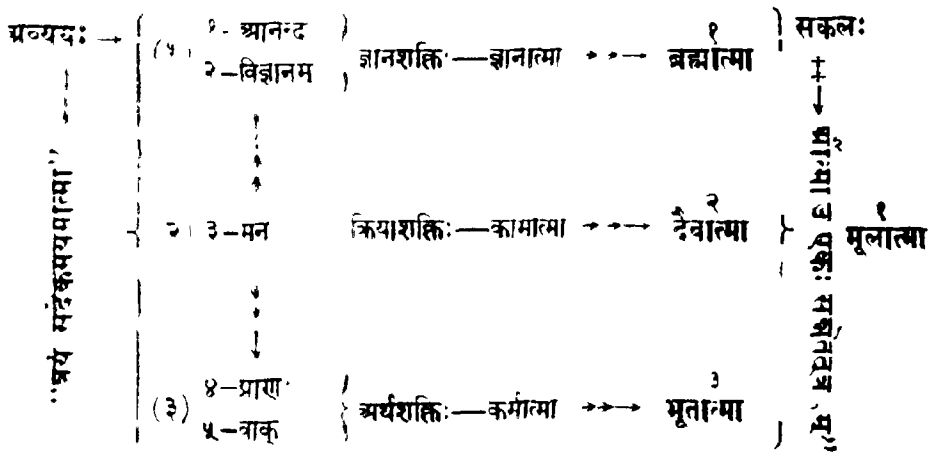
उक्त तीनों आत्मविवर्त एकमात्र अव्यय पुरुष की विभूति हैं। वही ब्रह्मात्मा है, वही देवात्मा है, वही भूतात्मा है- 'मत्तः परतरं नान्यत्'। अव्ययपुरुष की आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् यह पाँच कलाएं बतलाइ गई हैं। इन पाँचों के आनन्दविज्ञान मन, प्राणवाक् यह तीन विभाग हैं। प्रथम विभाग ज्ञानप्रधान ज्ञानात्मा है, दूसरा विभाग काम (इच्छा) प्रधान कामात्मा है, तीसरा विभाग कर्मप्रधान 'कर्मात्मा' है। ज्ञानात्मा ज्ञानशक्तिप्रधान है, कामात्मा क्रियाशक्तिप्रधान है, कर्मात्मा अर्थशक्तिप्रधान है, इसी को अन्नात्मा भी कहा जाता है याश्चाभाव का नाम अर्थ है। अन्न की ही याश्चा होती है। यह विभाग मौलिक विभाग हैं।

इसी अव्ययपुरुष से आगे जाकर अक्षर और आत्मक्षर का विकास होता है। महामाया के सम्बन्ध से हृदयबलरूप अक्षराक्षर का विकास होता है, जैसा कि पुरुषनिरुक्ति में विस्तार में बतलाया जा चुका है। अव्ययात्मा का कलाभूत कर्मात्मा प्राणवाङ्मय बतलाया गया है। इस पर कामात्मारूप मन का भी अनुग्रह रहता है। अतएव अव्ययकर्मात्मा मन-प्राण-वाक् भेद में त्रिकल बन जाता है। कर्मात्मा का अन्तर्भाग ज्ञानशक्तिघन होता हुआ ज्ञानात्मा है, प्राणभाग क्रिया-शक्तिघन होता हुआ कामात्मा है, एवं वाक्भाग अर्थशक्तिघन होता हुआ कर्मात्मा है। इस प्रकार अव्यय के केवल कर्मात्मा में भी मन-प्राण-वाक् भेद से उक्त तीन आत्माओं का भोग सिद्ध हो जाता है। दूसरा विभाग ज्ञानात्मा का है। आनन्द विज्ञान को ज्ञानात्मा कहा है। जिस प्रकार मध्यपतिन कामरूपमन का कर्मात्मारूप प्राणवाक् पर अनुग्रह होता है, एवमेव आनन्द-विज्ञानरूप ज्ञानात्मा के साथ भी मन का सम्बन्ध होता है। ऐसी स्थिति में अव्यय का ज्ञानात्माभाग आनन्द-विज्ञान-मन भेद में त्रिकल बन जाता है। आनन्द गृह ज्ञानमूर्ति बनता हुआ ज्ञानात्मा है, विज्ञान क्रियामय होता हुआ कर्मात्मा है, मन अर्थों की आधारभूमि बनता हुआ कर्मात्मा है। इस प्रकार अव्यय के केवल ज्ञानात्मा में भी आनन्द-विज्ञान-मन भेद से उक्त तीनों आत्माओं का भोग सिद्ध हो जाता है। तीसरा है मध्यपतिन काममय मन नाम का कामात्मा। जिस प्रकार अव्यय के आनन्द विज्ञानरूप ज्ञान भाग के साथ, एवं प्राणवाक् रूपकर्म भाग के साथ मध्यस्थ मन का सम्बन्ध रहता है, एवमेव मध्यस्थ मन पर भी ज्ञान-कर्मात्मा दोनों का अनुग्रह होता है। ज्ञानात्मा के सम्बन्ध से (आनन्द विज्ञान के सम्बन्ध से) मन में काम (कामना इच्छा) का उदय होता है। 'ज्ञानजन्या भवदिच्छा' यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है। कर्मात्मा के (प्राणवाक् के) सम्बन्ध से मन में आरम्भ का उदय होता है। मध्यस्थ मन काम आवरण के सम्बन्ध से लुप्त हो पड़ता है, यह दोष ही किया है। इस प्रकार केवल मन में ही काम-विज्ञेय-आवरण इन तीन वृत्तियों का उदय हो जाता है। ज्ञानानुगृहीत काममयमन ज्ञानात्मा है, कर्मानुग्रहीत आवरणमय मन कर्मात्मा है, विज्ञेयदृष्टया वही मन कामात्मा है। इस प्रकार काम विज्ञेय-आवरण के सम्बन्ध से केवल मध्यस्थ कामात्मारूप मन में भी उक्त तीनों आत्माओं का भोग सिद्ध

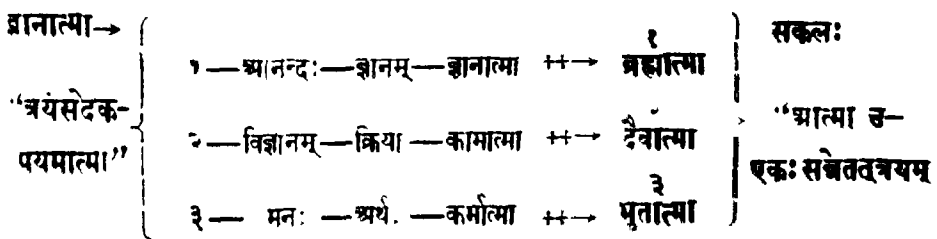
होजाता है । स्वयं पञ्चकल अव्यय त्रेधा विभक्त है । इस की प्रत्येक कला पुनः त्रेधा-त्रेधा विभक्त है । यही त्रिपादविभूति है । इस विभूति का मूलस्तम्भ आत्मा का त्रिवृद्भाव है, जैसा कि पुरुषात्माधिकरण के 'मनप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव की व्यापकता" प्रकार में विस्तार में बतलाया जा चुका है ।

महामायावच्छिन्नः-निष्कलो-मायी-अव्ययपुरुषः- सर्वालम्बनम्

अव्ययमात्मा-त्रिपात् (त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः)



१-ज्ञानात्मा (ब्रह्मात्मा-आनन्दविज्ञानमनोमयः) "त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः"



२-कामात्मा (दैवात्मा-कामविक्षेपावरणमयः) 'त्रिषादूर्ध्व उदैतपुरुषः'

कामात्मा →	१-कामः — ज्ञानम् — ज्ञानात्मा	→	ब्रह्मात्मा	सकलः
'त्रयं सदेक- मयमात्मा'	२-विक्षेपः — क्रिया — कामात्मा	→	दैवात्मा	"आ मा उ एकः सन्नतत्रयम्"
	३-आवरणम् — अर्थः — कर्मात्मा	→	भूतात्मा	

३- कर्मात्मा (भूतात्मा मनप्राणवाङ्मयः) "त्रिषादूर्ध्व उदैतपुरुषः"

कर्मात्मा →	१-मन — ज्ञानम् — ज्ञानात्मा	→	ब्रह्मात्मा	सकलः
'त्रयं सदेक- मयमात्मा'	२-प्राण — क्रिया — कामात्मा	→	दैवात्मा	"आत्मा उ एकः सन्नतत्रयम्"
	३-वाक् — अर्थ — भूतात्मा	→	भूतात्मा	

कर्मात्मा अव्यय पुरुष कामात्मा अव्यय पर प्रतिष्ठित है, कामात्मा का आल-वन ज्ञानात्मा है। ज्ञानात्मा सृष्टि का आल-वन है, कामात्मा सृष्टिमात्मी है, कर्मात्मा (प्रकृतद्वारा) सृष्टिकता है। इस कर्मात्मा का आगे जाकर अक्षर और आत्मक्षररूप अन्तर्गत प्रकृति पर अनुग्रह होता है। कर्मात्मा की ज्ञानमयी मनोकला स्वस्वरूप से, अव्ययरूप से, प्रतिष्ठित रहती है, दूसरे शब्दों में अव्ययपुरुष मनप्रधान होता हुआ ज्ञानात्मा है, ब्रह्मात्मा है। प्राणकला का अक्षर पर अनुग्रह होता है इसमें अक्षर क्रियामय बनता हुआ दैवात्मा बनजाता है। वाक्कला का अनुग्रह आत्मक्षर पर होता है इसमें अर्थमय क्षर भूतात्मा बनजाता है। इस क्रमसे ज्ञान-काम-कर्मरूप अव्यय ब्रह्मात्मा है, अक्षर दैवात्मा है, क्षर भूतात्मा है। यही त्रिषात् पुरुष की दूसरी विभूति है।

१-अव्ययपुरुषः (ज्ञानम् - ज्ञानप्रधानो मनोमयः-ज्ञानात्मा → — → ब्रह्मात्मा

२-अक्षरपुरुषः (क्रिया) - क्रियाप्रधानः प्राणमयः-कामात्मा → — → देवात्मा

३-आत्मक्षरपुरुष (अर्थः - अर्थप्रधानो अहमयः-कर्मात्मा → — → भूतात्मा

अव्ययपुरुष पुरुष है प्रजापति है । अक्षर और क्षर इसकी प्रजा है । अक्षरप्रजा देवता है, क्षरप्रजा भूत है । 'देवतानि च भूतानि च' यह प्रसिद्ध है । देवतानि देवात्मा है, भूतानि भूतात्मा है, स्वयं अव्यय ब्रह्मात्मा है । योगमाया सम्बन्ध में देवता अक्षर, और भौतिकक्षर दोनों की पांच पांच कलाएँ होजाती हैं, जिनका कि विशद निरूपण पुरुषनिरुक्ति में हो चुका है इन तीन आत्मों में अव्यय प्रधान आत्मा है अक्षर एवं क्षर विश्व है , दोनों की समष्टि त्रिपुरुष पुरुष है । अव्यय पुरुष है, अक्षर अमृत है, क्षर मृत्यु है इन्हीं तीन कलाओं का निरूपण कांती हुई यजुःश्रुति कहती है—

पुरुष एवेदं सर्वं यदभूत यच्च भाव्यम् ।

उनामृतन्वस्येशानो यदन्नेनानिगोहानि (यजु. स० ३१।४) ।

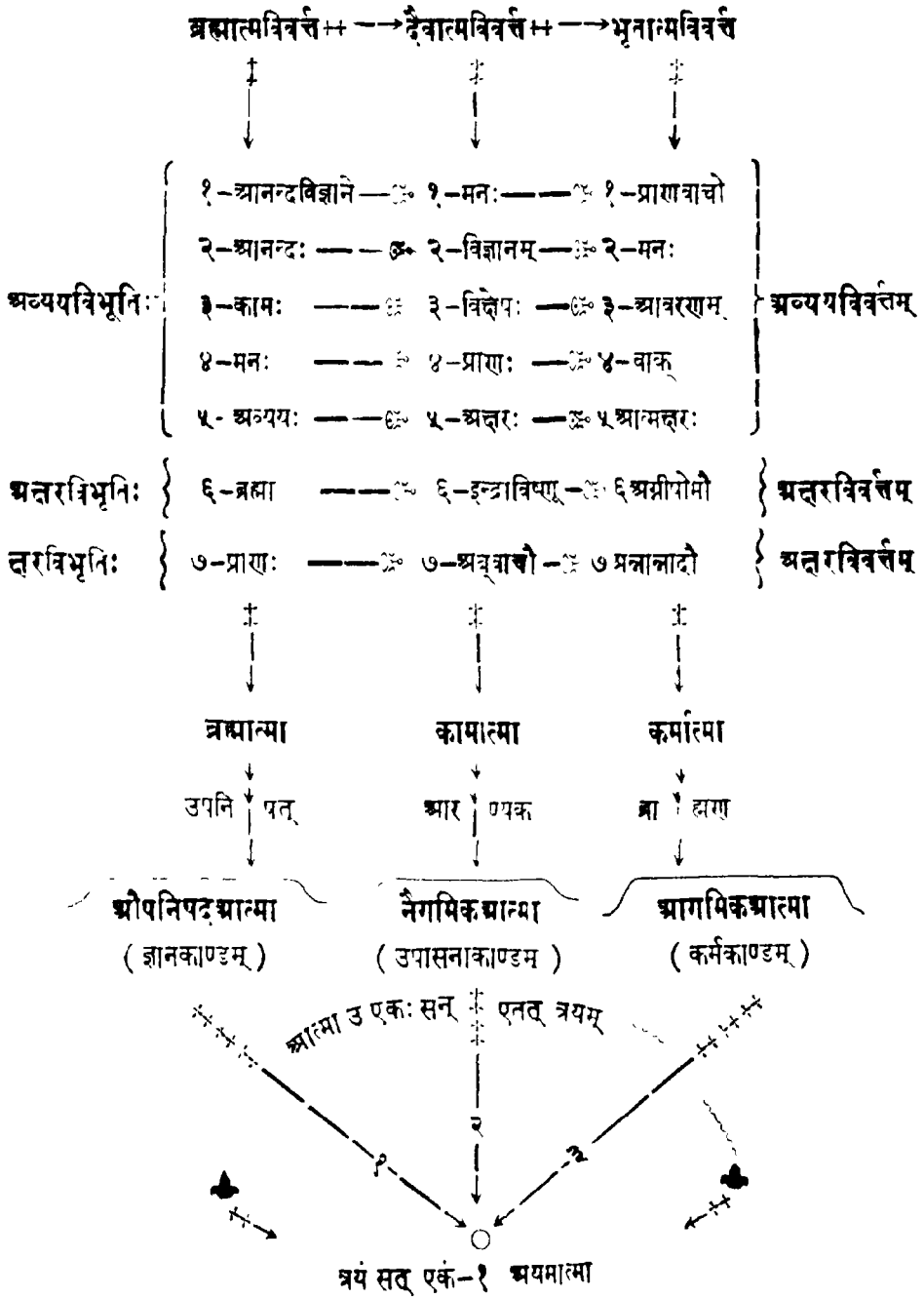
मन्त्र का पूर्वभाग अव्यय पुरुष का निरूपण करता हुआ कहता है कि आगे का साग प्रपञ्च पुरुष विभूति से व्याप्त है । पुरुष ही अक्षर बना है, वही क्षर बना है । अमृत का अधिष्ठाता अक्षर है, एवं जो अन्न से प्रवृद्ध होता है वह क्षर है । अक्षर पुरुष के लिए जहां 'न मे गति न क्लम्यति' कहा जाता है, वहां क्षर के लिए 'यदन्नेन-अनिगोहानि' यह कहा गया है । अपने कलाभेदों के कारण अक्षर और क्षर पुरुष भी पुरुषवत् विषाद्विभूति से युक्त होजाते हैं ब्रह्माक्षर अव्यय की ज्ञानकला से अनुगृहीत होता हुआ ज्ञानात्मा, किंवा ब्रह्मात्मा है इन्द्रा-विणू (दोनों अक्षर) अव्यय की क्रियाकला से अनुगृहीत बनकर कामात्मा, किंवा देवात्मा है । अग्नीषोमाक्षर अव्यय की अर्थकला से अनुगृहीत होकर कर्मात्मा, किंवा भूतात्मा है । इसी प्रकार प्राणक्षर अ-ज्ञा . से अनुग्रहीत होकर ज्ञानात्मा (ब्रह्मात्मा) है, आपवाक्क्षर क्रिया से अनुग्रहीत कामात्मा [देवात्मा] है, एवं अन्नान्नादक्षर अर्थानुग्रहीत कर्मात्मा [भूतात्मा] है । इस प्रकार अक्षर और क्षर में भी पूर्वोक्त तीनों आत्मविवर्तों का भोग हो रहा है ।

अक्षरपुरुषस्त्रिपात्

१	१-ब्रह्मा	] ज्ञानम् — ज्ञानात्मा — ब्रह्मात्मा	
२	२-इन्द्रः	क्रिया — कामात्मा — देवात्मा	"त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः"
३	३-विष्णु		
४	४-अग्निः	)	
५	५-सोमः	अर्थः — कर्मात्मा — भूतात्मा	

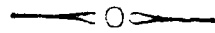
क्षरपुरुषस्त्रिपात्

१	१-प्राण	] ज्ञानम् — ज्ञानात्मा — ब्रह्मात्मा	
२	२-आप	क्रिया — कामात्मा — देवात्मा	"त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः"
३	३-वाक्		
४	४-अन्नम्	)	
५	अन्नादः	अर्थः — कर्मात्मा — भूतात्मा	

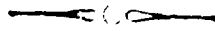


अव्यय, अक्षर, क्षरमेद से पुरुषत्रयरूप वह पुरुष विश्व में चेतन, अर्द्धचेतन, अचेतन मेद से तीन विभागों में विभक्त हो रहा है। चेतनमृष्टि उसका पहिला विवर्त है, इसका प्रधान अधिष्ठाता क्षरक्षरविशिष्ट अव्ययपुरुष [ज्ञानात्मा] है। अर्द्धचेतनमृष्टि इसका दूसरा विवर्त है, इसका अधिष्ठाता अव्ययक्षरविशिष्ट अक्षरपुरुष [कामात्मा] है। एवं अचेतनमृष्टि तीसरा विवर्त है। इसका अधिष्ठाता अव्ययक्षरविशिष्ट क्षरपुरुष [कर्मात्मा] है। चेतनमृष्टि में अक्षरब्रह्मा, एवं क्षरप्राण का सहयोग है, अर्द्धचेतनमृष्टि में इन्द्राविष्णू अक्षर, एवं आप्-वाक्क्षर का सहयोग है। एवं अचेतन मृष्टि में अग्नीसोमअक्षर, एवं अन्नानादक्षर का सहयोग है। चेतनमृष्टि ब्रह्ममृष्टि, किंवा आत्ममृष्टि है। अर्द्धचेतनमृष्टि देवमृष्टि, किंवा प्राणमृष्टि है। एवं अचेतनमृष्टि भूतमृष्टि, किंवा वाक्मृष्टि है। जैसा कि निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट हो जाता है।

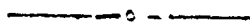
१	१-ज्ञानात्मा-अव्यय:-ज्ञानेन-चेतनमृष्टि: — ब्रह्मात्ममृष्टि:	} पोइरीपुरुषस्त्रिपान
२	२-कामात्मा-अक्षर:-कामेनार्द्धचेतनमृष्टि: — देवात्ममृष्टि:	
३	३-कर्मात्मा-क्षर:-कर्मणा-अचेतनमृष्टि: — भूतात्ममृष्टि:	



२	१-ज्ञानात्मा-अव्यय:-ज्ञानेन चेतनमृष्टि: — ब्रह्मात्ममृष्टि:	} अव्ययपुरुषस्त्रिपान
	२-कामात्मा-अव्यय:-कामेन अर्द्धचेतनमृष्टि: — देवात्ममृष्टि:	
	३-कर्मात्मा-अव्यय:-कर्मणा-अचेतनमृष्टि: — भूतात्ममृष्टि:	



३	१-ज्ञानात्मा — ब्रह्मा — ज्ञानेन चेतनमृष्टि: — ब्रह्मात्ममृष्टि:	} अक्षरपुरुषस्त्रिपान
	२-कामात्मनो-इन्द्राविष्णू-कामेनार्द्धचेतनमृष्टि: — देवात्ममृष्टि:	
	३-कर्मात्मनो-अग्नीषोमो — कर्मणा-अचेतनमृष्टि: — भूतात्ममृष्टि:	



- ४ १-ज्ञानात्मा — प्राणः — ज्ञानेन चेतनसृष्टिः — ॐ ब्रह्मात्मसृष्टिः
 २-कामात्मानो-अव्वाचो-कामेनाद्भ्यं चेतनसृष्टिः — ॐ देवात्मसृष्टिः
 ३-कर्मात्मानो-अन्नान्नादौ-कर्मणा-अचेतनसृष्टिः — ॐ भूतात्मसृष्टिः
- } चरपुरुषस्त्रिपाद

इन तीन सृष्टियों का आगे आकर सृष्टिरूप में स्वयम्भू-सूर्य-पृथिवी इन तीन पिण्डों में विकास होता है। स्वयम्भू चेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव प्रकरणारम्भ में हमने ब्रह्मात्मा को स्वयम्भुव आत्मा कहा है। सूर्य अद्भ्यं चेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव देवात्मा को सौरआत्मा कहा है। पृथिवी अचेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव भूतात्मा को पार्थिवआत्मा कहा है। स्वयम्भू ब्रह्म है, सूर्य देव है, पृथिवी भूत है। यह उक्त आत्मविवर्तों की चरम अव-सानभूमि है।

- १-ब्रह्म-स्वयम्भू-ज्ञानमयो-मनोमयः — ज्ञानात्मा — ॐ ब्रह्मात्मा
 २-देवः-सूर्यः — क्रियामयः-प्राणमयः — कामात्मा — ॐ देवात्मा
 ३-भूतम्-पृथिवी — अर्थमयी — वाङ्मयी — कर्मात्मा — ॐ भूतात्मा
- } त्रिपादूर्ध्व उर्ध्वपुरुषः

- १-पञ्चकलाव्यय — द्विकलाव्यय — ब्रह्म — प्राणमयः — स्वयम्भुव आत्मा — ॐ ब्रह्मात्मा
 २-पञ्चकलाक्षर — एककलाव्यय — इन्द्राविष्णु — आपोमयः — सौर आत्मा — ॐ देवात्मा
 ३-पञ्चकलाक्षर — द्विकलाव्यय — अग्नीषोम — अन्नान्नादमयः — पार्थिव आत्मा — ॐ भूतात्मा

- १-चेतनाप्रधानः — पुरुषः — चेतनपुरुषः
 २-अद्भ्यं चेतनाप्रधानः — पुरुषः — अद्भ्यं चेतनपुरुषः
 ३-अचेतनप्रधानः — पुरुषः — अचेतनपुरुषः
- } 'पुरुष एवेदं सर्वम्'

उक्त तीन आत्मविवर्तों के कारण त्रेधा विभक्त आत्मपुरुष की उपासना भी तीन ही तरह से हो सकती है। समस्त उपनिषदों में उपासना के तीन ही द्वार हैं। वह आत्मपुरुष चेतन-दृष्टि से भी उपास्य है, अर्द्धचेतनदृष्टि से भी उपास्य है, अचेतनदृष्टि से भी उपास्य है। अधिकारी भेद से उपासना भेद प्रतिष्ठित हैं। प्रथमाधिकारी अचेतनदृष्टि से उसकी उपासना कर सकते हैं, मध्यमाधिकारी अर्द्धचेतनदृष्टि से, एवं उत्तमाधिकारी चेतनदृष्टि से उसका ध्यान कर सकते हैं। यही तीनों उपासनाएं सर्वभूतान्तरात्मोपासना, हिरण्यगर्भोपासना, अश्वत्थोपासना नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों उपासनातत्त्वों का उपनिषदों में पृथक् पृथक् रूप से निरूपण हुआ है। विस्तारभय से अधिक न कहकर प्रकृत में केवल तीनों उपासनाओं के तीन मन्त्र उपन्यस्त कर दिए जाते हैं—

१ अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रमूर्धो दिशः श्रोत्रे वाग्विष्टनाभ वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पदभ्यां पृथिवीक्षिप सर्वभूतान्तरात्मा ।
(मण्डक० २।१।४)

२ हिरण्यगर्भः सपञ्चतन्नाग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं धामुतेमां कर्म देवाय हविषा विधेम ॥
(यजुर्वेद १।३।४)

३ ऊर्ध्वमूलोऽवाकृगात्र एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥ (कण्ड० ६।१।१)
यस्मात् पङ्ग नापरमस्ति किञ्चित्, यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
(खेना० ३।२)

सर्वभूतान्तरात्मनोपासना स्वयम्भूम्बा उपासना है। स्वयम्भू विश्वरूप है, सर्वरूप है। पृथिवीपर्यन्त सातों लोक, भूत, देवता, पशु सब कुछ इसके उदर में समा रहें हैं। सप्तलोक

सम्बन्ध से ही इसे 'सत्त्वितस्तिक्त्रय' कहा जाता है। यही विरवेश्वर है, यही ब्रह्मात्मा है। इस विश्वरूप की उपासना करना, निरन्तर उसके व्यापक स्वरूप का चिन्तन करते रहना आत्मविकास का मुख्य हेतु है। इससे आत्मज्ञान का उदय होता है, कारण यह आत्मा ज्ञानात्मा बनता हुआ मनप्रधाना चेतनसृष्टि का अधिष्ठाता है।

हिरण्यगर्भोपासना सूर्यमूला उपासना है। सूर्य स्वयं हिरण्यगर्भ है। सौरअग्निमण्डल हिरण्य है। इसके गर्भ में सूर्य प्रतिष्ठित है। हिरण्य के चारों ओर आप् और वाक् का स्तर है। सतत सूर्यध्यान से अध्यात्मगत देवप्राण सबल बनता है। आत्मज्ञानोपकारिणी विद्याबुद्धि का उदय होता है। कारण यह आत्मा कानात्मा (दैवात्मा) बनता हुआ प्राणप्रधाना अर्द्धचेतनसृष्टि का अधिष्ठाता है।

अश्वत्थोपासना पृथिवीमूला है। "वह एक स्तम्भ वृक्षवत् खड़ा है, वह शान्त है, अचल है" इस प्रकार से विश्व की वृक्ष (संसारवृक्ष) दृष्टि से भावना करने वाले के आत्मा में अर्थ-शक्ति का उदय होता है। अर्थद्वारा क्रिया पर अधिकार करता हुआ उपासक ज्ञानतत्त्व प्राप्त करने में समर्थ होजाता है।

यही तीनों उपासनाएं ओङ्कारोपासना, उद्गीथोपासना, प्रणवोपासना नाम से भी व्यवहृत हुई हैं। स्वयम्भूमूला सर्वभूतान्तरात्मोपासना ओङ्कारोपासना है, जैसा कि श्रुति कहती है—

‘ओमित्येतत्तरमिदं सर्वम् । तस्योपख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव ।

यच्चान्यत् त्रिकालान्तीतं तदप्योङ्कार एव’ (माण्डूक्य उ० १)।

“एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः” [प्र० उ० ५]।

सूर्यमूला हिरण्यगर्भोपासना उद्गीथोपासना है, जैसा कि “य एवासी तपति तमुद्गीथमुपासीत” (वा० उ० ३।३।१) इत्यादिरूप से स्पष्ट है। एवं तीसरी पृथिवीमूला अश्वत्थोपासना प्रणवोपासना है। प्रसंगोक्त यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कृत ईशोपनिषद् स्वयम्भूमूला ओङ्कारोपासना (सर्वभूतान्तरात्मोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि ‘ओ पृथग्मदः पृथग्मिदम्’

इस आरम्भ के मंगलपाठ से सिद्ध है । कठोपनिषत् पृथिवीमूला प्रणवोपासना (अश्वथोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शास्व एषोऽश्वत्थः सनातनः" (कठ० ६।१।) इत्यादिरूपसे स्पष्ट है, एवं मुण्डकोपनिषत् सूर्यमूला उद्गीथोपासना (हिरण्यगर्भोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि 'तदेतत्सं [आदित्यः] मन्त्रेषु कर्माणि कथयो यान्यपश्यन्" [मु० १।२।१।] 'येनान्नरं पुरुषं वेद सत्यम्" [मु० १।२।१३।] "यत्र पवने नत्र सूर्यः" [मु० २।१।६।], "हिरण्यगर्भे परे कोणे विरजे ब्रह्म निष्कनम्" [मु० २।२।६।] यदा पश्य पश्येन रुक्मरगम्" [मु० ३।१।३।] 'बृहच्च तद्व्यमचिन्त्यरूपम्" [मु० ३।१।७।] "स्वयं जुहोत एकां श्रद्धायाः" [मु० ३।२।१०] इत्यादि रूप से स्पष्ट है । तीनों ही उपासनाओं का लक्ष्य अभिन्न है । स्वयम्भू को मूल मानकर पृथिवी तक आजाना ओंकारोपासना है । पृथिवी को मूल मानकर स्वयम्भू तक चले जाने प्रणवोपासना है । सूर्य को मूल मानकर ईश्वर पृथिवी एवं उधर स्वयम्भू तक चले जाना उद्गीथोपासना है । प्रणव भी ओंकार है, उद्गीथ भी ओंकार है । जो प्रणव है वही उद्गीथ है, जो उद्गीथ है वही प्रणव है । दृष्टिकोण में भेद है, फलतः तीनों आत्मदृष्टि से अभिन्न हैं । इसी अमिन्नता को लक्ष्य में रखकर ज्ञानोपायश्रुति कहती है—

“अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवः, यः प्रणवः स उद्गीथ इति ।

असौ वा आदित्य उद्गीथः, एषः प्रणवः—ओंकार इति स्वयन्मतिः”

(छ्दा० उ० ३५।१) ।

ओंकारोपासना अव्ययोपासना है, उद्गीथोपासना अन्तरोपासना है, प्रणवोपासना ज्ञानोपासना है । कारण अव्यय का स्वायम्भुव ब्रह्मा पर, अक्षर का सौमन्द्य पर, क्षर का पार्थिव अग्नि पर अनुग्रह है, जैसा कि पूर्व की तात्त्विकाओं से स्पष्ट कर दिया गया है । इन तीनों उपासनाओं में प्रणवोपासना भूतान्मा से सम्बन्ध रखती हुई कर्मकाण्ड है, उद्गीथोपासना देवान्मा से सम्बन्ध रखती हुई उपासनाकाण्ड है, ओंकारोपासना ब्रह्मान्मा से सम्बन्ध रखती हुई ज्ञानकाण्ड है । गीता इसी उपासना को प्रधान मानती है । कर्म का सम्बन्ध वाङ्मय भूतभाग के साथ है, उपासना देवता की ही होनी है, ईश्वर अनुपास्य है, केवल ज्ञानगम्य है ।

- १-सर्वभूतान्तरात्मोपासना—(स्वयम्भूमूला—ब्रह्मात्मोपासना-ओंकारोपासना)—ज्ञानकाण्डम्
- २-हिरण्यगर्भोपासना— (सूर्यमूला—देवात्मोपासना-उद्गीथोपासना)—उपासनाकाण्डम्
- ३-अथोपासना — (पृथिवीमूला—भूतात्मोपासना-प्रणवोपासना)—कर्मकाण्डम्

—०—

ओपनिषत्काल में उपासना का यही क्रम था । परन्तु कालव्यतिक्रम में ज्यों ज्यों मानव समाज का बौद्धजगत् निर्बल होता गया त्यों त्यों वह प्राकृतिक तत्त्वों की उपासना में शिथिल बनता गया । अतएव पुराणयुग में उक्त तीनो उपासनाएं प्रतिमोपासना रूप में परिणत हो गईं । इस का यह अर्थ नहीं है कि प्रतिमोपासना अवैदिक है । स्वयम्भू-सूर्य पृथिवी भी तो उर्मि की प्रतिमा हैं । पृथिवीपर दृष्टि रक्खी जाती है, मनोयोग आत्मापर रहता है । सूर्यविम्ब प्रतिमा है, इस पर दृष्टि रक्खी जाती है, नद्दारा ध्यान सर्वव्यापक आत्मा का किया जाना है । निरुक्त से अनिरुक्त पर पहचाना ही तो प्रतिमोपासना है । स्थूल को लक्ष्य बनाकर सूक्ष्म पर पहचाना ही प्रतिमापूजन है । “दृष्टि अन्यपर-लक्ष्य अन्य पर” इसी का तो नाम उपासना है । विशुद्ध अमूर्त की उपासना तो बन ही नहीं सकती । उपासना मूर्तब्रह्म, किंवा मूर्ति की ही हो सकती है । कोई प्राकृतिक पृथिवी-सूर्यपिण्ड आदि मूर्तियों की उपासना करता है तो अस्मत् सदृश साधारण अधिकारी पृथिवी के अवयवरूप पाषाणादि की प्रतिमा को ही भगवदाराधना का साधन मानने हैं । लक्ष्य एक है, प्रकार में भेद है । पुराणने किसी नवीन अवैदिक पद्धति का अनुसरण नहीं किया है, अपि तु जो उपासना वेद (उपनिषत्) में अगौरूप से है उसे अधिकारी वर्ग की शिथिलता से अङ्ग का रूप दे डालता है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है ।

१—चेतनेदृष्टिः, चेतनोपासनम् । २—अद्वैतचेतनेदृष्टि, अद्वैतचेतनोपासनम् । ३—अचेतनेदृष्टि, अचेतनोपासनम् ।

* इस विषय का विशद विवेचन गीत.विज्ञानभाष्य में दृश्य है ।

“जो वस्तुतः खिर हैं, महर्षि लोग उन्हें मुझे पुरुष बनला रहे हैं” यही अन्तरार्थ है। ब्रह्मात्मा स्त्री कैसे है ? यदि वह स्त्री है तो उसे पुरुष क्यों कहा जाता है ? इस रहस्य को आत्मोवाला देव नरुता है, अस्त का अर्थ इस रहस्य को क्या समझ सकता है— ‘परयदत्तएवान्न विचेतदन्धः’। अर्थात् जो बुद्धिमान हैं, वैज्ञानिक हैं वे ही अपनी विज्ञानदृष्टि से उक्त रहस्य को समझ सकते हैं। साधारण मनुष्य इस गुप्त व्यवहार के रहस्य को कथमपि नहीं समझ सकते। वह रहस्य क्या है ? उसे कौन समझता है ? मन्त्र का उत्तर भाग इसी प्रश्न का समाधान करता है।

क्षेत्र में बीज की अदृष्टि होती है। इस से पुनरुत्पत्ति होती है। क्षेत्र की अधिष्ठात्री माता है। माता के गर्भ में ही पुत्र जन्म लेता है। सम्पूर्ण विश्व उन आत्मप्रजापति का पुत्रस्थानीय है, विश्व उमा के गर्भ में जन्म लेता है, वही विश्वयोनि है, विश्व का क्षेत्र है। योनिरूप क्षेत्रस्थानीय, अतएव आत्मपुरुष विश्व पुत्र की ‘माता’ बनता हुआ सचमुच ‘स्त्री’ है। स्त्री भी एक नहीं तीन तीन—अव्यय, अक्षर, ओर नञ्। पिता रेतोवा होता है, रेत की आर्तुति देने वाला है। आग्नि में वही रेतोवा बनता है, अतएव पितास्थानीय बनता हुआ वह पुरुष शब्द में भी व्यवहृत होता है। पुरुष भी एक नहीं तीन तीन—अव्ययपुरुष, अक्षरपुरुष, नञ्पुरुष। विश्वयोनि दृष्ट्या वह स्त्री है, रेतोवादृष्ट्या वह पुरुष है, रेतदृष्ट्या वही पुत्र है। वही माता है, वही पिता है, वही कुमार है, वही कुमारी है। इसी अनिप्राय से श्रुति-स्मृति कहती है—

“त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी”।

“नैव स्त्री न पुमानेन नर्चवायं नपुंसकः।

यश्चक्षुरीगमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥”

“त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव।

त्वमेव बन्धुश्च मखा त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥”

जो अवस्था में पुत्र [बालक] होता हुआ भी कवि [आत्मनस्त्वैवेत्ता] है, वही उक्त रहस्य को जानता है। ऐसा कवि पुत्र [प्रतिष्ठा की दृष्टि से] अपने पिता का भी पिता है। अर्थात् लोक

में वृद्ध पितास्थानीय मनुष्य पृथग्दृष्टि से नहीं देखा जाता, अपि तु उम्मी का पुत्र यदि आत्मज्ञ बनजाता है तो दोनों की उपस्थिति में पुत्र ही पिता [पृथग्] दृष्टि से देखा जाता है । केवल बाल मुफेद होने से ही एक व्यक्ति वृद्ध नहीं कहलाता । यदि एक लड़का जवान है, और साथ ही में विद्वान् है तो उसे वृद्ध कहा जाता है । आयुवृद्धि वृद्धत्वका कारण नहीं है । वयोवृद्ध वृद्ध नहीं कहलाता, अपि तु विद्यावृद्ध ही वयोवृद्ध कहलाता है, एवं वही लोक में पूजित होता है । इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

न तेन वृद्धो भवति येनाभ्य पन्नितं शिरः ।

यो वै युवाण्यधीयानस्तं देवाः स्थविमं विदुः ॥ (मनु)

विद्वानात्मा उस आत्मप्रजापति का विद्वान् पुत्र है, कवि है । वही तो उक्त रहस्यको जान सकता है । मनुमुच आज आर्यावर्त श्रुति के—‘कवियः पुत्रः स ईमाचिकेत’ इस आदर्श को भूल गया है । सृष्टि के भक्त वर्तमान भारतने अयोग्य—मूर्ख व्यक्तियों का समादर कर रखा है, योग्यों को हेय समझ रखा है । प्राचीन युग में क्या होता था ? इसके सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थ में एक बड़ा सुन्दर आख्यान उपलब्ध होता है । अंगिरा महर्षि के वंशज अन्वष ‘आंगिरस’ नाम से प्रसिद्ध, अवस्था में बहुत छोटे (शिशु) पुत्र मन्त्रनिर्माता थे, साक्षात्कृत-धर्मा थे । एकबार देवसभा में अपने पिता के साथ यह बैठे हुए थे । वहाँ किसी कार्य से अपने पिता का आह्वान करते हुए इनके मुख से—‘पुत्रका’ [दि छोटे बच्चे] यह सुनते ही पिता अप्रसन्न होगये, और बोले कि अरे ! तू हमारा पुत्र होकर हमें ‘पुत्रका’ कह रहा है । तू अधर्म कर रहा है । उसने उत्तर दिया कि वास्तव में पिता मैं हूँ, कारण मैं मन्त्रनिर्माता हूँ । अन्त में देवताओंने भी इसी पक्षका समर्थन किया ।

१-यहाँ विद्वान् पुत्र को ईश्वर का पुत्र बतलाया गया है । विश्व के सभी पदार्थ ईश के पुत्र हैं, यह आर्यावर्त की चिरन्तर भावना है । आत्मज्ञानी महात्मा ईशुखीष्टने इसी वाद को प्रधानता दी है, जो कि आर्यसभ्यता का ही एक अङ्ग है ।

“शिशुर्वा-प्रांगिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत् । स पितृन् पुत्रका इति-
आमन्त्रयत् । तं पितरोऽब्रुवन्-अधर्मं (करोपि) यो नः पितृन्-‘पुत्रका’
इत्यामन्त्रयसे । सोऽब्रवीत्-अहं वाव पितास्मि यो मन्त्रकृत्-इति । (ते-
पितरः-पुत्रोत्तरे-अश्रद्धाः) देवानपृच्छन्त । ते देवा अब्रुवन्-एष वाव
पिता, यो मन्त्रकृत्-इति । तद् सः (शिशुगद्विरसः)- उदजयत् ” इति ।

(ताण्ड्यब्रा० १. ३। ३। २४।)

प्रकृत मन्त्रने विद्या के अभिप्राय से ही ‘पितृष्पितासन्’ यह कहा है । यह है अ,म-
मन्त्रन्धी प्रथम अर्थ का महान दिग्दर्शन । अब सूर्यरश्मिसम्बन्धिनी भावना का दिग्दर्शन
कराया जाता है ।

इति-आत्मविषयिणीभावना ।

१

१-रश्मिविषयिणीभावना

विश्वकेन्द्रस्थ सूर्ये हिरण्यगर्भप्रजापति है । प्रजापति में आत्मा, प्राण, पशु यह तीन कलाएं
नित्य प्रतिष्ठित रहती हैं । आयु भाग आत्मा है, योति भाग प्राण है, गौ भाग पशु है । यही
तीन सूर्य के मनोता हैं—(देखिए ई. उ. वि. मा. २०१ पृ.) । आयुभाग आत्मा की विकास-
भूमि है, ज्योतिर्भाग देवता की विकासभूमि है, एष गौभाग भूत का जनक है । त्रैलोक्य में जितने
स्थूलभूत हैं, सब का जनक सौर गौतत्त्व है । प्रकाशरूप देवताओं का विकास सौरज्योतिर्भाग
से हुआ है । हम सब प्राणियों के आत्मा का आधार आयुभाग है । इन तीनों में आयुतत्त्व

१. अन्नहाता, भयत्राता, यश्च विद्यां प्रदच्छति । जनिता चोपनीश च पञ्चते वितरः स्मृताः ॥

‘मुख्यप्राण’ है, अग्नीप्राण है। इसी को ‘परोरजाप्राण’ कहा जाता है। इसी को लक्ष्य बनाकर—‘योऽसावादिभ्ये पुरुषः सोऽहम्’ यह कहा जाता है। इस आत्मप्राण को—‘आदित्यस्य परं भाः’ इस नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। ज्योतिर्भाग प्राणरूप देवता है। यह अग्नि-सोम भेद से दो भागों में विभक्त है। आग्नेयप्राणावच्छिन्न सौरसावित्राग्नि दाहक है, सौम्यप्राणावच्छिन्न शरमेष्ठ्य भार्गवसोम दाह्य है। दोनों का समन्वितरूप ज्योति है। आप सूर्य में जो प्रकाश देख रहे हैं, वह अग्नि सोम का समन्वित रूप ही है। स्थूलभूत पशुरूप है।

१-आत्मा— आयुः (आत्मा) → → —	परोरजाप्राणः	} सौरसंस्था
२-प्राणः— ज्योतिः (देवाः) → → —	आग्नेय-सौम्यप्राणौ	
३-पशुः — गौः (भूतानि) → → —	स्थूलभूतानि	

इन तीनों में हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध आत्मरूप परोरजाप्राण के आधार पर ही आग्नेय-सौम्यप्राण प्रतिष्ठित हैं। इस अग्नि और सोम के सम्बन्ध से अविभक्त सौरआत्मा भी दो भागों में विभक्त [वत्] होजाता है। आग्नेयप्राणावच्छेदेन वही हिरण्यगर्भ प्रजापति पुरुष है, कारण अग्नि को पुरुष माना गया है। एवं सौम्यप्राणावच्छिन्न वही प्रजापति स्त्री है, सोम को ही स्त्री माना है। इस दम्पति के मिथुनभाव से दशप्राणपूर्ति विराट् पुत्र उत्पन्न होता है। भौरश्मि एं यद्यपि अग्निसोममयी हैं, परन्तु प्रधानता सोम की ही है। कारण सोम ही आहुत होकर ज्योतिर्मय बनता हुआ रश्मिरूप में परिणत हो रहा है। रश्मिभाव साक्षात् जलता हुआ सोम है। सोम स्त्रीरूप है। अतएव हम कहसकते हैं कि सौररश्मिमण्डल स्त्रीमण्डल है। परन्तु आश्चर्य है फिर भी कारण—मयूखः—उत्तः—इत्यादि रूप से इन्हें पुंस्त्ववाचक शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। कारण स्पष्ट है। इस रहस्य को इनका कविपुत्र जानता है। अर्थात्—अग्नि सोम के मिथुनभाव से उत्पन्न होने वाले विराट् का स्वरूप देखिए—वहां आपको स्त्री—पुरुष दोनों भाव उपलब्ध होंगे। विराट् ज्योतिर्मण्डल है, ज्योति सोमजन्य है। सोम भृगु है, भृगु कवि है। भृगुसोम ही अग्नि में आहुत होकर विराट् पुत्ररूप में परिणत हुआ है, इसी भार्गवत्व को लक्ष्य में रखकर अग्निं विराट्पुत्र को ‘कवि’ शब्द से व्यवहृत किया है। अग्निसोम

विराट्पुत्र के पिता माता हैं । त्रिराट्ज्योति ही उन दोनों के व्यक्तीभाव का कारण है । यदि ज्योतिभाग उत्पन्न न होता तो—सूर्य में 'अग्नी और सोम दो तत्व हैं' इसका पता ही न लगता । यही कवि का परिज्ञान है । अपने माता पिता का अभिव्यञ्जक विराट्पुत्र अवश्य ही पिता का भी पिता [अभिव्यञ्जक] है । सूर्यविज्ञान चतुर्विज्ञान, किं वा चानुपपुरुषविज्ञान है । जो चानुपपुरुषविज्ञानवेत्ता [सूर्यविज्ञानवेत्ता] है, वेही यह समझ सकते हैं कि रश्मियों के स्त्रीरूप होने पर भी उन्हें पुरुष क्यों कहा जाता है । यही मन्त्र का दूसरा अर्थ है । अब तीसरे प्रधान अर्थ की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

इति-राश्मिविषयिणीभावना

२



३-अथ शुक्रविषयिणीभावना

अचेतन अग्नि में अचेतन सोम की आहुति होना याज्ञिकसृष्टि है, चेतन अग्नि में चेतन सोम की आहुति होना मैथुनीसृष्टि है । अग्नि में घृताहुति याज्ञिकसृष्टि है, शोणित में शुक्राहुति का होना मैथुनीसृष्टि है । उक्त मन्त्र प्रधान रूप से मैथुनीसृष्टि का ही रहस्योद्घाटन करता है । मन्त्रार्थ का उपक्रम करते हुए कहा गया था कि समार में जितने पुरुष हैं, सब वास्तव में स्त्रिय हैं । स्त्रीरूप होने पर भी इन्हें [पुरुषों को] पुरुष कहा जाता है । एवं जितनी भी स्त्रिय हैं, वे वास्तव में पुरुष हैं । पुरुषरूप होने पर भी इन्हें [स्त्रियों को] स्त्री कहा जाता है [देविए ई० वि० भा० पृ० १८१] । विज्ञानपरिभाषा के अनुसार अग्नित्व को पुरुष कहा जाता है, सोमत्व को स्त्री कहा जाता है, यह निर्विवाद विषय है । यह अग्नि और सोम आत्मा और शरीर भेद से दो भागों में विभक्त रहता है । पुरुष के भौतिक शरीर का निर्माण अग्नि से होता है, एवं स्त्री के भौतिक शरीर का निर्माण सोम से होता है । अग्नि की प्रतिष्ठा

दक्षिणादिक् है, सोम की प्रतिष्ठा उत्तरादिक् है। अतएव स्त्री को वामा कहा जाना है। पुरुष दक्षिणाङ्ग है, स्त्री पुरुष का वाम भाग है। प्रति शरीर में दक्षिणपार्श्व आग्नेय है, वामपार्श्व सौम्य है। पुरुष का शरीर अग्निप्रधान होने से कर्कश होता है, स्त्री का शरीर सोमप्रधान होने से कोमल होता है। पुरुष कर्कशाङ्ग है, स्त्री कोमलाङ्गी है। इस प्रकार इस शरीर रचना की अपेक्षा से आग्नेयशरीरप्रधानपुरुष पुरुष है, सौम्यशरीरप्रधानास्त्री स्त्री है। इस दृष्टि में पुरुष को पुरुष कहना, एवं स्त्री को स्त्री कहना न्यायसंगत है, यथार्थ है। परन्तु आत्मदृष्ट्या उक्त लौकिक व्यवहार असंगत है। आत्मदृष्टि से अग्नि स्त्री का आत्मा बन रहा है, सोम पुरुष का आत्मा बन रहा है। स्त्री का आत्मा (प्रतिष्ठाभाव) शोणित (रुधिर) में प्रतिष्ठित है, पुरुष का जीवनीय रस शुक्र है। शोणित अग्निप्रधान है, शुक्र सोमप्रधान है। स्त्री-पुरुष-नपुंसक तीनों सृष्टियों का शुक्र शोणित सम्बन्ध के तारतम्य से सम्बन्ध है। शुक्र शोणित दोनों परस्पर अविनाभूत हैं। शुक्र सान्नात् सोम है, शोणित सान्नात् अग्नि है। सोम शीतप्रधान है, अग्नि ऊष्माप्रधान है। एक आर्द्र है, दूसरा शुष्क है। सर्दी, आर्द्र, सोम, शुक्र, योषा, रयि सब अभिन्नार्थक हैं। गर्मी, शुष्क, अग्नि, आर्तव, वृषा, प्राण सब अभिन्नार्थक हैं। सम्पूर्ण भौतिक विश्व इन्हीं दोनों का (अग्निप्रेम का) समन्वित रूप है, जैसा कि श्रुति कहती है—

“द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्कं चैवार्द्रं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं,
यदार्द्रं तत् सौम्यम्” [शत० १।६।३।२३।]

सर्वप्रभवभूत यही अग्नीप्रेम प्रजासृष्टि के उपादान बनते हुए शुक्र-शोणित नामसे व्यवहृत होते हैं। सौम्यशुक्र स्त्री है, आग्नेय शोणित पुरुष है। यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि अग्नि अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर आपोमय सोमरूप में परिणत होजाता है, एवमेव सोम अपनी अन्तिम प्रतिष्ठा पर पहुँच कर अग्निरूप में परिणत होजाता है। सोम संकोचधर्मा

१-सौम्यं शुक्रम, आर्तवमाग्नेयम्। इतरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यं, अस्त्यनस्तुविशेषेण परस्परोपकारात्, परस्परानुग्रहात्, परस्परानुपवेशात्-” (बुध्नुत ३ अ० १)।

है, अग्नि विकासधर्मा है। संकोच की चरमावस्था विकास की जननी है, विकास की चरमावस्था संकोच की जननी है। अग्नि तेजतत्त्व है, सोम स्नेहतत्त्व है। सीमा से अतिक्रान्त स्नेह तेज की [रुद्रभाव की] उत्पत्ति का कारण बनजाता है, सीमा से उत्क्रान्त तेज स्नेहरूप में परिणत होजाता है। दो मित्रों का निःसीम स्नेहभाव कभी कभी रुद्रभाव (वैरभाव) का उत्पादक देखा गया है, एवं दो शत्रुओं का निःसीम रुद्रभाव [वैरभाव] कभी कभी स्नेहभाव (मित्रता) का उत्पादक देखा गया है। नि सीमता [अग्नि] स्वरूप का घात करने वाली है। प्रत्येक वस्तु स्वसीमा में प्रतिष्ठित रहती हुई ही अपनी स्वरूपरक्षा करने में समर्थ होती है। हां तो प्रकृत में अग्नि सोम का विचार प्रक्रान्त है। अग्नि केन्द्र से निकलकर बाहर प्रधि की ओर जाया करता है, उधर सोम प्रधि से केन्द्र की ओर आया करता है। अग्नि परागमति है, सोम अर्वागमति है। एक जाता है, एक आता है। एक प्रेति [गन्धुति] है, दूसरा आगन्धुति है।

जाने हुए अग्नि में आता हुआ सोम आहुत हो रहा है। इसी एति-प्रेतिरूप अग्नीसोमात्मक यज्ञ से सारे पदार्थ स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हो रहे हैं। गमन विमर्ग है, आगमन आदान है। आदान विमर्ग ही अग्नीसोमात्मक यज्ञ है। अग्नितत्त्व का वस्तुपिण्ड से सम्बन्ध है, कारण अग्नि सत्य है, एवं सत्य सदा सहृदय मशरीरी ही होता है। सोम का पिण्ड की महिमारूप अन्तरित्त्वं से सम्बन्ध है। कारण सोम ऋतु है, उधर अन्तरित्त्वं भी ऋतरूप परमेष्ठी है। ऋतु सोम में पिण्डावच्छिन्न, किंवा पिण्डरूप अग्नि सतत आक्रान्त रहता है, इसी आधार पर-‘ऋते भुवि-न्यि श्रिता’ यह कहा जाता है। विशरुलनधर्मा अग्नि को पिण्डरूप में परिणत करने वाला, मत्तोचधर्मा यही सोम है। जबतक सोमान्न अग्नि में आहुत होता रहता है, तभीतक अग्नि प्रज्वलित रहता है। प्रज्वलित अग्नि को याज्ञिक परिभाषा में ‘समिद्धाग्नि’ कहते हैं। एति-प्रेतिरूप सामिधेयियों में आदानविमर्गरूप संवर्ष द्वारा अग्नि समिद्ध रहता है। अतएव यज्ञकर्म में-‘एति च प्रेतिचान्वाह’ [शत० १ का० ४। १। ४।] के अनुसार सामिधेयी मन्त्रों से अग्नि को

‡-इस विषयका वैज्ञानिक विवेचन शांतिपथ विज्ञानभाष्य के सामिधेयी बाह्य में देखना चाहिए।

समिद्ध करने का विधान है । बात यथार्थ में यह है कि अग्नि अङ्गिरामूर्ति है, सोम सृगुमूर्ति है । अङ्गिरा की अग्नि-वायु-आदित्य यह तीन अवस्थाएं हैं । अवस्थात्रयदुक्त अग्नि हृदय से पैलता हुआ आगे जाता है । अग्नि की तीनों अवस्थाएं विकसित होने होने जब चरम दशा पर पहुंच जाती है तो तीनों अग्नियों की गति विपरीत हो जाती है । आत्यन्तिक विशकलन से ऊष्माभाव प्रतीक ग्रन्थिवन्धन टूट जाता है, अग्नि शान्त हो जाता है । अग्नि की यह शान्तावस्था ही विपरीत गति का आश्रय लेती हुई सोम नाम से व्यञ्जित होने लगती है । सोम आप-वायु-सोम इन तीन भागों में विभक्त है । तीनों क्रमशः वेद्य की ओर आने रहते हैं । जबतक केन्द्रविन्दु पर तीनों नहीं आ जाते, तबतक तो तीनों को प्रतिष्ठित रहने के लिए पर्याप्त धरातल मिल जाता है । परन्तु हृदयविन्दु पर आने से तीनों को एक विन्दु पर ठहरना पड़ता है । इससे तीनों में घर्षण हो जाता है । घर्षण होने ही शान्तावस्था नष्ट हो जाती है, उष्मावस्था उत्पन्न हो जाती है, इसी का नाम अग्नि है, इसकी गति बदल जाती है । प्रकृत में इस अग्नीमोनाथा से हमें केवल यही बताना है कि अग्नि का पिण्ड से सम्बन्ध है । इनका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि एक ही जल में आप खोलना हुआ पानी भगा दीजिये । उस पानी के [ऊर्ध्व की ओर] निकलने के लिए मूह्यतम छिद्रोबला एक फव्वारा लगा दीजिए । उस में से निकलता हुआ पानी खण्ड खण्ड रूप में परिणत हो जायगा । इन जलकणों को आप शीतल पावेंगे । कारण जब तक पिण्ड था, तबतक अग्नि पानी में प्रतिष्ठित था । पिण्डभाव के नष्ट होने ही अग्नि विशकलन की पराकाष्ठा पर पहुंच कर सत्यभाव (पिण्डभाव) से चुन होता हुआ ऋतुरूप में परिणत हो जाता है । पूर्वप्रतिपादित मात्रिश्वा के निरूपणानुसार पिण्ड का नाम पृथिवी है, महिमा बुलोक है । पिण्डरूप पृथिवी से निकल कर अङ्गिरात्रयी मुख्य महिमा मण्डल की ओर जाया काती है । अग्नि की इसी स्वामयिक गति को लक्ष्य में रखकर मरिचि कहते हैं—

इत एत उदाहन् दिवः पृष्ठान्यारुहन् ।

प्रभूर्जयो यथासि आमङ्गिरसो ययुः ॥

अग्निरा तेज तत्त्व है तो भृगु स्नेह तत्त्व है । यही गर्मी-सर्दी है । सर्दी पराकाष्ठा पर पहुंचकर अग्नि बनती हुई वृद्धादि को जला डालनी है । इधर पराकाष्ठा पर पहुंची हुई गर्मी वर्षा (पानी) बन जाती है । सांतानाग्नि [रुद्राग्नि] शोकाश्रु का जनक है, यह पूर्व की अथर्ववेद निरुक्ति में विस्तार से बतलाया ही जा चुका है ।

उक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि अग्नि की चरमावस्था सोम है, एवं सोम की चरमावस्था अग्नि है । स्त्री के आत्मरूप शोणित में प्रवृद्धसोम (अग्नि) है, इस लिए स्त्री आत्मदृष्ट्या पुरुष है । पुरुष के आत्मरूप शुक्र में प्रवृद्धअग्नि [सोम] है, अतएव पुरुष आत्मदृष्ट्या स्त्री है । प्रकारान्तर से यों समझिए—शुक्र अन्नरस से बनता है । अन्न चान्द्रसोम से बनता है, अतः शुक्र साक्षात् सोम है । सोम साक्षात् स्त्री है । यह शुक्ररूप से पुरुष की प्रतिष्ठा बना हुआ है । इस प्रतिष्ठादृष्टि से शुरुभय पुरुष सोमभय बनता हुआ वास्तव में स्त्री है । एक बात और—सोमरूप, अतएव स्त्रीरूप शुक्र पुरुष में प्रतिष्ठित है, अतएव पुरुष स्त्री की कामना किया करता है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होनेवाला है । अग्नि से शोणित का निर्माण होता है, अतः शोणित साक्षात् अग्नि है । अग्नि साक्षात् पुरुष है । यह शोणितरूप से स्त्री की प्रतिष्ठा बना हुआ है । इस प्रतिष्ठादृष्टि से शोणितमयी स्त्री अग्निययी बनती हुई वास्तव में पुरुष है । अग्निरूप, अतएव पुरुषरूप शोणित स्त्री में प्रतिष्ठित है, अतएव स्त्री पुरुष की कामना किया करती है ।

स्त्री की प्रजननशक्ति आर्त्तव में प्रतिष्ठित है । यह आर्त्तव मंगल नाम से प्रसिद्ध आग्नेय पुरुषग्रह के आग्नेय प्राण से युक्त है । आकाशचर मंगलग्रह रक्त (लाल) है । रुधिर में जो लाली एवं गर्मी है, वह मंगलग्राण की ही महिमा है । मंगलग्रह मकराशि में आता हुआ उच्च कहलाता है । अतएव मांगलिक आर्त्तव में प्रतिष्ठित आग्नेयकाम 'मकरध्वज' नाम से प्रसिद्ध है । मकरध्वज अग्निभय काम है । दूसरे शब्दों में स्त्री के काम में अग्निमूर्ति पुद्गल बैठा है, अतएव स्त्री को पुरुषकामना होती है । पुरुष की प्रजननशक्ति शुक्र में प्रतिष्ठित है । शुक्र [वीर्य-

इस विषय का विशद विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य के प्रथमवर्ष में द्रष्टव्य है ।

रेत] शुक नाम से प्रसिद्ध सौम्य स्त्रीप्रह के सौम्यप्राण से युक्त है। शुकप्रह श्वेत है, अतएव तन्मय शुक भी श्वेत है। शुकप्रह मीनराशि का भोग करता हुआ उच्च क्त कहलाता है। अतएव शुक रूप शुक में प्रतिष्ठित सौम्यकाम 'मीनध्वज' नाम से प्रसिद्ध है। मीनध्वज सोममय काम है। दूमेरे शब्दों में पुरुष के काम में सोममूर्ति स्त्री बंटी हुई है, अतएव पुरुष को स्त्री कामना होनी है।

सोम शक्तिरत्न है, सोम सम्बन्धी अग्नि शिवरत्न है। शिवरत्न शक्तिकाममय है, शक्तिरत्न शिवकाममय है। शिव शक्ति पर प्रतिष्ठित है, शक्ति शिव की अनुगामिनी है। सम्पूर्ण विश्व शिव-शक्तिमय है। कहने को दो तत्त्व हैं, जो शिव (अग्नि) है वही शक्ति (सोम) है, जो शक्ति है वही शिव है। निष्कर्ष यही हुआ कि शुक-शेषिन दृष्टि से संसार की स्त्रियं पुरुष हैं, पुरुष स्त्रियं हैं। यह स्त्री-पुरुष का दूमेरा युग्म है।

यह एक नियत मिद्धान्त है कि जिस वस्तु का बाहर का धरातल गरम होता है, उसका अन्तःपृष्ठ ठंडा होता है, एवं जो बाहर से ठंडा होता है, उसका अन्तःपृष्ठ गरम होता है। प्रकृति का निरीक्षण कीजिये। शीतर्तु में प्रकृतिमण्डलरूप बहिर्धरातल में सर्दी रहती है, एवं अन्तःपृष्ठरूप प्राणियों के शरीर में गर्मी का साम्राज्य रहता है। शीतकाल में हमारा जठराग्नि प्रदीप्त रहता है। मुख में से धूम निकलता रहता है। इसी प्रवृद्ध अग्निबल से हम शरीर पर कम्बलादि को आसानी से उठाने में समर्थ होजाते हैं। इसी प्रवृद्ध अग्नि की कृपा से अन्न अधिक खाया जाता है। इस प्रकार बाहर जहां ठंड है, भीतर गर्मी है। ग्रीष्मर्तु में ठीक इससे उलटा होजाता है। प्रकृति में गर्मी का साम्राज्य है, परन्तु प्रकृतिगर्भस्थ अध्यात्म में सर्दी की प्रधानता है। वही शीतभाग पसीना बनकर बाहर निकला करता है। अग्निबल क्षीण रहता है, अतएव हम निर्बल रहते हैं। शीतकाल में जिस अग्निदेव की कृपा से जहां हम दो दो तीन तीन कम्बलों को ओढ़ने में समर्थ बन जाते थे, वहां ग्रीष्मकाल में अग्नि की कृपा से एक मामुली चदर का भी भार सहन नहीं करसकते। इस प्राकृतिक स्थितिसे प्रकृत में हमें यह

बतलाना है कि पुरुष शरीर से आग्नेय है । इसका बहिःपृष्ठ अग्नि प्रधान है । अतएव पुरुष को स्त्री पर अधिक क्रोध आता है । परन्तु अन्तःपृष्ठरूप इसका शुक ठंडा है । अतएव आगे जाकर इसका क्रोध शान्त होजाना है । शरीर की अपेक्षा आत्मा बलवान् होता है । अतएव शरीरसंप्रेक्ष क्रोध स्थायी नहीं रहता । उधर स्त्री का शरीर सौम्य है । उसे क्रोध नहीं आता । सौम्यशरीरसंप्रेक्ष स्त्री निर्वल है, अवल है । परन्तु भीतर शोणितरूप अग्नि है । प्रथम तो स्त्री को क्रोध आवेगा ही नहीं, यदि आत्मभाग पर आघात होने से स्त्री का आत्मा विगड़ पड़ा तो फिर कुशल नहीं है । अतएव स्त्रीदृष्ट प्रसिद्ध मानी जाती है । यही अवस्था बालक की है । १३ वर्ष तक कन्या का, १६ वर्ष तक पुत्र का शरीर सौम्य रहता है । आत्मा आग्नेय है । अतएव स्त्री दृष्टवत् बालदृष्ट भी प्रसिद्ध है । अग्निमेघ के इस गर्भविज्ञान की अपेक्षा से स्त्री पुरुष का एक तीसरा गुण आगे बनजाता है । स्त्री का शोणित आग्नेय है इसलिए स्त्री पुरुष है, यह कहा गया है । शोणित का ऊपर का पृष्ठ अग्रय ही आग्नेय है, परन्तु इस अग्निमय शोणित के गर्भ में प्रतिष्ठित प्रजननकर्म का मुख्य अधिष्ठाता 'भ्रूण' सौम्य है । इस सौम्य भ्रूण की अपेक्षा से स्त्री अन्ततोगत्वा स्त्री ही है । सर्वान्त में उसे पुरुष का ही आश्रय लेना पड़ता है । पुरुष का शुक सौम्य है, इसलिए पुरुष स्त्री है । शुक का ऊपर का स्तर वास्तव में सौम्य है । इस सौम्यशुक के गर्भ में प्रतिष्ठित प्रजननकर्म का मुख्य अधिष्ठाता 'भ्रूण' उक्त परिभाषानुसार आग्नेय है । इस आग्नेय भ्रूण की अपेक्षा से पुरुष अन्ततोगत्वा पुरुष ही रहता है । इस तीसरी धारा को आधार मानते हुए ही लोक में— 'अग्नी स्त्री स्त्री ही रहेंगी, पुरुष पुरुष ही रहेंगा' यह किंवदन्ती प्रचलित है । स्त्री की अन्तिम प्रतिष्ठा सोम ही है, पुरुष की अन्तिम प्रतिष्ठा अग्नि ही है । स्त्री सौम्या ही है, पुरुष आग्नेय ही है । सौम्य शुक के गर्भ में आग्नेय पुंभ्रूण प्रतिष्ठित है, आग्नेय शोणित के गर्भ में सौम्य स्त्रीभ्रूण प्रतिष्ठित है । यदि शुक प्रबल है तो शुकाधिक्य से तद्गर्भित आग्नेय पुंभ्रूण प्रबल बनता हुआ पुत्रोत्पत्ति का कारण बनता है । यदि आत्तिव प्रबल है तो अर्तवाधिक्य से तद्गर्भित सौम्य स्त्रीभ्रूण प्रबल बनता हुआ कन्योत्पत्ति का कारण बनता है । यदि दोनों का सममिथुनभाव होता है तो नपुंसक

प्रजा उत्पन्न होती है। यदि केवल शुक्र शोणित का समन्वय होता है, (यदि तद्गत भ्रूणों का जो कि स्त्री-पुंभ्रूण विज्ञानभाषा में योषा-वृषा नाम से प्रसिद्ध हैं मिथुन नहीं होता) तो ऐसा मिथुनभाव व्यर्थ जाता है। आयुर्वेद का उक्त सिद्धान्त तभी ठीक होमकता है, जब कि सौम्य शुक्र में आग्नेय भ्रूण, एवं आग्नेय आर्तव में सौम्यभ्रूण की सत्ता मानली जाती है। कारण अग्नि से ही पुरुष का विकास संभव है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर प्राणाचार्य कहते हैं—

आधिक्ये रेतसः पुंसः कन्यास्यादार्त्तवाधिकं ।

नपुंसकं तयोः साम्यं यथेच्छा परमेश्वरी"—(भावप्रकाश) ।

अग्नि भी देवता हैं, सोम भी देवता हैं। देवता त्रिसत्य होते हैं। देवताओं का प्रत्येक कार्य त्रिभावयुक्त होना है। तीन व्यापारों से देवता स्वकार्यसिद्धि में समर्थ होते हैं। पूर्व कथना-नुसार प्रजोत्पत्तिकर्म में तीन व्यापारों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। तीन मिथुनों से मिथुन कर्म संभव होता है। ध्यान दीजिये—प्रजोत्पत्ति के लिए पहिले पुरुष स्त्रीगमन करता है। अभी दोनों के शरीरों का संयोग है। पुरुष शरीरापेक्षया आग्नेय बनता हुआ पुरुष है, स्त्री शरीरापेक्षया सौम्य बनती हुई स्त्री है। इस प्रथमाक्रमण में सचमुच पुरुष (पुरुष का आग्नेय शरीर) स्त्री (स्त्री के सौम्य शरीर) की ओर जा रहा है। इस प्रथम मिथुनकर्म से संघर्ष द्वारा तात्कालिक वैश्वाणर अग्नि उत्पन्न होता है। इस अग्निपरिताप से पुरुष के सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त शुक्र अंग प्रत्यंग से निकलकर पुञ्जीभूत बनकर अधोभाग द्वारा स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित आग्नेय आर्तव में आहुत होता है। यह शुक्रशोणित का मिथुनकर्म दूसरा कर्म है। इस में शुक्र सोम है, शोणित अग्नि है। शोणित में शुक्र की आहुति क्या हो रही है, अग्नि में सोम की आहुति हो रही है। यही आध्यात्मिक यज्ञ है। इस द्वितीय कर्म में स्त्री पुरुष पर आक्रमण कर रही है। कारण स्पष्ट है। शुक्र ही तो शोणित पर आक्रमण कर रहा है। शुक्र सौम्य होने से सचमुच स्त्रीरूप है, एवं शोणित आग्नेय होने से वास्तव में पुरुष है। और आगे बढ़िए।

* इस विषय का विशद विवेचन शतपथ विज्ञानभाष्य के द्वितीय वर्ग में निकल चुका है।

शोणित में रहने वाले सौम्य भ्रूणपर (स्त्रीभ्रूण पर) शुक्र में रहने वाला आग्नेय भ्रूण (पुंभ्रूण) आक्रमण करता है। यह अन्तिम मिथुन है। इस में जिस की प्रधानता रहती है, उसी भ्रूण का विजय होता है। इस अन्तिमभ्रूण में पुरुष ही (पुंभ्रूण ही) स्त्री पर (स्त्रीभ्रूण पर) आक्रमण करता है। प्रथमाक्रमण में पुरुष प्रधान, मध्यमाक्रमण में स्त्री प्रधान, चरमाक्रमण में पुरुषप्रधान, इस प्रकार दोनों ओर से पुरुषप्रतिष्ठा की भित्ति से मध्यस्था स्त्री की स्वतन्त्र इच्छा नष्ट हो जाती है। जो हतथी इस प्राकृत नियम का उल्लंघन करते हैं, वे अपने साथ साथ स्त्री के स्वरूप को भी नष्ट कर देते हैं। उक्त तीनों आक्रमणों में मध्याक्रमणदृष्टि से (शोणित-शुक्र की दृष्टि से) सचमुच संसार की सब स्त्रियाँ पुरुष हैं, एवं संसार के सब पुरुष स्त्रियाँ हैं। उक्त मन्त्र इसी व्यवस्थिति का निरूपण करता है।

अध्यात्मसंस्था

“पुरुष एवेदं सर्वम्”	१	१-आग्नेयशरीरयुक्तः पुरुषः-पुरुषः २-सौम्यशरीरयुक्ता स्त्री-स्त्री	} पुरुषस्त्रियमनुधावति-प्रथमाक्रमणं पुरुषप्रधा०
	—•—		
	२	१-मौम्यं शुक्रम्—-—स्त्री २-आग्नेयमांसवम्—-—पुरुषः	} स्त्रीपुरुषमनुधावति-द्वितीयाक्रमणं स्त्रीप्रधानम्
	—•—		
	३	१-शुक्रगतः-आग्नेयःपुंभ्रूणः-पुरुषः २-शो. ग. सौम्यःस्त्रीभ्रूणः-स्त्री	} पुरुषस्त्रियमनुधावति-तृतीयाक्रमणं पुरुषप्रधा०
	—•—		

उक्त तीनों स्थितियों में से मध्य के शुक्रशोणितभाव को लक्ष्य में रखकर अपि कहते हैं—

स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस आहुः

इस रहस्य को अक्षयवान् ही देख सकता है, आँखों का अंधा इस रहस्य को क्या जानें। जो विद्वान् कामशक्ति के ‘यक्षर-मीन’ स्वरूप को समझता है, वही यह जान सकता है कि शुक्र

वास्तव में स्त्रीकाममय है, शोणित वास्तव में पुरुषकाममय है। वह दूसरा समझने वाला व्यक्ति है कविपुरुष। वह इस स्त्रीभाव को जानता हुआ सचमुच अपने पिता का भी पिता बन रहा है। भृगु और अङ्गिरा का रहस्य जानने वाला पुत्र ही कवि है। ऐसा विद्वान् अपने पिता से भी अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है। विज्ञानदृष्टि के अनुसार कवि का अर्थ है भृगुत्व। आप-वायु-सोम को ही भृगुत्व कहते हैं। पुत्रोत्पत्ति शुक्र की आहुति से होती है। सोममय शुक्र ही अग्नि शोणित में सुत (अभिपुत्र-आहुत) होकर पुत्ररूप में परिणत होना है। शुक्र में जो घनता है वह पानीका भाग है, शर्कराभाग सोम है, गतिभाव वायु है। इस प्रकार शर्करा (सोम) प्रधान शुक्र में आप-वायु-सोम तीनों तत्व प्रतिष्ठित हैं। ऐसी अवस्था में हम शुक्र को अवश्य ही 'भृगु' कह सकते हैं। भृगु ही कवि है। यह कवि (भृगुरूप शुक्र) पुत्ररूप में परिणत होता है, अतः शुक्र को अवश्य ही 'कविपुत्र' कहा जा सकता है। शुक्र सोमप्रधान होने से पुत्ररूप में परिणत होना है, इधर सोम स्त्री है, अतएव तद्रूप पुत्र (पुरुष) को हम अवश्य ही स्त्री कहने के लिए तैयार हैं। इसी अभिप्राय से—'कविर्यः पुत्रः स ईषाचिकेन' (जो पुत्र कवि है वह इस रहस्य को जानता है) यह कहा गया है। कन्यासंतान में शोणित की प्रधानता रहती है—'कन्यास्यादात्तवाधिके'। कविपुत्र (शुक्रस्य पुरुषभ्रूण) ही स्त्रीभ्रूण शोणित-भ्रूण के साथ संयुक्त होकर स्त्रीभाव का कारण बनता है। सोम ही अग्नि की ओर जाता है। कन्योत्पादक अतएव स्त्रीरूप शोणित भ्रूण का सम्यक् परिज्ञाता शुक्रभ्रूण ही है। इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है—'यस्ता विजानात्' (कविरूप जो पुरुषभ्रूण स्त्री-भ्रूण को जानता है)। जिसप्रकार स्त्रीस्वरूपसमर्पक स्त्रीभ्रूण आग्नेय शोणित में प्रतिष्ठित रहता है, एवमेव पुरुषस्वरूपसमर्पक पुंभ्रूण सौम्यशुक्र में प्रतिष्ठित रहता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। शुक्र का आभान करने वाला पुरुष 'पिता' कहलाता है। इस पुरुष पिता का पुत्र शुक्र है। पुत्ररूप शुक्र ही पुंभ्रूण का उत्पादक बनता है। पुंभ्रूणद्वारा शुक्राहुति देने वाला पिता माता के गर्भ में [अपनी स्त्री के गर्भ में] स्वयं जन्म लेता है, अतएव 'जायेत पिता स्वयं-अस्यां' इस निर्वचन से स्त्री को 'जाया' कहा जाता है। अपने पुंभ्रूण से उत्पन्न होने वाले

रेतोधा पिता का पिता (जन्मदाता-अभिव्यञ्जक) वास्तव में कवि पुत्ररूप शुक्र ही है। एक ओर पुंभ्रूण है, दूसरी ओर पिता है। मध्य में पुंभ्रूणाधिष्ठाता कविपुत्र नामक शुक्र है। यदि वह पुत्र न होता तो पुंभ्रूण कभी संतानरूप में परिणत नहीं हो सकता था। दूसरे शब्दों में वह रेतोधा पिता कभी जाया में जन्म नहीं ले सकता था। पिता के जाया में जन्म का हेतु पुत्रशुक्र है, अतएव हम इसे अवश्य पिता का पिता (पुंभ्रूणरूप पिता का भी अभिव्यञ्जक) कह सकते हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर 'सपितुष्पिनापत्' "वह शुक्ररूप कविपुत्र पिता [प्रतिकृतिरूप पुंभ्रूण] का भी उत्पादक एवं अभिव्यञ्जक बनता हुआ पुंभ्रूणरूप अपने पिता का भी पिता बन गया" यह कहा गया है। यह है मन्त्रार्थसम्बन्धिनी तीसरी शुक्रविषयिणीभावना का संक्षिप्त निर्देशन।

इति-शुक्रविषयिणीभावना ।

३



प्रासङ्गिक चर्चा समाप्त हुई। अब पुनः प्रकृत विषय का उपवृंहण किया जाता है। उपनिषद् के चतुर्थ चरण का उपक्रम करते हुए रेत-रेतोधा-योनि उत्पत्ति कर्म में इन तीन भावों का समावेश बतलाया गया है [देखिए ई० वि० भा० १.७७ पृ०]। इन तीनों में रेत और योनि दोनों स्थिर हैं, रेतोधा गतिशील है। यही अधिदैवतसंस्था में जहां—'मातरिश्वा' नाम से व्यवहृत होता है, वहां अध्यात्मसंस्था में वही 'एवयामरुन्' नाम से प्रसिद्ध है। योधा-प्राणप्रधाना स्त्री का अग्निमय शोणित योनि है, वृषाप्राणप्रधान पुरुष का सोममयशुक्र 'रेत' है। यह आहुति द्रव्य है, आप तत्व है, सुबल है। स्त्री का रक्त आहुति का स्थान है, अग्नि है, ब्रह्म है। इस ब्रह्मरूप योनि में सुबल की आहुति होती है। आहुति देने वाला वायु है।

• इस विषय का विस्तृत विवेचन 'नासदीयसूक्त विज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

यदि यह वायु शुक्र को दो भागों में विभक्त कर देता है तो यमत्र सन्तान उत्पन्न होती है । रेत को योनि में, सुब्रह्म को ब्रह्म में, सोम को अग्नि में, शुक्र को शोणित में आहित करने के कारण ही यह वायु 'मातरिश्वा' कहलाता है । माता स्त्री है, पिता पुरुष है । वायु शुक्र के चारों ओर वेष्टित होकर ही शुक्र की आहुति देता है । सोमप्रधानशुक्र स्त्रीरूप बनता हुआ सचमुच 'माता' है । अतएव—“मातरि (शुक्रे) श्वयति (व्याप्नो भवति)” इस व्युत्पत्ति से शुक्र आधाता इस रेतोधा वायु को 'मातरिश्वा' कहना न्यायसंगत होता है । रेत अपने आप योनि में सिक्त नहीं होता, अपि तु वायु द्वारा ही यह सिक्त होता है । स्त्रीपुरुष के मिथुनभाव से अग्नि प्रबल होजाता है । अग्नि के जुध्व होते ही शरीरगत वायुवाहिनी नाडियों [धमनियो] में भरा हुआ वायु स्थान-च्युत होता हुआ अग्नि से सतप्त शुक्र को स्वस्थान से च्युत कर देता है । वायु के प्रत्याघात से ही शुक्र गतिमत् बनता हुआ शोणित में आहुत होता है । इस अध्यात्ममंस्था के साथ अधिदैवत की समता का विचार कीजिए । गर्भाशयगत रुधिर को अग्नि समझिए, इसी को वेद समझिए । वेद वेदि पर ही तो प्रतिष्ठित रहता है । माता ही तो वेदि है । द्विब्रह्मापरपर्यायक अनेजदेजत् यजु को ब्रह्म समझिए । शुक्र को सोम समझिए, इसी को सुवेद समझिए, इसी को षड्-ब्रह्मापरपर्यायक 'आप' [सुब्रह्म] समझिये । शुक्र के चारों ओर वेष्टित भार्गववायु को 'मातरिश्वा' समझिये । इन्हीं तीनों को क्रमशः योनि-रेत-रेतोधा समझिये । ब्रह्मरूप योनि में आपरूप रेत की वायुरूप रेतोधा मातरिश्वा द्वारा आहुति होती है । दूसरे शब्दों में मातरिश्वा आपतत्त्व की ब्रह्म में आहुति देता है, इसी से गर्भाधानपूर्वक प्रजोत्पत्ति होती है । यह है आध्यात्मिक प्रजोत्पत्तिक्रम । जैसा आप यहां [अध्यात्म में] प्रत्यक्ष कर रहे हैं, ठीक वही स्थिति वहां [अधिदैवत में] समझिये—“यदेवेह तदमुत्र” ।

- १-योनिः—आत्तत्रम् [आग्नेयम्] → → → यजुर्ब्रह्माग्निः [ब्रह्म] }
 २-रेतः—शुक्रम [सौम्यम्] → → → षड्ब्रह्मसोमः [आपः] } ततः प्रजोत्पत्तिः
 ३-रेतोधाः—वायुः [अनुष्णाशीतः] → → → भार्गववायुः [मातरिश्वा] }

अनेजत्-एजत् रूप ब्रह्म यजुरग्निमूर्ति बनता हुआ यद्यपि पुरुष है, परन्तु यह विश्वप्रजा का योनेस्थानीय होने से स्त्री कहा जा सकता है। एवं सुब्रह्म सोमरूप होने से यद्यपि स्त्री है, परन्तु शुक्रस्थानीय होने से (रेतस्थानीय होने से) यह पुरुष नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। त्रयीविद्यायन ब्रह्म से आप् उत्पन्न हुआ। त्रयीविद्या के साथ वह आपके गर्भ में प्रविष्ट होगया। यह पहिला आक्रमण है, पहिला मिथुन है। ब्रह्माग्निरूप पुरुष सुब्रह्मसोमरूप स्त्री पर आक्रमण कर रहा है। आगे जाकर अध्यात्मक्रमानुसार मातरिश्वा द्वारा वह आप (शुक्र) उम ब्रह्म (योनि) के साथ संगत होता है। यह शुक्र-शोणित का दूसरा मिथुनकर्म है। आगे जाकर आपगत पुंभ्रूणरूप गायत्रीमात्रिक नाम के वेदाग्नि, एवं ब्रह्मगर्भित सुब्रह्मरूप स्त्रीभ्रूण दोनों का मिथुन होता है। यही तीसरा आक्रमण है। इस से मिथुनभाव सर्वात्मना सम्पन्न हो जाता है, एवं तत्काल विराट्पुरुष गर्भ में आजाता है। यह विराट् इस दम्पती की पहिली सन्तान है।

अविदैवतसंस्था

- १-ब्रह्माग्निः (अग्निः—पुरुषः) { ब्रह्म अग्नेऽभि-अनुधावति } प्रथमाक्रमणं ब्रह्म (पुरुष)-
२-आपः (सोमः—स्त्री) { (पुरुषः स्त्रियमनुधावति) } प्रधानम्

- २-आपः (सौम्यं शुक्रं—स्त्री—रेतः) { आपः—अग्निमनुधावति } द्वि. आक्र. आप् (स्त्री) प्र-
२-अग्निः (आग्नेयमार्तवं-पुरुषः-योनिः) { (स्त्रीपुरुषमनुधावति) } धानम्

- ३-अव्यगर्भितोऽग्निवेदः (पुंभ्रूणोऽग्निः—पुरुषः) { अग्निवेदः सोमवेदमनुधावति } तृ. आ. वेद (पु.) -
२-ब्रह्मगर्भितः सोमवेदः (स्त्रीभ्रूणः सोमः—स्त्री) { (पुरुषः स्त्रियमनुधावति) } प्रधानम्

“ततो विराडजायत”

‘अनेजदेकं मनसो जवीयः’ इत्यादि मन्त्र तीनों स्थितियों में से मध्यस्थिति का ही निरूपण करता है । अग्निमूर्तिब्रह्म योनिरूप से स्वस्थान में प्रतिष्ठित है । इस में मातरिश्वा द्वारा आपरूप रेत की आहुति होती है । दोनों के [अग्नि और आप के] मिथुन से विराट् पुरुष उत्पन्न होता है , जैसा कि—‘तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः’ इत्यादि रूप से कहा जा चुका है ।

ब्रह्म—आप के मिथुनभाव से उत्पन्न अपूर्वभाव में ब्रह्म और आप के अनिरिक्त और क्या हो सकता है ! वे दोनों पृथक् पृथक् थे, दोनों का समन्वितरूप विराट् है । ऋक्सामाथर्विजुन ब्रह्म ब्रह्म है । इस में यत्-ज् (एजत्-अनेजत्) दो विभाग हैं । इस प्रकार ऋक्-साम यजुर्पूतिब्रह्म ऋक्-साम-यत्-ज् भेद से चतुष्कल हो जाता है । दूसरा आपत्त्व है । इस की भृगु-अद्विग्रा भेद से आप-वायु-सोम-अग्नि-र्यम-आदित्य यह ६ कलाएं हैं । संभूय १० कलाएं हैं । दशकल की समष्टि दश अक्षर की समष्टि है । छन्दोविज्ञान के अनुसार दशाक्षर छन्द को ही ‘ विराट् ’ [दक्षिणीविराट्] कहा जाता है । यही विराट् सूर्यरूप से हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है । सूर्य आपोमय है, इसी लिए तो—‘अपांगम्भन्त्सीद्’ यह कहा जाता है , एवं अग्निमयत्त्व तो स्पष्ट ही है । यदि सूर्य में पानी न होता तो सूर्य क्षणमात्र में संसार को भस्म कर डालता । साथ ही में यदि सूर्य में अग्नि न होता तो सारा संसार समुद्रगर्भ में विलीन हो-जाता, जैसा कि प्रतिदिन क्षीण होता हुआ किसी युग में [कल्पान्त में] निःशेष बनता हुआ सौर अग्नि विशुद्ध आप का साम्राज्य रखता हुआ प्रलय का अभिषेक बन जायगा । इसी आप्-अग्नि मूर्ति विराट्सूर्यपुरुष [हिरण्यगर्भप्रजापति] से आगे की सारी सृष्टिएं होती हैं, जैसा कि निम्न लिखित श्रुतियों से स्पष्ट है—

१.—विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।

सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥

[प्ररनोपनिषत् १।८]

२—दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दरे अर्थःतरश्चिर्भ्राजमानः ।

नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कुरुवन्नपांसि ॥

[ऋक् सं० ७ मं० । ६३ सू० । ४ मं०]

३—चित्रं देवानामुदगाच्चतुर्भिर्ब्रह्म वरुणस्याग्रेः ।

आभायानापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

[यजुः सं० १३।४६]

ब्रह्म और सुब्रह्म दोनों अव्यक्त थे, पहिला व्यक्त यही स्वयंयतिर्घन हिरण्यगर्भनाम से प्रसिद्ध विराट् पुरुष है । हिरण्यगर्भविद्या के उपासक महर्षि विश्व को सूर्यमूल ही मानने हैं, जैसा कि—‘मुण्डकोपनिषत्विज्ञानभाष्य’ में विस्तार से निरूपित है । इस मिथुनभाव से अण्ड का उदय होता है, यही ब्रह्माण्ड सूर्य का विश्वरूप है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है । इसी ब्रह्माण्ड को लक्ष्य में रख कर स्मृति कहती है—

तदण्डमभवद्दैवं सहस्रांशुसमप्रभम् ।

तस्मिज्जज्ञे स्वं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ (मनु० १।१८) ।

स्वयम् ब्रह्म—इस सूर्य के पिता हैं । सूर्य हम सब के पिता हैं । तभी तो ब्रह्मा को पिता-मह [बाबा] कहा गया है । विराट् पुरुष को अपने गर्भ में बीजरूप से प्रतिष्ठित रखने वाले, रेत-योनि-रेताधारूप उस दम्पतीभाव का ही ‘अनेजदकम्’ इत्यादि मन्त्रमें निरूपण हुआ है । ‘अनेजदकं मनसो जवीयो नैनद्वा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्’ ‘तद्वावतोऽन्यानसेति तिष्ठत्’ यह मन्त्रभाग योनि का निरूपक है, ‘तस्मिन्नपः’ यह भाग रेत का निरूपण करता है, एवं ‘मातरिश्वा दधाति’ यह मन्त्र शेष रेतोधा का विवेचन करता है । वेदघन ईश्वर समुदायरूप से सर्वथा अनेजत् है, अवयवदृष्ट्या मन से भी जवीय है । इस प्रकार नित्य अशान्ति (गति) गर्भित नित्यशान्त [स्थितिरूप] वेदमय ईश्वर [सर्वभूतान्तरात्मा] वृक्षवत् स्तब्ध खड़ा है । सारा विश्व इस पूर्णपुरुष से पूर्ण है । स्थितिगतिसमष्टिरूप सर्वव्यापक, किन्तु मायावन्विज्ज इसी तत्त्व

को हमने यजुर्वेद कहा है । वेदत्रयी में ऋग्वेद महोक्त है, सामवेद महाव्रत है, यजु अग्नि है, वृषा है, योनि है । इसी यजु के जरूप मर्त्यवाक् भाग से षड्ब्रह्मरूप आपोब्रह्म उत्पन्न हुआ है । जहांतक यजुर्वेद व्याप्त है, वहींतक आपोब्रह्म व्याप्त है । दोनों समानायतन हैं । महा-मायावच्छिन्न विद्याकर्ममय उस व्यापक क्षराक्षरविशिष्ट अव्यय पुरुष [पोडशीपुरुष] का चित्र अपने सामने रखिए । इस पर पहिला वेदत्रयीरूप ब्रह्मस्तर समझिए, दूसरा षड्ब्रह्मरूप सुब्रह्म-स्तर समझिए । साथ ही में तीनों की व्याप्ति समानप्रदेश में समझिए । साथ ही में यह भी स्मरण रखिए कि उत्तरउत्तर स्तरों में पूर्व पूर्वस्तर निम्न प्रतिष्ठित हैं । 'अनेजदेकम्' से पहिला उपनिषद्भाग विशुद्ध पोडशीपुरुष का निरूपण करता है, 'अनेजदेकम्' इत्यादि मन्त्र विद्या-कर्ममय दूसरे ब्रह्मस्तर का निरूपण करता है, एवं आगे का—'सपर्यगाद्' इत्यात्मक तीसरा अधिकरण तीसरे सुब्रह्मस्तर का निरूपण करता है । ब्रह्मपुरुष से उत्पन्न सुब्रह्मरूप [अवूर्ण] स्त्रीपुरुष पर प्रतिष्ठित थी, पति पत्नी का सम्बन्ध था, परन्तु बहिर्याम सम्बन्ध था, दोनों के शरीर मात्र मिले हुए थे । ऐसे योगरूप बहिर्याम सम्बन्ध से विशोत्पत्ति असंभव थी । अतएव आगे जाकर मातरिषा द्वारा दोनों का अन्तर्याम सम्बन्ध हुआ । इन दोनों के मिथुन-भाव से जो अपूर्व तत्त्व उत्पन्न हुआ, वही—'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ । पूर्वमें हमने इस अपूर्वभाव को 'विराट्मूर्त्य' कहा था, एवं यहां शुक्र को अपूर्वभाव बतलाया जा रहा है । इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए । कारण 'शुक्र' ही सूर्य का जन्मदाता है । शुक्रावस्था का आंशिक प्रदेश ही आगे जाकर सूर्यरूप में परिणत होता है । अतएव—'तद्वाऽएष एव शुक्रो य एष तपति' तद्यदेष तपति तेनैष शुक्रः' [शत० ४ २।१।१।] इत्यादि रूप से सूर्य शुक्र नाम से प्रसिद्ध है । अतएव प्रहविद्या के अनुसार जहां चन्द्रमा को 'मन्थी' कहा जाता है, वहां सूर्य को 'शुक्र' कहा जाता है । सौराग्नि ही अपने प्रवर्ग्यांश से ग्रीष्म ऋतु का अधिष्ठाता बनता है, अतएव ग्रीष्म ऋतु को भी [सूर्य सम्बन्ध से] 'शुक्र' कहा जाता है । ज्येष्ठमास 'शुक्र' है, आषाढमास 'शुक्रि' है । [देखिए शत० ४।३।१।५] । विराट् सूर्य को छोड़ दीजिए । अभी विराट् शब्द से केवल शुक्र का ग्रहण कीजिए । त्रयीब्रह्म एवं आपके अन्तर्यामरूप याग सम्बन्ध से

जो अपूर्वभाव उत्पन्न हुआ, वही विश्व का उपादान बनता हुआ [शुक्र-साम-यत्-जू-आप-वायु-सोम-अग्नि-यम-आदित्य भेद से दशाक्षर बनता हुआ] विराट्शुक्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। जहां तक [महामायातक] ब्रह्म-सुब्रह्मस्तर व्याप्त थे, वहीं तक दोनों की सम्मिलित अवस्था-रूप विराट्शुक्र व्याप्त हुआ। यही पहिला अव्यक्त स्वयम्भू है। ससीम और असीम [किन्तु मायावच्छिन्न होने से परमार्थतः असीम] भेद से स्वयम्भू दो प्रकार का है। जबतक महान् की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक पुण्डीर स्वयम्भू का उदय नहीं होता। महदुत्पत्ति से पहिले अपनी सत्ता रखने वाला शुक्रमूर्ति स्वयम्भू व्यापक है, महामायावच्छिन्न बनता हुआ एक है। इस महा-विश्वव्यापक महा स्वयम्भू के उदर में महान् की कृपा से उदित होने वाली अनन्त योगमायाओं से अनन्त पुण्डीर स्वयम्भू प्रादुर्भूत होते हैं, जिनका कि दिग्दर्शन आठवें मन्त्र में कराया जायगा। जो किसी समय द्विब्रह्म था, वही मातारिश्वा द्वारा षड्ब्रह्म [आप] से मिथुनभाव को प्राप्त होता हुआ 'शुक्र' कहलाने लगता है। शुक्र क्या पदार्थ है? इस प्रश्न का उत्तर है षड्ब्रह्मगर्भित यजुर्ब्रह्म। विश्व के उपादान कारण ही को शुक्र कहते हैं। इसमें वेद-सुवेद दोनों हैं। दोनों का मिथुनभाव ही विश्व का उपादान बनता है, अतएव इस मिथुनरूप को हम अवश्य ही 'शुक्र' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। यही व्यापक अव्यक्त स्वयम्भू है। यही अव्यक्त आगे जाकर व्यक्त महद्रूप में परिणत होकर विश्व का प्रभव-प्रतिष्ठा परायण बनता है, जैसा कि निम्न वचन से स्पष्ट है-

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यद्वयागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तमङ्गके ॥ (गी० ८।१८)

यही अव्यक्त महत्तत्त्व के सम्बन्ध से अशक्त्यरूप में परिणत होजाता है। इस व्यापक अशक्त्यमूर्ति व्यापकशुक्र से सृष्टि निर्माण होता है।

शरीर पर दृष्टि डालिए। सर्वाङ्ग शरीर में व्यापक सभी शुक्र प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनता। यत्किञ्चित् शुक्र ही योनि में आहुत होकर प्रजोत्पत्ति कारण बनता है। यही अवस्था

यहां समझिए। महामाशवच्छिन्न ईश्वरशरीर शुक्रमय (ब्रह्म सुब्रह्ममय) है। जैसे भिन्न भिन्न शुक्रा-
द्वतियों से भिन्न भिन्न (पुत्र कन्यादि] प्रजाएं उत्पन्न होती हैं, एवमेव ईश्वर शरीर में व्याप्त शुक्र
की भिन्न भिन्न आद्वतियों से भिन्न भिन्न प्रजा की उत्पत्ति होती है। ईश्वर की प्रजा के
१-स्वयम्भू (पुण्डरीरस्वयम्भू) २-परमेष्ठी, ३-सूर्य, ४-चन्द्रमा, ५-पृथिवी यह पांच
विभाग हैं। पांचों की समष्टि एक विश्वप्रजा है। ऐसी अनन्त प्रजाएं (अनन्त विश्व) उस में
उस के भिन्न भिन्न शुक्र प्रदेशों से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार शुक्र भेद से अनन्त विश्वप्रजाओं
को उत्पन्न कर वह अनन्तविश्वाधिष्ठाता बन जाता है। ईश्वरत्व 'शुक्र' रूप में कैसे परिणत हो
जाता है ! प्रकृत मन्त्र इसी का समाधान करना है। एवं यह शुक्र भिन्न भिन्न प्रजाओं को कैसे
उत्पन्न करता है ! पुण्डरीर प्रजाओं का क्या स्वरूप है ! इन सब प्रश्नों का समाधान 'स पर्य-
गान्०' इत्यादि मन्त्र करता है। स्वयम्भू ब्रह्मसत्त्व है। प्राकृतिकप्राण की विकासमूर्ति होने से
इसे 'प्राकृतात्मा' कहा जाता है। महद् रूप व्यक्त विश्व का अधिष्ठाता यह स्वयं अव्यक्त है।
इसी दृष्टि से इसे 'अव्यक्तात्मा' कहा जाता है। अध्यात्मसंस्था में वही अव्यक्ताश 'शान्तात्मा'
नाम से प्रसिद्ध है — (देखिए कठोपनिषद् १।३)। वही ब्रह्मसत्यात्तर, स्वयम्भू, अव्य-
क्तात्मा, शान्तात्मा आदि विविध नामों से प्रसिद्ध पहिला प्राकृतात्मा है। अब महानात्मा
नाम से प्रसिद्ध दूसरे प्राकृतात्मा की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इति मन्त्रार्थप्रकरणम्

अव्यक्तात्माधिकरणो-

विश्वविश्वात्मनोः-सम्बन्धाधिकारः

(अमृतात्मना सह ब्रह्मसत्यस्य सम्बन्धनिरूपणम्)

ब्रह्म-कर्मणोः सम्बन्धः



१	तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्य बाह्यतः ॥ १ ॥	{ ब्रह्म कर्मस्थम्
२	यानु सर्वाणि भूतानि-आत्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ २ ॥	{ कर्म ब्रह्मस्थम्
३	यस्मिन्स्वर्गेण भूतानि-आत्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ३ ॥	{ ब्रह्मेव कर्म





ब्रह्मकर्मसम्बन्धनिरुक्तिः



अव्यय पुरुष प्रकृति को आगे कर के ही विश्वनिर्माण में समर्थ होता है । प्रकृति विशिष्ट, (अत एव) सृष्टिप्रवर्तक अव्यय पुरुष के ब्रह्म और कम यह दो प्रधान विवर्त हैं । आनन्द-विज्ञान-मन का समुच्चय ब्रह्मभाग है, मन-प्राण-वाक् का समन्वितरूप कर्मभाग है । दोनों नित्य सहचारी हैं । ब्रह्म-कर्ममय अव्यय से (प्रकृति द्वारा) उत्पन्न विश्व में भी ब्रह्म-कर्म (ज्ञान-क्रिया) इन दो तत्वों का ही साम्राज्य है । प्रयास करने पर भी आप ज्ञान कर्म के अतिरिक्त तीसरी वस्तु प्राप्त नहीं कर सकते । विश्वात्मा में ब्रह्मभाग विकसित रहता है, विश्व में कर्म की प्रधानता रहती है । अत-एव विश्वात्मा को 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया जाता है, एवं विश्व को 'कर्म' नाम से पुकारा जाता है । इस भेद व्यवहार का मूल कारण यही है कि अव्ययात्मा का सृष्टिस्थानीय भाग मन-प्राण-वाङ्मय है । मन रूपों का उक्त-ब्रह्म-साम है, प्राण कर्मों का (क्रियाओं का) उक्त-ब्रह्म-साम है, एवं वाक्त्व नामों का उक्त-ब्रह्म साम है । नामरूपकर्म की समष्टि ही विश्व है । अव्ययात्मा के कर्मभाग को आलम्बन मानकर शब्दतन्मात्रा द्वारा ही विश्व का निर्माण हुआ है । इस कर्मप्रधान विश्व के ब्रह्म-शुक्र-विश्व यह तीन विवर्त हैं । अव्ययप्रधान षोडशी स्वयं अमृत किं वा अमृतात्मा है । उपनिषद् के आरम्भ में (पृ० ११) एवं प्राकृतात्माधिकरणान्तर्गत वेदनिरुक्ति की प्रकरणसंगति में (पृ० सं० ४।१५) उपनिषद् का जो विषय विभाग बतलाया गया है, आज उसे दूसरी तरह से देखिए । कर्मगर्भित ब्रह्म (षोडशी पुरुष) के अमृत-ब्रह्म-शुक्र-विश्व यह चार विवर्त हैं । यही चतुष्पाद्ब्रह्म है, जिसका कि पूर्व के चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणाधिकार में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जा चुका है । प्रकारान्तर से ईशोपनिषद् इन्हीं चारों ब्रह्म विवर्तों का निरूपण करती है । मन्त्रत्रयात्मक प्रथम प्रकरण (पुरुषात्माधिकरण) अमृत नाम से प्रसिद्ध विशुद्ध षोडशीपुरुष का निरूपण करता है । 'अनेज-देकं मनसो जवीयः' यह मन्त्र ब्रह्म नामसे प्रसिद्ध अव्यक्त तत्व का निरूपण करता है ।

‘स पर्यगाच्छुक्कम्’ इत्यादि मन्त्र शुक्क नाम से प्रसिद्ध विकृतितत्वरूप व्यक्तत्व का निरूपण करता है, एवं ‘सपर्यगात्’० से आगे का सारा प्रकरण विश्व नाम से प्रसिद्ध वैकारिक जगत् का प्रतिपादन करता है। इन चारों विवर्तों में अमृतात्मा विश्वात्मा है, विश्वका आधार है, विश्वसाक्षी है, पुरुष है। ब्रह्म [अव्यक्त] मूलप्रकृति है। शुक्क विकृति है। विकार विश्व है। पुरुष-प्रकृति-विकृति-विकार-ही अमृत-ब्रह्म-शुक्क-विश्व हैं। इन चारों में पुरुष ज्ञानप्रधान बनता हुआ ब्रह्म है, प्रकृति-विकृति-विकार यह तीनों विवर्त कर्मप्रधान बनते हुए कर्मरूप ही हैं। यद्यपि विश्व केवल विकारसंघ का ही नाम है। तथापि विकृतिरूप शुक्क ही इसका उपादान कारण बनता है। एवं कार्यरूप विश्व उपादान कारणरूप शुक्कसत्ता से ही सत्ता-युक्त बन रहा है। कारण कार्य से अभिन्न है, विकार विकृति से अभिन्न है। अतएव विकृतिरूप शुक्क को विकारसंघरूप विश्व में ही अन्तर्भूत मानलिया जाता है। तीसरा है प्रकृतिरूप ब्रह्म-भाव। अव्यक्त प्रकृति ही व्यक्त विकृति (शुक्क) को उत्पन्न कर विश्व की मूल जननी बनती है। प्रकृति की अव्यक्तावस्था ही तो व्यक्तभाव में परिणत होकर शुक्क (उपादान) बनती है। अतः इस प्रकृतिरूप अव्यक्त ब्रह्म का विकृतिरूप व्यक्त शुक्क में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। प्रकृति को विकृति से पृथक् नहीं किया जासता, विकृति को विश्व से पृथक् नहीं माना जासकता।

प्रकृति कर्त्री (निमित्तकारण) है, विकृति उपादाकारण है, विकारादि विश्व कार्यरूप है। चौथा स्वयं अमृतात्मा प्रकृति-विकृति-विकार इन तीनों का आसम्बन्ध बनता हुआ सर्वोत्सम्बन्ध है। वह कार्य कारणातीत है। यद्यपि सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर स्वयं अमृतात्मा में भी (षोडशी पुरुष में भी) अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-ब्रह्मशुक्कविश्व इस क्रम से उक्त कारणता चतुष्टयी की सत्ता सिद्ध होजाती है। इस विभाग में अव्यय अमृत है, अक्षर ब्रह्म (अव्यक्त प्रकृति) है, आत्मक्षर शुक्क (व्यक्तविकृति) है, एवं ब्रह्म-शुक्क-विश्व समष्टि वैकारिक कार्य है। दूसरे शब्दों में अव्यय आसम्बन्ध है, अक्षर निमित्तकारण है, आत्मक्षर उपादानकारण है, एवं ब्रह्म-शुक्क विश्व की समष्टि कार्य ब्रह्म है, तथापि भौतिक विश्व के कार्यकारणभाव के विचार उप-

स्थित होने पर इस कम को प्रधानता नहीं दी जा सकती । 'चरः सर्वाणि भूतानि' के अनुसार भौतिकविरव अन्य-अक्षर की कारणता से पृथक् ही मानना पड़ता है । वह ठीक है कि आत्मकारणता ही चरमकारणता है, तथापि स्थूलदृष्टि से हम षोडशीरूप अमृतात्मा को कार्यकारणताही ही कहेंगे । इस प्रकार चतुष्पाद्ब्रह्म के सम्बन्ध में आत्मा-विरव भेद से दो विवर्त हो जाते हैं । आत्मा भी चतुष्पात् है, ब्रह्म भी चतुष्पात् है । दोनों की समष्टि अष्टाक्षर गायत्री छंद है । अतएव ब्रह्मविद् ब्राह्मण गायत्री से ही विरव का निर्माण मानते हैं ।

पुरुष-प्रकृति विकृति सब कुछ गायत्री के उद्गार में समाविष्ट है । गायत्री चतुष्पाद् ब्रह्म की विभूति है । 'सर्वाणि इ वा छन्दांसि चतुस्ताराणि' के अनुसार गायत्री के आरम्भ में चार पाद (अक्षर) थे, परन्तु विश्वोत्पत्ति के अनन्तर चतुष्पाद् आत्मब्रह्ममयी गायत्री अष्टाक्षरा बन जाती है । इसी ब्रह्मविभूति की प्राप्ति के लिए ब्रह्मविद् ब्राह्मण ब्राह्ममुहूर्त में पूर्णभिमुख खड़े हो कर गायत्रीब्रह्म का स्मरण किया करते हैं । गायत्री ही सब कुछ है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर छान्दोग्य श्रुति कहती है—

“गायत्री वा इदं सर्वं-भूतं-यदिदं किञ्च । वागैव गायत्री । वाग्वा इदं सर्वं भूतम् । गायति च त्रायते च । ÷ ÷ + ÷ ÷ तावानस्य बहिष्ता ततो ज्यायांश्च पुरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि । यद्वैनद् ब्रह्म इति, इदं वाव तव, योऽयं-बहिर्धा पुरुषादाकाशः । यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः-अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशः । यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः - अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः । तदेतत् पूर्णं अप्रवर्त्ति, पूर्णमपवर्त्तिनीं श्रियं लभने य एवं वेद” इति ।

[छान्दोग्योपनिषत् ३ प्र. १२ खं.)

गायत्रब्रह्म

“अष्टादशो वे गायत्री । गायत्री ना इदं मदीयम्”

१-१-अव्ययपुरुषः—पुरुषः—अमृतम् (आलम्बनम्)	} आत्मा	} ? चतुष्पाद्ब्रह्म
२-२-ब्रह्मपुरुषः—प्रकृतिः—ब्रह्म (निमित्तकारणम्)		
३-३-आत्मक्षरपुरुषः विकृतिः—शुक्लम् (उपादानकारणम्)		

४-४- ब्रह्म (१) शुक्लम् (२) विश्वम् (३)	} विकारसंघः—विश्वम् (व्याप्यप्रश्नम्) } विश्वम्

—:—:—

५-१-षोडशीपुरुषः—पुरुषः—अमृतम् (आलम्बनम्)	} आत्मा (पुरुषः)

६-२-ब्रह्म (अव्यक्तप्रकृतिः)—प्रकृतिः—ब्रह्म (निमित्तका०)	} २ चतुष्पाद्ब्रह्म
७-३-शुक्लम् (व्यक्तप्रकृतिः)—विकृतिः—शुक्लम् (उपादान०)	
८-४-विश्वम् (व्यक्तकार्यम्)—विकारसंघः—विश्वम् (कार्यप्र०)	

} विश्वम्
(प्रकृतिः)

“गायत्री ब्रह्म”

“गायत्रे ब्रह्म”

दोनों ब्रह्म विवर्तों में से ईशोपनिषत् में प्रधान दृष्टि किस विवर्त पर है ? यह पाठक स्वयं विचार करें । उन्हें उपनिषत् के नाम से ही यह विदित होजायगा कि उपनिषत् की प्रधानदृष्टि दूसरे विवर्त पर है । ईश शब्द भौतिक विश्व की अपेक्षा रखता है । षोडशी पुरुष आत्मा है । ब्रह्म-शुक्ल-विश्व की समष्टि इस आत्मा का शरीर है । इस आत्मन्त्री का नाम ईश किंवा ईश्वर है । आत्मभाग अमृतभाग है, शरीरभाग प्राकृतभाग है । दूसरे शब्दों में आत्मा पुरुष है, शरीर प्रकृति है । ईश उपनिषत् प्रकृतिपुरुष का ही निरूपण करती है । अतएव इस उपनिषत् में हमें पुरुषान्माधिकरण—प्राकृतात्माधिकरण यह दो ही अधिकारण रखें हैं । साथ ही में पुरुषान्माधिकरण का शीर्षक (हेडिंग) ‘अमृतात्मा’ रखना है, प्राक० करण का

‘माकृतात्मा’ यह शीर्षक रक्खा है। सामान्य दृष्टि से सारी उपनिषत् के दो ही विभाग हैं। आरम्भ के तीन मन्त्रों की समष्टि पुरुषविभाग है, आगे के (अनेजदेकं—से आरम्भकर नम उक्ति विधेम पर्यन्त) १५ मन्त्रों की समष्टि प्रकृतिविभाग है। प्रकृति की आगे जाकर प्रकृति-विकृति विकारसंघ (ब्रह्म-शुक्र-विश्व) यह तीन अवस्थाएं होजाती हैं, अतएव दूसरा विभाग तीन भागों में विभक्त हो जाता है। ‘अनेजदेकं०’ इत्यादि चतुर्थमन्त्र प्रकृति के ब्रह्मविवर्त का निरूपण करता है। ‘सपर्यगात्०’ इत्यादि आठवां मन्त्र प्रकृति के शुक्रविवर्त का निरूपण करता है। एवं आगे के (अन्यं तमः० इस ९ मन्त्र से आरम्भ कर ‘नम उक्ति विधेम’ इस १८वें मन्त्र तक) १० मन्त्रों की समष्टि प्रकृति के विश्वविवर्तभूत वैकारिकसंघ का निरूपण करती है। इस प्रकार १ (४ मन्त्र), १ (८ मन्त्र), १ (९ से १८ तक) इस क्रम से प्रकृतिके ही तीनों विवर्तों का निरूपण हुआ है। उपनिषदुपदेश जीवात्मा (अध्यात्म) से सम्बन्ध रखता है। जीवात्मा देवसत्य नाम से प्रसिद्ध है। जीवदेवसत्य की प्रतिष्ठा ईश्वरीय देवसत्य है। यह दोनों ही देवसत्य विश्व के पृथिवीपर्यं पर प्रतिष्ठित हैं। देवसत्य अग्निरूप है। सोम अग्नि का जीवन है। सूर्य इस देवसत्य का आत्मा है। सूर्यरूप विश्व (व्यक्त विश्व) देवसत्य की मूलप्रतिष्ठा है। सोममय चन्द्रमा जीवनीय रस है, जीवन का साधन है, पृथिवी आधार है। इस प्रकार व्यक्त विश्व में सूर्य-चन्द्रमा-देवसत्य-पृथिवी यह चार विवर्त होजाते हैं। सूर्य भी अग्नि है, देवसत्य भी अग्नि है, पृथिवी भी अग्नि है, मध्यपतित सोमरूप चन्द्रमा भी अग्नि से ही गृहीत है। विश्व के लिए ‘अग्नीषोमात्मकं जगत्’ यह कहा जाता है। इन में अग्निकला सूर्य-देवसत्य-पृथिवी इन तीन भागों में विभक्त है। चौथी सोमकला है। इसप्रकार अग्नीषोमात्मक विश्वके सूर्यादि उक्त विवर्त होजाते हैं। चारों की समष्टि को हम (अन्नसोम को अन्ता अग्नि के गर्भ में मानते हुए) अग्निशब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। समष्टिरूप से विश्व सोमगर्भित अग्नि है, व्यष्टिरूप से वही सूर्य-चन्द्रमा-देवसत्य-पृथिवी इन चार भागों में विभक्त है। सूर्य व्यक्त विश्व का आरम्भस्थान है, पृथिवी अन्तिमस्थान है। मध्यमें चन्द्रमा और देवसत्य प्रतिष्ठित हैं। इन चारों व्यष्टियों का अन्ततोगत्वा समष्टिरूप अग्नि पर अवसान है। इस क्रमसे ९ मन्त्रात्मक चौथे विश्वप्रकरण के

→ — — — → ईशोपनिषत्
(ईश्वरोपनिषत्)

२-१३

—मन्त्र ।

)

- ते.)-स्वयम्भूः (अव्यक्तात्मा)]- २-पाद
तिः)-परमेष्ठी (महानात्मा)]- ३-पाद
ारः)-सूर्यः (बुद्धिः)
') चन्द्रमाः (मनः)
') साक्षी (भोक्ता) } ४-पाद
') पृथिवी (शरीरम्)
') अग्निः (अग्निः)

हरणम्

पूर्णमिदं पूर्णमिदम्
(परात्परः)

(ः २५१२५)
२५१२५ : २५१२५

रण क्रमशः आरम्भ
। (अमृतम्) ।

स्वरूप प्राणमय यजु-
वयम्भू नामसे प्रसिद्ध
कारण बनता है ।
(ब्रह्म) ।

आपोमय सुब्रह्म का
है । अधिदैवत में
सपर्यगान्' इत्यादि

म विकासभूमि सूर्य-
च पृथिवी चान्त-
है । सूर्य ही अपने
होता है । सूर्य दु-
लोक्य की समष्टि ही
वी का ही प्राणाग्नि
मे-सोम-देवसस-
मूल धरातल एक
का निरूपण हुआ
रण सर्वालम्बन-पूर्ण
के उपक्रमोपसंहार में
से सर्वथा शान्त है ।

अवान्तर पांच प्रकरण हो जाते हैं । सूर्यप्रकरण-चन्द्रप्रकरण-देवसत्यप्रकरण-पृथिवीप्रकरण-अग्निप्रकरण इन प्रकरणों में ३ मन्त्र (१-१०-११) सूर्यकला का, ३ मन्त्र (१२-१३-१४) चन्द्रकला का, २ मन्त्र (१५-१६) यह दो मन्त्र पूरे एवं तीसरे १७ वें मन्त्र का 'वायुरनिलममृतम्' यह एक चरण) देवसत्यकला का, पौनः मन्त्र (१७ वे मन्त्र के शेष तीन चरण) पृथिवीकला का, एवं एक मन्त्र (अठारहवां मन्त्र) समष्टिरूप अग्नि का निरूपण करता है, जैसा कि विषयविभागप्रदर्शन में स्पष्ट कर दिया गया है ।

यद्यपि इस अप्रासंगिक चर्चा से पाठक क्षुब्ध हो रहे होंगे । परन्तु हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि यह लोभभाव उन के लिए उपनिषद्ज्ञान का मार्ग ऋजु करदेगा । चलिए समष्टिरूप से विषयविभाग की ओर चलने हुए अपना लोभ और बढ़ाइए ।

उपनिषद् को आत्मन्वी ईश्वरप्रजापति का निरूपण करते हुए तदंशभूत अध्यात्ममंस्था का निरूपण करना है । ईश्वरमंस्था पुरुष और प्रकृतिभेद से दो भागों में विभक्त है । विश्वमंस्थ से पुरुष को अपने कर्मभाग को आगे रखना पड़ता है । स्वयं पुरुष भी अव्यय-अक्षर-क्षर भेद से त्रेधा विभक्त है, एवं अव्यय का कर्मभाग भी मन-प्राण-वाक् भेद से त्रेधा विभक्त है । इन में मन अव्ययप्रधान है, अक्षर प्राणप्रधान है, क्षर वाक्प्रधान है, यह है ईश्वरविवर्त । अध्यात्ममंस्था में अव्ययरूप मन कामना से भोगों का, प्राणरूप अक्षर कर्मों का, वाक् रूप क्षर आवरण

● 'सूर्यावन्तमसौ' का युग्म है । यही संस्तररूप विश्व के प्रवर्त्तक हैं । अतएव दोनों में १-१ भेद से समान क्रम रक्खा गया है ।

+ देवस्त्व सत्य है, सत्य अस्तित्व है । अतएव ऋषि को देवसत्य निरूपण के लिए तीन मन्त्र रखने पड़े । पूरे तीन मन्त्र नहीं, अपि तु सवा दो मन्त्र । १७ वें मन्त्र के तीन चरण पृथिवी में भुक्त होगए । कारण पृथिवी देवसत्य की प्रतिष्ठा है । त्रिपादरूप से वह प्रतिष्ठित रहती है, अपने एकशररूप एकपाद से वह देवस्त्वरूप में परिणत होती है, जैसा कि सत्प्रकरण में आकर स्पष्ट होजायागा । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर तीन पादों में १७ का निरूपण हुआ है, एक चरण का देवसत्य प्रकरण में अन्तर्भाव है ।

का साक्षी बनता है। इसी भोग-कर्म-आवरणसाक्षी त्रिपुरुष पुरुष का निरूपण क्रमशः आरम्भ के तीन मन्त्रों में हुआ है। यही पहिला मन्त्रत्रयात्मक पुरुषात्माधिकरण है। (अमृतम्)।

दूसरा विवर्त है प्रकृति। प्रकृति का पहिलारूप है-पद्मब्रह्मगर्भित द्विब्रह्मरूप प्राणमय यजु-ब्रह्म। यही अर्थात्मा में अव्यक्तात्मा नाम से प्रसिद्ध है, यही ईश्वरसंस्था में स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध है। आरम्भ में यह एकाकी था। यही आगे जाकर शुक्रविकास का कारण बनता है। 'अनेजदेकम्' इत्यादि चौथा मन्त्र इसी ब्रह्मविवर्त का निरूपण करता है। (ब्रह्म)।

प्रकृति का दूसरा विवर्त शुक्र है। द्विब्रह्मगर्भित (यजुर्ब्रह्मगर्भित) आपोमय सुब्रह्म का ही नाम 'शुक्र' है। यह अव्यक्तब्रह्म की व्यक्तावस्था है। यही विकृतिभाव है। अधिदैवत में यह परमेष्ठी नाम से, अर्थात्मा में यही महानात्मा नाम से प्रसिद्ध है। 'सपर्यगात्' इत्यादि ८ वां मन्त्र इसी शुक्रविवर्त का निरूपण करता है। (शुक्रम्)।

प्रकृति का तीसरा विवर्त है-अग्नीषोमात्मक विश्व। विश्व की प्रथम विकासभूमि सूर्य-चन्द्रमा हैं, जैसा कि 'सूर्या चन्द्रमसौ धाता तथा पूर्वमकल्पयत्-दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। सूर्य अग्नि है, चन्द्रमा सोम है। सूर्य ही अपने प्रवर्ग्य अग्नि से पृथिवी को उत्पन्न करता हुआ यात्रापृथिवीरूप में परिणत होता है। सूर्य दु-लोक है, पृथिवी पृथिवी है, मध्यस्थ सोमविवर्त अन्तरिक्ष है। इस त्रैलोक्य की समष्टि ही 'ब्रह्माण्ड' है, यही विश्व है। पृथिवी पिण्डस्थ चित् अग्नि पृथिवी है, पृथिवी का ही प्राणमि देवसत्य है। यह देवसत्य पृथिवी पर प्रतिष्ठित है। इस क्रम से सावित्राग्नि-सोम-देवसत्य-गायत्राग्नि-भेद से अग्नीषोमात्मक विश्व चतुर्णव बनजाता है। सब का मूल धरातल एक सत्याग्नि है। आगे के १० मन्त्रों से इसी पञ्चधा विभक्त अग्नीषोमात्मक विश्व का निरूपण हुआ है। (देखिये ई० वि० भा० ८७ पृ०)। इस पुरुष प्रकृति का आवरणपरीण सर्वालम्बन-पूर्ण अवलम्ब परात्पर तत्व है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए उपनिषद् के उपक्रमोपसंहार में 'ओं पूर्णमदः' इस रूप से शान्तिपाठ किया है। परात्पर व्यापक होने से सर्वथा शान्त है। यही शान्ति का अधिष्ठाता है।

प्रकृत प्रकरण सम्बन्ध का निरूपण करता है । सम्बन्ध के सम्बन्ध में मन्त्रसम्बन्धिनी सम्बन्ध जिज्ञासा सबद्ध है । अत एव प्रसंगोपात्त मन्त्रसम्बन्ध का दिग्दर्शन कराना पड़ा । पुनः प्रकृत का अनुसरण किया जाता है ।

यद्यपि अभी विश्व का स्वरूप नहीं बनलाया गया है । कारण अभीपोमात्मक विश्व का उपादान शुकस्वरूप व्यक्त महत् है, इस की मूलप्रकृति अव्यक्त ब्रह्म है । 'अनेजदेकम्' से इस का निरूपण हुआ है । फिर भी ब्रह्म ही विश्व की मूलप्रकृति है । 'प्रकृतिः कर्त्री' के अनुसार यही व्यक्तावस्था में आकर विश्वस्वरूप में परिणत होने वाली है । जब विश्व की मूलप्रकृति का निरूपण होगया तो एक प्रकार से विश्व का निरूपण होगया । अनेजदेकम्० के अनन्तर ही ऋषिर्ने ब्रह्म-कर्म (पुरुष-प्रकृति) के सम्बन्ध का निरूपण करना उचित समझा है । इस प्रकरण में ब्रह्म शब्द षोडशीपुरुष का वाचक है, कर्मशब्द विकार (विश्व), विकृति (शुक) गर्भित अव्यक्त ब्रह्म का वाचक है । इस कर्ममय, अतएव कर्म नाम से (कर्त्री नाम से) प्रसिद्ध इस अव्यक्त ब्रह्म का विकास उस पुरुषब्रह्म से (पुरुष ब्रह्म के कर्मभाग से) हुआ है । अपनी आत्मक्षर कला से वह अव्यक्त ब्रह्म का ब्रह्म (उपादान) बना है । अतएव सृष्टिकर्तृत्व की अपेक्षा से उसे हम अवश्य ही ब्रह्म कह सकते हैं । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुमाविशत्' के अनुसार क्षरद्वारा अव्यक्त ब्रह्म को उत्पन्न कर वह षोडशीपुरुष (अमृतात्मा) इसके गर्भ में प्रविष्ट होगया है । दूसरे शब्दों में भौतिक कर्मरूप विश्व में वह अमृत ब्रह्म प्रतिष्ठित हो रहा है । ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न उपदिष्ट होता है कि इस ब्रह्म (आत्मा) का इस कर्म (विश्व) के साथ क्या सम्बन्ध है ? कैसा सम्बन्ध है ? हमारे शब्दों में आत्मब्रह्म कर्मविश्व में किस सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर विश्वचर-विश्वेश-विश्वधार आदि नामों से प्रसिद्ध हो रहा है ? प्रकृत तीनों मन्त्र इसी सम्बन्ध जिज्ञासा को शान्त करने हैं ।

दर्शनशास्त्रों ब्रह्म-कर्म का सम्बन्ध ६ प्रकार से माना है । वही सम्बन्ध 'षड्विकल्प' नाम से प्रसिद्ध है । ब्रह्म कारण है, विश्व कार्य है । लोकमें हम कार्य-कारणभावों के सम्बन्ध में वैचित्र्य पाते हैं । कार्य-कारणसम्बन्ध अनेक प्रकार से उपलब्ध होता है । उदाहरण के

लिए कुछ एक कार्यकारणभावों का विचार कीजिए । विविध कार्यकारणभावों का निरूपण करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

हेतुनिमित्तं प्रकृतिश्च योनिः पारम्यमुले प्रभवोदभवौ तथा ।

विवर्तसंचारिरसप्रवाहिकप्रकृत्यपूर्व समवायिका यताः ॥

१—दीपशलाका से दीपक जल उठता है । दीपशलाका कारण है, इससे प्रज्वलित दीपशिला कार्य है । इन दोनों का सम्बन्ध 'हेतुसम्बन्ध' है । इसे ही 'प्रवर्त्तक' सम्बन्ध भी कहा जाता है । कैसा विलक्षण सम्बन्ध है । कारण का कार्यरूपमें परिणत होजाना उपादान सम्बन्ध है । यहां कारणरूप दीपशलाका कार्यस्वरूप साधक बनती हुई भी स्वयं दीपज्वाला नहीं बनती, यही विलक्षणता है ।

२—वायु में एक प्रकार का नोदनावल (प्रेरणावल) देखा जाता है । नोदना कार्य है, वायु कारण है । इसी वायुनोदना से वृक्षादि में कम्प होता है । मेघों का संवरण होता है । यह कार्यकारणसम्बन्ध नैमित्तिक किंवा निमित्तसंबन्ध नाम से प्रसिद्ध है ।

३—आकाश में पक्षी उड़ रहे हैं । सर्प दंशन (काट) करते हैं । मृगशावक (हरिण के बच्चे) उछल्ला करते हैं । पुष्प में से गंध निकला करता है । यहां पक्षी—सर्प—मृगशावक—पुष्प यह चारों क्रमशः उड़ना—दंशन—उछलना—गंध इन चार कार्यों के कारण हैं । इनका पारस्परिक सम्बन्ध 'प्राकृतिक' (खाभाविक), किंवा प्रकृति (स्वभाव) सम्बन्ध कहलाता है ।

४—शब्द से शब्द पैदा होता है । आप अपने मुख से जो शब्द बोलते हैं, उसका आकाश में सर्वत्र व्याप्त वाक्समुद्र में आघात होता है । आघात होते ही वाक् समुद्रमें उच्चारित शब्दाकाराकारित लहर उत्पन्न होजाती है । एक लहर के आघात से आगे दूसरी लहर, दूसरी से तीसरी लहर, तीसरी से चौथी, पांचवी इस प्रकार बीचियों की धारा बन जाती है । यही प्रतिध्वनिभाव है । वही लहर अन्य व्यक्ति के कानपर पहुंच कर शब्दोत्पत्ति का कारण बन जाती है । इसी के लिए—
'शब्देभ्यः शब्दोत्पत्तिः' यह कहा जाता है । आप जो शब्द सुनते हैं वह उक्त बीचिन्याय

से अन्य व्यक्ति के मुख से बोले हुए शब्द से उत्पन्न हुआ है । तेज से तेजका विकास होता है । ऋक् से साम का स्वरूप संपन्न होता है । यहां शब्द तेज-ऋक् कारण हैं, शब्द-तेज-साम कार्य हैं । इन कार्यकारणों का सम्बन्ध 'योनि' नाम से प्रसिद्ध है । इसीको सम्पातक सम्बन्ध भी कहा जाता है ।

५-जो मनुष्य शीघ्र चलता है, उसकी गति में वेग उत्पन्न होजाता है, इसी अभिप्राय से शीघ्र गामी के लिए-'वह बड़े वेग से जा रहा है' यह कहा जाता है । वेग-कार्य है, गति कारण है । गति ही वेग की सूचना देती है । अन्नरस के अनन्तर रस, रस के अनन्तर अस्व, इस क्रम से सात धातुओं का विकास होता है । गति-अन्नरस कारण हैं, वेग-सप्तधातुक्रम-कार्य हैं । यह सम्बन्ध 'प्रारब्ध' नामसे प्रसिद्ध है । इसीको 'सांस्कारिक सम्बन्ध' कहा जाता है । इसी आधारपर "यह संस्कार की बात है, उस का प्रारब्ध ही ऐसा था" यह किंवदन्ती प्रचलित है ।

६-तिल से तैल उत्पन्न होता है, हिमालय से गङ्गा उत्पन्न होती है, दूध से घृत निकलता है, पाषाण से मूर्ति निकलती है, गुहा से सिंह निकलता है । यहां तिल-हिमालय-दूध-पाषाण-गुहा कारण हैं । तैल, गङ्गा, घृत, मूर्ति, सिंह कार्य हैं । यह सम्बन्ध 'उद्भव' किंवा 'औद्भाविक' नामसे व्यवहृत होता है । इस सम्बन्ध में आवरणभंग को ही कारणता है । तिल में से तैल नया उत्पन्न नहीं होता, अपि तु तिलमें पहिले से तैल है । केवल आवरण आ रहा है । इस आवरण का नाम ही 'तिल' है । आवरण को हटा दीजिए, तैल प्रकट होजायगा । हिमालय गङ्गा का आवरण है । दूध घृत का आवरण है । पाषाण मूर्ति का आवरण है । गुहा सिंह का आवरण है । नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, अपि तु पहले से विद्यमान वस्तु आवरणनाश से प्रकट होजाती है । यही प्राधानिक दर्शन (सांख्यदर्शन) का सत्कार्य-वाद मिद्धान्त है । वात यथार्थ है । यदि ऐसा न हो तो पानी में से भी घृत निकल सकता है । दूध से तैल निकल सकता है । एक बृहत्काय पाषाण में सभी देवताओं की प्रतिमाएं पहिले से

प्रतिष्ठित हैं। शिल्पी नई मूर्ति नहीं बनाता, अपि तु वह पाषाणस्थित मूर्ति के बाहरावरण को हटा देता है। शिल्पी जिन मूर्तियों का स्वरूप जानता है, उन्हीं का स्वरूप पाषाण में से वह निकाल सकता है। ध्यान रहे—यदि शिल्पी अपने शिल्पास्त्रों से (टांकी हथोड़े से) मूर्ति पर प्रहार कर देगा तो मूर्ति नष्ट हो जायगी। मूर्ति को बचा-बचा कर ही उसे बाहर का आवरण हटाना पड़ता है। आवरण के आत्यन्तिक हटा देने से पाषाणस्थ प्रतिमा प्रकट हो जाती है। इसी का नाम सत्कार्यवाद है। जो वस्तु है, उसी की उपलब्धि होती है—यदिस्था दुपन्नभ्येन। यदि पाषाण में मूर्ति पहिले से न होनी तो सहस्रशिल्पी भी पाषाण की मूर्ति नहीं बना सकते थे। यदि शिल्पी ही पाषाण को मूर्ति का रूप देना है तो क्यों नहीं वह पानी की मूर्ति बना लेता। इसी अभिप्राय से 'नामो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' यह कहा जाता है। यही प्रतिमापूजन की अनादिता एवं वैदिकता है। इसी उद्भव सम्बन्ध को 'भौतिकसम्बन्ध' कहा जाता है। विश्व नया नहीं बनना, अपि तु अन्वयतावरण के भंग से प्रकट होता है।

७- भूमि से अंकुर उत्पन्न होता है। प्राणियों से नोदना बल (प्रेरण बल) का उदय होता है। रुद्र से ताप उत्पन्न होता है। पुरुष से पुत्र उत्पन्न होता है। मकड़ी से जाल उत्पन्न होता है। यहां भूमि-प्राणी-रुद्र-पुरुष-मकड़ी कारण है, अंकुर-नोदना-ताप-पुत्र-जाल-कार्य हैं। इन का सम्बन्ध 'उद्भवसम्बन्ध' कहलाता है। इसे ही 'भौतिकसम्बन्ध' भी कहते हैं। यहां प्रभव का (कारण का) नाश नहीं है, केवल प्रभव का एक देश प्रभव से पृथक् होकर कार्यरूप में परिणत होता है। सारा भूषिण्ड अंकुर नहीं बनता, सारा शुक पुत्र नहीं बनता। सारी मकड़ी जाल नहीं बनती। अपितु भू-शुक-मकड़ी का एक प्रदेश ही अंकुर-पुत्र जालरूप में परिणत होता है। इसी को सांत्वानिकसम्बन्ध भी कहा जाता है।

८- आठवां विवर्त सम्बन्ध है। अत्रिकृत्परिणामवाद ही विवर्त नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म विश्व बन गया है। ब्रह्म की अवस्थान्तर का नाम ही विश्व रख दिया है। अथवा विश्व ब्रह्म से पृथक् पदार्थ नहीं है। ब्रह्म ही विश्वरूप से प्रतीत होता रहा है। विश्व साक्षात् ब्रह्म है। यही

ब्रह्मविवर्तवाद है। इसी को प्रातिभासिकविवर्त कहते हैं। विरव ब्रह्मवत् स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। विश्व की केवल भाति है। सत्ता ब्रह्म की ही है। अथवा सत्ताब्रह्म का ही विश्वरूप से भान हो रहा है। अलातचक्र क्षितिजवृत्त का भी इस प्रातिभासिक विवर्त में ही अन्तर्भाव है।

६-खगोल में मध्यरेखा विषुवद्वृत्त है। जिस पर भूपिण्ड सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाता है, वह वृत्त क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है। तत्तत्तारापुञ्जों में विभक्त मेघ-वृष-मिथुनादि राशिएं राशिमृतिएं हैं। नक्षत्रों से नक्षत्र पुरुषों का स्वरूप बना हुआ है। यह सब काल्पनिक जगत् है। आकाश में कोई वास्तव में गोल वृत्त नहीं हैं, क्रान्तिवृत्तरूप कोई सड़क नहीं बनी हुई है। राशियों की कोई प्रतिमाएं नहीं हैं। केवल कल्पना है। कल्पना से वृत्तादि कल्पित हैं। यही त्रिकलर कि वा वैकल्पिक सम्बन्ध है।

१०-हमारा मन नई नई कल्पनाएं किया करता है। अपने अन्तर्जगत् में विचित्र विचित्र स्वरूपों की भावना किया करता है। यही मनोराज्य है, इसी को 'प्रेच्छिकसम्बन्ध' कहा जाता है।

११-वृक्ष से पुष्प-फल उत्पन्न होते हैं। लौह से विट्ट (जंग) उत्पन्न होता है। शरीर से केश लोम उत्पन्न होते हैं, शुक उत्पन्न होता है। यह सब 'औपपादिक सम्बन्ध' हैं।

१२-तैल से लौ उत्पन्न होती है। शुक शरीररूप में परिणत होता है। शण से रस्सी बनती है, पत्र (कागज) बनते हैं। अंगार से भस्म उत्पन्न होता है। वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। यहां कारण (प्रकृति) अपने स्वरूप से च्युत होता हुआ कार्य (विकृति) रूप में परिणत हो रहा है। स्वरूपान्तरग्रहरूप यही सम्बन्ध परिणामी किंवा परिणामिक नाम से प्रसिद्ध है।

१३-गानी से ओषधिएं, ओषधियों से शुक उत्पन्न होता है। यही रसानुवृत्ति किंवा रसवाही सम्बन्ध है।

१४-विज्ञया-सुरा-आसव-यह सब कार्य सांयौतिक संप्रदायी सम्बन्ध में अन्तर्भूत हैं।

१५-पानी में लहर, मिट्टी में घट, तन्तु से पट, लकड़ी से कपाट, खर्राँ से कटक, तेज-
अव-अनका क्रमिक विकास इन सब का औपादानिक किंवा उपादान सम्बन्ध में अन्तर्भाव है।

१६-अग्नि से पानी का गरम होजाना, रुद्र से ताप होजाना, सुवर्ण का पिघल जाना,
इत्यादि सांक्रामिक सम्बन्ध हैं।

१७-स्फटिकमणि पर जपापुष्प का राग, यह आक्रमिकसंचारी सम्बन्ध है। इसी को
आभिवाविक सम्बन्ध कहा जाता है।

१८-ऊर्ण (मकड़ी) की नाभि से तन्तु उत्पन्न होता है। मकड़ी कारण है, मकड़ी से उत्पन्न जाल
कार्य है। इसी प्रकार पुरुष से केश लोम उत्पन्न होते हैं। पुरुष कारण है, केशलोम कार्य हैं।
पृथिवी कारण है, ओषधि वनस्पतिएं कार्य हैं। पिता कारण है, पुत्र कार्य है। मृत्तिका कारण
है, घट कार्य है। इन पांचों ही कारणों का उपादानभाव से सम्बन्ध है। उपादानकारण-
त्वेन पांचों की कारणता यद्यपि समान प्रतीत होरही है, परन्तु सूक्ष्म विचार करने से पांचों
का पार्थक्य स्पष्टरूप से प्रतीत होने लगता है। पहिले ऊर्णनाभि को ही लीजिए। मकड़ीकी
नाभि से उत्पन्न होनेवाला जाल अपने प्रभव (मकड़ी) से पृथक् निरावलम्ब रहता है। साथ
ही में आगे जाकर यह जाल अपने प्रभव (मकड़ी) में लीन भी हो जाता है। इस प्रकार अपने
प्रभवका आश्रय न लेना, प्रभव से पृथक् रहना, अन्तमें प्रभव में ही लीन होजाना, यह एक
प्रकार का कार्यकारणभाव है। ऊर्णनाभि में प्रभवानालम्बनत्व, प्रभवपृथक्चरत्व,
प्रभवविलयनत्व यह तीन कोटि हैं।

केशलोम पुरुष से उत्पन्न होकर पुरुष में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। जाले की तरह पुरुष से
पृथक् नहीं रहते। साथ ही में यह अपने प्रभव पुरुष से पृथक् भी होजाते हैं। इस प्रकार
यहां प्रभवालम्बनत्व, प्रभवानालम्बनत्व दोनों धर्म हैं। जाल की तरह इनका प्रभव में विलयन
नहीं होता। ओषधि वनस्पतिएं प्रभव (पृथिवी) में आलम्बित हैं, आलम्बित होती हुई स्वतन्त्र-
रूप से ऊपर की ओर बढ़ती हैं, यही इनका पृथक्चरत्व है। इन्हें काट कर फैंक दीजिए,

फिर भी इनका आलम्बन पृथिवी ही रहती है। मकड़ी के जाल में यह बात नहीं है। यदि उसे अलग कर दिया जायगा तो मकड़ी इसका आलम्बन न रहेगी। यहां प्रत्येक दशा में पृथिवी ही आलम्बन है। मकड़ी का जाल जैसे मकड़ी से पृथक् हो जाता है, ओषधि वनस्पतिएं शरीरभूत पृथिवी से कभी पृथक् नहीं हो सकती। इनका विलयन पृथिवी में ही होता है। मकड़ी में विलयन अविलयन दोनों धर्म हैं। यहां केवल विलयन ही है। पृथक्चरत्व जाल और ओषधियों में समान है। पुरुष से उत्पन्न केशलोम में आलम्बनत्व-अनालम्बनत्व दोनों धर्म थे, मकड़ी में अनालम्बनत्व ही था, पृथिवी में आलम्बनत्व ही है। साथ ही में केशलोम में प्रभव-विलयनत्व है ही नहीं। ओषधि वनस्पतियों में प्रभवविलयनत्व ही है। मकड़ी के जाल में विलयनत्व अविलयनत्व दोनों धर्म हैं, इस प्रकार तीनों में कुछ न कुछ अन्तर है। पिता पुत्र के कार्यकारणभाव में तीनों से विलक्षणता है। यहां पुत्र अपने प्रभव (पिता) में आलम्बित नहीं है। इसका विलयन भी मिट्टी में होता है। परन्तु जाल-ओषधि-केशलोम-पुत्रवत्-घड़ा मिट्टी से पृथक्चर नहीं है। बन्धि से विस्फुलित उत्पन्न होने है। यहां भी उपादान कार्यकारणभाव सम्बन्ध है, परन्तु यह पांखों से विलक्षण है। दीपशलाका से अन्य दीपक जल पड़ता है। शलाकाग्नि कारण है, परन्तु शलाकाग्नि का यत् किञ्चित् अंश भी दीपक में प्रविष्ट नहीं होता। कुम्भकारवत् निमित्त कारणता का भी ऐसे स्थल में समावेश नहीं होता, एवं मृदघटवत् उपादान कारणता भी नहीं मानी जा सकती है। वैसे विलक्षण सम्बन्ध है।

उपर्युक्त कुछ एक उदाहरणों से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि कार्यकारणभाव किसी एक ही नियम पर प्रतिष्ठित नहीं है। यदि ऐसा होता तो विरव के सारे पदार्थ समानधर्मा होते। सबका उत्पादक तत्व एक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। केवल सम्बन्ध की विलक्षणता, एवं पृथक्ता से पदार्थों में वैचित्र्य उत्पन्न हो जाता है। अतएव सृष्टि का पर्यवसान कार्यकारणों के सम्बन्धों पर ही मानना पड़ता है।

- १-प्रभवात्मनत्व
१-२-प्रभवविलयनत्वाविलयनत्व
३-प्रभवपृथक्चरत्व

— ० —

} “यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च” १

- १-प्रभवात्मनत्व
२-२-प्रभवविलयनत्व
३-प्रभवपृथक्चरत्व

— ० —

} “यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति” २

- १-प्रभवात्मनत्वानात्मनत्व
३-२-प्रभवविलयनत्व
३-प्रभवपृथक्चरत्व

— ० —

} “यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि” ३

- १-प्रभवानात्मनत्व
४-२-प्रभवविलयनत्व
३-प्रभवपृथक्चरत्व

— ० —

} “यथा पितुः-पुत्रः” ४

- १-प्रभवात्मनत्व
५-२-प्रभवविलयनत्व
३-प्रभवपृथक्चरत्व

— ० —

} “यथा मृत्तिकातो घटः” ५

- १-प्रभवात्मनत्वानात्मनत्व
६-२-प्रभवविलयनत्वाविलयनत्व
३-प्रभवपृथक्चरत्वापृथक्चरत्व

— ० —

} “यथा मुदीपात् पावकाद्विष्कुलिङ्गाः प्रभवन्ते”

६

उपर्युक्त कुछ एक निदर्शनों से पाठकों को विदित होगया होगा कि विश्व में कार्यकारण-भाव अनेक भागों में विभक्त है। ऐसी अवस्था में —‘एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोऽव्यव-गादिज्ञानं संशयः’ इस न्याय के अनुसार कारण ब्रह्म और कार्य कर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा का होना स्वाभाविक होजाता है। प्रकृत में केवल ‘षड्विकल्प सम्बन्ध’ की ही प्रधानता है। इस षड्विकल्प सम्बन्ध के भागो जाकर १३ विवर्त होजाते हैं। इन १३ हों का ४-४-५ यह क्रम है। चार स्वरूपसम्बन्ध हैं, चार पर्याप्तवृत्तित्व सम्बन्ध हैं, पांच अन्वाभक्तिवृत्तित्व सम्बन्ध हैं। तेरहों का षड्विकल्पों में अन्तर्भाव है। इसी षड्विकल्प सम्बन्ध को—‘अभिन्न-सत्ताकार्यकारणभावसम्बन्ध’ कहा जाता है। उदाहरण के लिए एक मिट्टी के घड़े पर दृष्टि डालिए। मिट्टी से घड़ा बना है, यह सभी को विदित है। मिट्टी कारण है, घड़ा कार्य किंवा कर्म है। मिट्टीरूप कारण से उत्पन्न घटरूप कार्य का मिट्टी के साथ क्या सम्बन्ध है? अथवा मिट्टी का घड़े के साथ क्या सम्बन्ध है? (कार्य का कारण के साथ, कारण का कार्य के साथ क्या सम्बन्ध है?) यह विचार कीजिए। मिट्टी घट की प्रतिष्ठा है। मिट्टी को छोड़ कर घट कथमपि स्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। ऐसी परिस्थिति में हम कह सकते हैं कि घट मिट्टी में है, यही प्रथम सम्बन्ध है। साथ ही में घटावच्छिन्न मिट्टी घट को छोड़कर नहीं रह सकती। मिट्टी का जो भाग घट कहलाता है, वह घटरूप मृत्तिका सचमुच घट के बिना नहीं रह सकती। घट के नष्ट होजाने पर मिट्टी अवश्य रहेगी, परन्तु घटाकाराकारित मिट्टी न रहेगी। घटकाररूप मिट्टी तभी तक है, जब तक कि घट का आकार विद्यमान है। ऐसी परि-स्थिति में हम कह सकते हैं कि मिट्टी घड़े में है, यही दूसरा सम्बन्ध है। घट एक स्वतन्त्र पदार्थ है, मिट्टी एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यदि घट और मिट्टी एक ही वस्तु होते तो—‘घटमानय’ (घड़ा लाओ) इस आज्ञा से मिट्टी भी लाई जासकती थी, एवं ‘मिट्टी लाओ’ इस वाक्य से मृत्तिका का भी आनयन होसकता था, परन्तु ऐसा होता नहीं। घटशब्द से घड़ा ही लभ्या जाता है, मृत्तिका शब्द से मिट्टी ही लाई जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि मिट्टी घड़े से भिन्न है, यही तीसरा सम्बन्ध है। घट के परमाणु टूट जाइए, मृत्तिका

के अतिरिक्त उसमें आपको दूसरी वस्तु न मिलेगी । मिट्टी ही तो घटरूप में परिणत होता है । घट मिट्टी से भिन्न पदार्थ नहीं है । 'वाचारम्भणं विकारो नाभयेयं मृत्तिकैव सत्यम्' के अनुसार घट सत्ता वस्तुतः मिट्टी की ही सत्ता है । ऐसी परिस्थिति में घटमृत्तिका से कैसे पृथक् होसकता है । घट मिट्टी है, यही निष्कर्ष है । यही चौथा सम्बन्ध है । मिट्टी घट के बिना भी रह सकती है, परन्तु घट बिना मिट्टी के एक क्षण भी ज्वित नहीं रह सकता । यही पांचवां सम्बन्ध है । घट कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है । मिट्टी हां घटरूप से दिखलाई दे रही है । जिस प्रकार स्थाणु में पुरुष की, मृगमरीचिका में जल की, शुक्ति में रजत की, रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है एवमेव मिट्टी में घड़े की भ्रान्ति हो रही है । इसी को दार्शनिक अध्यास कहा करते हैं । मिट्टी घड़ा नहीं है, केवल प्रतीति हो रही है । जिस सम्बन्ध से सर्वथा असत् घट मिट्टी में स्वरूप से प्रतीति हो रहा है, उसी को 'अध्यास सम्बन्ध' कहा जाता है । यही ६ या सम्बन्ध है । इसप्रकार मृदूघट का कार्यकारणसम्बन्ध निम्नलिखित ६ भागों में विभक्त देखा जाता है ।

- १—घटो मृदि..... (घड़ा मिट्टी में है)—→ कार्य कारणे
- २—मृदू घटे..... (मिट्टी घड़े में है)—→ कारणं कार्ये
- ३—मृदूघटौ भिन्नौ..... (घड़ा भिन्न है, मिट्टी भिन्न है)—→ कार्यकारणभिन्ने
- ४—मृत्तिकैव घटः..... (मिट्टी ही घड़ा है)—→ कारणमेव कार्यम्
- ५—घटो मृत्तिकातोऽभिन्नः, मृत्तिका— { घड़ा मिट्टी से अभिन्न है } —→ कार्यं कारणादभिन्नम्,
तु घटनो भिन्ना { मिट्टी घट से भिन्न है } —→ कारणं तु कार्याद् भिन्नम्
- ६—मध्यस्तो घटः..... (मिट्टी में घड़ा अध्यस्त है)—→ कारणे कार्यमध्यस्तम्

उपर्युक्त यही ६ सम्बन्ध ब्रह्मकर्म में समझिए । 'तत्र सृष्ट्वा तदेवानुमाविशत्' के अनुसार वह ब्रह्म-तत्त्व कर्ममय विश्व में व्याप्त है । उधर वह कर्म (विश्व) उस ब्रह्म में प्रतिष्ठित है । ब्रह्म भिन्न है, विश्व भिन्न है । ज्ञानकर्ममय ब्रह्म का कर्मभाग ही विश्व बन रहा है । ब्रह्म कर्म से भिन्न है, क्यों

कि कममय विश्व क न रहने पर भी ब्रह्म स्वस्वरूप से बिना विश्व की अपेक्षा के प्रतिष्ठित रहता है, परन्तु कर्म (विश्व) विश्व से अभिन्न है। कारण कर्म (विश्व) ब्रह्म कारण के बिना सर्वथा अनुपपन्न है। ब्रह्म में कर्म अध्यस्त है। यही ब्रह्मकर्म का षड्विकल्प सम्बन्ध है। वह इममें है। यह उममें है। दोनो अभिन्न हैं। वही यह है। वह इमसे भिन्न है, यह उससे अभिन्न है उस में यह भास रहा है।

१-ब्रह्म कर्मस्थम् ++——→कारणं कार्यस्थम्

२-कर्म ब्रह्मस्थम् ++——→कार्यं कारणस्थम्

३-ब्रह्मकर्मणी भिन्ने ++——→कार्यकारणे भिन्ने

४-ब्रह्मैव कर्म ++——→कारणमेव कार्यम्

५-ब्रह्म कर्मतः पृथक् } कारणं कार्यात्पृथक् }
कर्म तु अपृथक् } ++——→कार्यं तु कारणदपृथक् }

६-ब्रह्मणि कर्माध्यस्तम् ++——→कारणे कार्यमध्यस्तम्

“कर्मत्वकर्मस्थ, मकर्म कर्मसत्,
भिन्नद्रव्यं तत्, तदभिन्नमद्रव्यम्-
अकर्म भिद्येत न कर्म भिद्येत,
ऽध्यासोऽभ्युते स्यादिति षड्-
विकल्पनाः।”

(श्रीगुरुप्रणीत संशयतदुच्छेदवाद)

इन ६ओं सम्बन्धों में प्रकृत में तीनों मन्त्रों द्वारा प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ इन तीन सम्बन्धों का निरूपण हुआ है। ‘तदेजति०’ इत्यादि मन्त्र ‘ब्रह्म कर्मस्थम्’ इस प्रथम सम्बन्ध का निरूपण करता है। ‘यस्तु सर्वाणि०’ इत्यादि मन्त्र ‘कर्म ब्रह्मस्थम्’ इस द्वितीय सम्बन्ध का निरूपण करता है। एवं ‘यस्मिन्सर्वाणि’ इत्यादि मन्त्र ‘ब्रह्मैव कर्म’ इस चौथे सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। ६ओं सम्बन्धों में से उक्त तीन सम्बन्ध ही प्रधान हैं। अतः श्रुतिने इन्हीं को विशेष माना है। तीनोंमें से प्रथमसम्बन्ध का निरूपण करता हुआ निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आता है—

तदेजति तन्नैजति तददुरे तदन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥१॥ (ई० ५ मं०) ।

‘वह चमता है, वह नहीं चमता है, वह दूर है, वह फिर समीप है । वह सबके भीतर है वह फिर सबके बाहर है” यह है मन्त्र का अन्वर्थ । इस मन्त्र के अकृतात्मा विधेयात्मा, कृतात्मा भेद से दो अर्थ, एवं सृष्टिविज्ञान सम्बन्धी एक अर्थ, इस प्रकार तीन अर्थ होजाते हैं ।

विद्वान्-अविद्वान् भेद से मनुष्य वर्ग दो भागों में विभक्त है । शास्त्राध्ययन से अपनी बुद्धि को विद्यासंस्कार से युक्त रखने वाले सदसद्विवेकी विचारशील मनुष्य विद्वान् कहलाते हैं । ‘स्वाना पीना मौन उड़ाना’ इस सिद्धान्त को परमपुरुषार्थ समझने वाले, शास्त्रज्ञान से शून्य लौकिक विषयों में रत यथाजात मनुष्य अविद्वान् माने जाते हैं । विद्वान् मनुष्य का आत्मा कृतकृत्य रहता है, अतएव इसे ‘कृतात्मा’ कहा जाता है । अविद्वान् मनुष्य का आत्मा वासना-मय भौतिक संस्कारों से आवृत होता हुआ आत्मज्ञान से वञ्चित रहता है, अतएव इसे ‘अकृतात्मा’ कहा जाता है । इन्द्रियों के द्वारा रूपरसादि भौतिक विषयों का आगमन होता है । आगत विषयों का संस्कार ज्ञानमय मन पर होता है । विषय भौतिक होने हुए तमोमय हैं, अतएव ज्ञान-ज्योति के आवरक हैं । इनके सम्बन्ध से ज्ञानमय मन अपनी चिच्छक्ति (ज्ञानप्रकाश) से आवृत होता हुआ जड़वत् बन जाता है । मन के साथ बुद्धि का सम्बन्ध रहता है । फलतः मनके भौतिक आवरण से बुद्धि भी मलिन होजाती है । मलिन बुद्धिसे बुद्धियुक्त महानात्मा का सत्वभाग मलिन होजाता है । महान् पर षोडशीपुरुषरूप आत्मा प्रतिष्ठित है । मलिनसत्व की कृपा से आत्मा का विद्याभाग मलिन होजाता है, यही दुःख का मूल है । इसका प्रज्ञान कारण मलिनबुद्धि है । बुद्धि के आभ्यन्तर भाग में (इस ओर) आत्मा है, बाह्य भाग में (उस ओर) विषय हैं । विषयानुगता बुद्धि मलिन होती होती हुई आभ्यन्तर आत्मा से अयुक्त रहती है । कार्याकार्य-

*—बहिरन्तश्च भूतानामन्तरं चरमेव च ।

सूक्ष्मत्वात्तद्विशेषं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ गी० १३।५॥

दूराभ्युदरे तद्विद्यन्तिके च परमत् स्थितेव निहितं गुरायाम् ॥ (उपनिषत्) ।

विवेकरूपा भावना नष्ट होजाती है । ऐसी अयुक्त बुद्धि बुद्धि ही नहीं है, अविद्यामात्र है । बुद्धि ज्ञानसाधिका है , ज्ञानप्रवर्तकत्व बुद्धि का स्वरूपधर्म है । जब स्वरूप रक्षक ज्ञान-योग लक्षण स्वरूपधर्म ही नहीं रहा तो बुद्धि का रहना न रहने के समान है । इसी अन्वि-प्राय से भगवान् कहते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नचायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ (गीता २।६६) ।

विषयानुगता बुद्धि अविद्यामयी बनकर आत्मस्वरूप को आवृत कर देती है । ऐसा ही आत्मा (मनुष्य) अकृतात्मा कहलाता है । ऐसा मनुष्य कभी सत्कर्म में प्रवृत्त नहीं होता । इसे कभी आत्मविषयिणी जिज्ञासा ही नहीं होती । “आत्मा-शस्त्र-परलोक-देवता सब ढोंग है” ऐसे कुतर्कों की यह आवासभूमि बना रहना है । रहते हुए चित् (आत्मज्ञान) के आवरण से यह अचित् बन रहा है । सांसारिक विषयों को ही यह अकृतात्मा सुखसाधन समझता है । इसी अकृतात्मवर्ग के लिए ‘सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः०’ यह कहा गया है । ऐसे अकृतात्मा का कर्मरूप, अनएव सर्वथा एजद्रूप (परिवर्तनशील क्षणिक) विश्व ही प्रधान आराध्य है ।

ठीक इसके विपरीत जिन्होंने विद्यासमुच्चित निरवाम वर्म द्वारा आवरणों वा द्वार अवरुद्ध करते हुए अवृद्ध ज्ञानाग्नि से संश्लिप्त आवरणों को नष्ट करते हुए विशुद्ध बुद्धियोग प्राप्त कर लिया है, ऐसे सिद्धावस्थापन योगी कृतात्मा हैं , यही युक्तयोगी हैं । इनकी दृष्टि उस अनेजत् रूप ब्रह्ममाग पर ही रहती है । एक छोर में युक्त योगी हैं, कृतात्मा हैं । दूसरे छोर में अकृतात्मा हैं । एक ज्ञानब्रह्म के उगासक हैं, शांततत्त्व के अनुयायी हैं । दूसरे कर्ममय विश्व के उगासक हैं, गतिशील क्षणिक सांसारिक विषयों में रत हैं । प्रकृत मन्त्र इन्हीं दोनों को लक्ष्य बना कर कहता है कि “जो संसारी हैं, उन की दृष्टि में वह तत्त्व चञ्चल है । जो मुक्तात्मा हैं, उनकी दृष्टि में वह तत्त्व सर्वथा अविवासी है । अर्थात् मुक्तात्मा अनेजत् को मुख्य समझते हैं,

संसारि एजत् को प्रधान मान रहे हैं । सांसारिक के लिए वह आत्मतत्त्व दूर से दूर है, मुक्तात्मा के लिए वही समीप में समीप है । सांसारिक की दृष्टि में वह आत्मतत्त्व भीतर छुपा हुआ है, मुक्तात्मा के लिए वह प्रकट है । योगियों की दृष्टि में जो सत्य है, सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में वह असत्य है । सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में जो सत्य है, योगी उसे मिथ्या समझ रहे हैं । एक ज्ञानमय ब्रह्म के अनुयायी ब्रह्मण हैं, एक कर्ममय श्रमरूप विश्व के अनुयायी श्रमणक हैं । एक आस्तिकवर्ग है, दूसरा नास्तिकवर्ग है । एक विशुद्धकर्म के अनुयाई कर्मठ हैं, दूसरे विशुद्ध ज्ञान के अनुयायी ज्ञानी हैं । एक सांख्यमतानुयायी हैं, दूसरे योगमतानुयायी हैं । इस प्रकार 'लोकेऽस्मिन् द्वित्रिंश निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनय' के अनुसार लोक में दो विभिन्न निष्ठाएं प्रचलित हैं ।

१-तदेजति -- -- -- --> अकृतात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टिः (विश्वानुयायी)-कर्म }
 २-तन्नैजति ++ -- -- -- --> कृतात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टिः (आत्मानुयायी)-ब्रह्म }

१-तद्दूरे ++ -- -- -- --> अकृतात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टिः (विश्वानुयायी)-कर्म }
 २-तद्वन्तिके ++ -- -- -- --> कृतात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टिः (आत्मानुयायी)-ब्रह्म }

१-तदन्तरस्य सर्वस्य ++ -- -- -- --> अकृतात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टिः (विश्वानुयायी)-कर्म }
 २-तदुसर्वस्य बाह्यतः ++ -- -- -- --> कृतात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टिः (आत्मानुयायी)-ब्रह्म }

सर्व विदित इन दोनों निष्ठाओं के भेदवाद का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि दोनों को पृथक् समझना अज्ञान है । वही विश्व है, वही विश्वात्मा है । वही एजत् है, वही अनेजत् है । वही दूर है, वही समीप है । वही सबके भीतर है, वही सब के बाहर है । अर्थात् ब्रह्मणर्मित कर्मभाग से वह चल है, कर्मणर्मित ब्रह्मभाग से वह अचल है । ब्र० ग० कर्मदृष्ट्या वह दूर है, क० ग० ब्रह्मदृष्ट्या वह समीप है । ब्र० ग० कर्मदृष्ट्या वह भीतर प्रतीत

होता है, क० ग० ब्रह्मण्या वही सर्वत्र प्रत्यन्त है । ब्रह्म भी वही है, कर्म भी वही है । वही ज्ञान है, वही योग है । जो ज्ञानयोग है, वही कर्मयोग है— “तत्र सात्त्विकं च योगं च यः पश्यति स (एव तात्त्विकभाः) पश्यति—(नान्यो भेदाती)” । द्वितीय अर्थ में इसी भाव का स्पष्टीकरण है ।

१



तीसरे हैं विवेयात्मा । जिस प्रकार कर्मठ अकृतात्मा, एवं ज्ञानी कृतात्मा कहलाते हैं, एवमेव सपासक को विवेयात्मा कहा जाता है । सिद्ध—साध्य दोनों अवस्थाओं से पृथक् लौकिक कर्मों में रत अकृतात्मा है, साध्यदशा से युक्त मनुष्य विवेयात्मा है, इसी को ‘युञ्जानयागी’ ‘गारुह्य’ ‘भिज्ञामु’ इत्यादि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है । सिद्धदशा में वही विवेयात्मा कृतात्मा कहलाने लगता है । इसी को—‘युक्तयोगी’ ‘कृतकृत्य’ आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । परम वैदिक शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यश्री ने इन्हीं उक्त तीन विभागों को भार्यादिक-जीव, प्रावाहिकजीव, पुष्टजीव भेद से इन नामों से व्यवहृत किया है । कृतात्मा युक्तयोगी (जिनपर भगवान् का अनुग्रह हो चुका है) पुष्टजीव कहलाते हैं—“भगवदनुग्रहः पोषः” । जन्ममरणप्रवाह में इतस्ततः भटकने वाले शास्त्रविमुख पथाज्ञात जीव—‘प्रावाहिक’ कहलाते हैं । यही पथभ्रष्ट अकृतात्मा है । एवं भगवदनुग्रहरूप पुष्टिभाव की प्राप्ति के लिए जो शास्त्र-मर्यादा का अनुगमन करते हुए सिद्धावस्था को प्राप्त करने में यत्नशील बने रहते हैं, वे ही ‘भार्यादिकजीव’ हैं । भगवदनुग्रहलक्षणपोष के सम्बन्ध से ही उक्त संप्रदाय ‘पुष्टिभार्या’ नाम से प्रसिद्ध है ।

- १-कृतात्मा—(युक्तयोगी) — सिद्धावस्थापन—पुष्ट — (मनोमयमार्ग)—ज्ञानी
 २-विधेयात्मा (युञ्जानयोगी) — माध्यावस्थापन — मार्थादिक (प्राणमयमार्ग)—उपासक
 ३-अकृतात्मा (यथाज्ञान मनुष्य, लक्ष्यव्युतावस्थापन—प्रायश्चित्त (वाक्मयमार्ग)—कर्मठ



उपासना मध्य की वस्तु है। इसमें ज्ञानकर्म दोनों का सम्बन्ध है। इसी को बुद्धियोग कहा जाता है, जिस का कि दिग्दर्शन प्रथमार्थोपसंहार में कराया जा चुका है। ब्रह्म पर दृष्टि रखते हुए कर्म करना ही बुद्धियोग है। ब्रह्म अकर्म है, कर्म कर्म है। अकर्म में कर्म समझिए, कर्म में अकर्म समझिए। कर्म को अकर्म में प्रतिष्ठित समझने हुए कर्म करने से कर्मजनित बन्धनमूला आसक्ति नहीं होती। ऐसा कर्म अकर्मन होता है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मण्यायाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।

निप्यते न स पापेन पञ्चपत्रमिवाम्भसा ॥ (गी० ५।१०) ।

उक्त दृष्टि से कर्ममार्ग में प्रवृत्त होनेवाला पुरुषश्रेष्ठ ही 'विधेयात्मा' कहलाता है। इस की दृष्टि दोनों पर है। कर्मदृष्टि से वह उसे एजद्, चर, अन्तःप्रविष्ट समझता है, ब्रह्मदृष्टि से वह उसी को अनेजद्—समीप—सर्वत्र व्याप्त समझ रहा है। इस अभिन्नभावना से आगे जाकर विधेयात्मा—'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इस श्रुति का अधिकारी बनता हुआ सिद्धावस्था पर पहुँच जाता है। रामद्वेष नष्ट हो जाता है, अद्वैतमूलक ब्रह्मानन्द प्राप्त हो जाता है। प्रकृत मन्त्र इसी भाव का निरूपण करता है।

षोडशी पुरुष का अपूर्वप्रधान विद्याभाग संसार में स्थितिरूप से, एवं कर्मभाग गतिरूप से प्रत्यक्ष दृष्ट है। विश्वदृष्टया वह स्थितिरूप है, आत्मदृष्टया वह विद्या—कर्ममय है। स्थिति गतिसमष्टि 'युजुर्वेद' है। तदवच्छिन्न, अतएव वेदमूर्ति नाम से प्रसिद्ध षोडशीब्रह्म स्थितिगतिरूप से ही विश्व में व्याप्त हो रहा है, जैसा कि 'अनेनदेकम्' इत्यादि मन्त्रभाष्य में विस्तार से

बतलाया जा चुका है। यद्यपि स्थितिगतिभाव तमःप्रकाशवत् परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं, फिर भी दोनों का एक ही बिन्दु पर सम्बन्ध हो रहा है। कैसे? इसके लिए उसी पूर्व परिचित प्राजापत्यवक्ता (कुम्हार के चाक) पर दृष्टि डालिए। कुम्भकार के हस्तवत्परिणाम इन्द्र के विज्ञे-पण द्वारा दण्ड के आवाहन से स्थिर कीलक पर प्रतिष्ठित रहता हुआ चक्र प्रबल वेग से घूमने लगता है। परमाणु परमाणु गतिशील हैं। इस प्रकार यह चक्र घंटों चलना रहता है। परन्तु आश्चर्य है कि घंटों चञ्चल रहने पर भी वह अपने नियत स्थान से बिन्दुमात्र भी आगे नहीं चलता। हम जब भी चक्र को देखते हैं, उसी नियत स्थान पर पाते हैं। चल रहा है, इस लिए तो चक्र 'एजति' है। साथ ही में स्थानत्यागलक्षण स्थितिविभ्युतिरूप गतिफल के अभाव से—'नैजति' यह भी मानना पड़ना है। इस प्रकार दोनों विरुद्ध धर्म एक ही चक्र में समा रहे हैं। एक मनुष्य अपने घर से दस मिनट में विक्टोरिया गार्डन पहुंचता है। यदि वह स्थान पर ही खड़ा रहता तो उसे गतिशील नहीं कहा जा सकता था। अपने स्थान से हटने पर ही उसके लिए—'गच्छति' (जाता है) का प्रयोग होता है। एक मनुष्य अपने स्थान पर ही खड़ा हुआ हाथ हिला रहा है। इसके लिए लोक में—'अमुक मनुष्य आन स्थान पर खड़ा हुआ निरन्तर हाथ हिला रहा है' यही तो कहा जाता है। यही आप स्थिति—गति दोनों भावों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। मनुष्य बिल्कुल नहीं चल रहा है, इसलिए 'नैजति' का सम्बन्ध है। अवयवरूप हाथ चल रहा है, इसलिए 'एजति' का सम्बन्ध है। समुदाय स्थिर है, अवयव चल रहे हैं। दोनों विरुद्ध धर्मों का आश्रय एक ही मनुष्य है। यही परिस्थिति यहां पर समझिए। ब्रह्मचक्र ज्ञानमूर्त्या सर्वथा 'नैजति', ज्ञान से सर्वथा अवल। कर्ममूर्त्या सर्वथा 'एजति'—यत्परिणाम से सर्वथा चल। चलाचल की समष्टि ही ईश्वर है—'तदेजति तन्नैजति'।

कुम्भकार का चक्र घूम रहा है, उसे आप देख रहे हैं। घूमते हुए चक्र की जो बिन्दु अभी अभी आपके सामने थी, लीजिए पलक भरते ही वह दूर से दूर उस क्षेप में चली गई, एवं जिस चक्रबिन्दु को आप अपने से दूर समझते थे, वह अभी अभी इसी क्षण में आपके समीप आ गई। सचमुच प्रतिबिन्दु दूर से दूर है, समीप से समीप है—'तद्दूरे तद्गतिके'।

धूमता हुआ चक्र गतिशील अपने परमाणुओं के भीतर से भीतर है, बाहर से बाहर है । बाहर भीतर जिधर देखो उधर चक्र ही चक्र है । पूर्वोक्त शुक्रब्रह्म भी ऐसा ही है—‘तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सार्वस्य बाह्यतः’ । वस्तुतस्तु कुम्भकार के लौकिक चक्र के साथ अलौकिक ब्रह्मचक्र की तुलना करना सर्वथा असंगत है । वह गतिस्थिति तो—‘रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव’ के अनुसार अनुपमेय (लःसानी—अद्वितीय) है । जितनी स्थिरता आप समझ सकते हैं, वह उससे भी शीघ्रतम है । आपके लिए वह अचिन्त्य है, अप्रमेय है, अनिर्वचनीय है । एकमात्र तटस्थ लक्षण से आप उसे जान सकते हैं । “उस की गतिस्थिति ऐसी होगी, अमुक के सदृश होगी” इस प्रकार उसका स्वरूप लक्षण करनेना आपके लिए सर्वथा असंभव है ।

विशुद्ध आत्मापेक्षया ब्रह्म स्थिर है, विशुद्ध कर्मापेक्षया चर है । वेददृष्टया जू अवच्छिन्न ब्रह्म स्थिर है, यदवच्छेदेन चर है । वह स्थितितत्त्व उस गतितत्त्व के बाहर भीतर सब ओर व्याप्त है । यद्यपि स्थितिवत् गति भी स्थिति के बाहर भीतर सब ओर विद्यमान है, परन्तु दोनों में स्थितिरूप रसतत्त्व ही प्रधान है । अतएव ‘तत्-तत्’ इस रूप से उसी को बाहर-भीतर-दूर-समीप बतलाया गया है । स्थिति आधार है, गति आधेय है । आधार की प्रधानता से भी उसी का अन्तरान्तरीभाव मानना उचित होता है । अपि च ब्रह्मरूप स्थितितत्त्व कारण है, विश्व-रूप गतितत्त्व कार्य है । कारण प्रथमसत्ताक है, इसलिए भी अन्तरान्तरीभाव में श्रुति ने तत् शब्दवाच्य ब्रह्म को ही प्रधानता दी है । स्थिति आधार है, गति आधेय है, इसका यह अर्थ नहीं है कि पुस्तक मेजपर रखी है । टेबिल पुस्तक का आधार अवश्य है, परन्तु टेबिल पुस्तक के नीचे के भागमात्र से संश्लिष्ट है । पुस्तक के बाहर भीतर टेबिल नहीं है । परन्तु यहां का आधारआधेयभाव ऐसा नहीं है । यहां यदवच्छेदेन स्थिति है, तदवच्छेदेन गति है । पानी में संश्लिष्ट शर्कराखण्ड जैसा आधारआधेयभाव है । पानी आधार है, शर्करा आधेय है । परन्तु दोनों मिलाकर एकरूप बन रहे हैं । पानी के परमाणु परमाणु में शर्करा व्याप्त है, शर्करा के अंश प्रत्यंश में पानी व्याप्त है । यदवच्छेदेन पानी व्याप्त है, तदवच्छेदेन शर्करा व्याप्त है । ऐसा अंतर्प्रोक्त-आवात्मक आधारआधेयभाव ही प्रकृत में अभिप्रेत है ।

सिंहावलोकनदृष्ट्या एक बार पुनः षड्विकल्प सम्बन्ध पर दृष्टि डालिए । इन ६ ओं सम्बन्धों में पहिले दो सम्बन्ध एक श्रेणि के हैं । इन्हें हम 'ओतप्रोतभावसम्बन्ध' कह सकते हैं । तीसरा भेद सम्बन्ध है, चौथा अभेद सम्बन्ध है, पांचवा भेदाभेद सम्बन्ध है । भेद-अभेद-भेदाभेद इत्यादि पांचों सम्बन्ध परस्पर में सर्वथा विरुद्ध हैं । एक ही तत्व में अनेक (विरुद्ध) सम्बन्ध हो नहीं सकते, परन्तु हो रहे हैं । यही इस ब्रह्म-कर्म सम्बन्ध की अनिर्वचनीयता है । यही 'प्रत्यक्ष' किं वा 'प्रत्याक्ष' नाम का ६ठा अनिर्वचनीय सम्बन्ध है ।

१-ब्रह्म कर्म में अनुस्यूत है । (ब्रह्म कर्मस्थम्)	} ++ → ओतप्रोतभावसम्बन्ध
२-कर्म ब्रह्म में प्रतिष्ठित है । (कर्म ब्रह्मस्थम्)	
३-ब्रह्म कर्म दोनों परस्पर भिन्न हैं (ब्रह्मकर्मणी भिन्ने)	} ++ → भेदसम्बन्ध
४-ब्रह्म ही कर्मरूप में परिणत हो रहा है (ब्रह्मैव कर्म)	} ++ → अभेदसम्बन्ध
५-ब्रह्म कर्म से भिन्न है, कर्म ब्रह्म ही है । (ब्रह्म कर्मतः- पृथक्, कर्मन्पृथक्)	} ++ → भेदाभेदसम्बन्ध
६-दोनों का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है । (ब्रह्मणि कर्मा- ध्यस्तम्)	} ++ → अनिर्वचनीयसम्बन्ध

'तदेजति' इत्यादि मन्त्र उक्त ६ ओं सम्बन्धों में से 'ब्रह्म कर्मस्थम्' इस प्रथम सम्बन्ध पर प्रधान दृष्टि रखता हुआ 'कर्म ब्रह्मस्थम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का निरूपण करता है । ब्रह्म-प्रधानापेक्षया प्रकृत मन्त्र को प्रथम सम्बन्ध का निरूपक माना जासकता है—(देखिए ई०वि० भा० पृ० सं० द्वि० खं० १३६), एवं गौणदृष्ट्या इसे द्वितीय सम्बन्ध का प्रतिपादक मानते हुए सम्बन्धद्वयीरूप ओतप्रोतभाव का दिग्दर्शक माना जासकता है । मन्त्र में सर्वत्र "तत्—तत्" का उल्लेख है । "वह चलता है, वह नहीं चलता है, वह दूर है, वह समीप है, वह भीतर है, वह बाहर है" इस प्रकार प्रतिवाक्य के साथ तत् शब्दवाच्य ब्रह्म की ही प्रधानता है । ब्रह्म कर्म में

‘प्रोत’ हो रहा। साथ ही मैं एजति, दूरे सर्वस्य बाह्यतः, इत्यादि वाक्य ‘वर्म ब्रह्म में प्रोत है’ इस द्वितीय सम्बन्ध की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। मन्त्र का ‘तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः’ यह उत्तर भाग ही सम्बन्ध का निरूपण करता है। वस्तुतः इस मन्त्र का प्रधान लक्ष्य पूर्व के ‘अनेजदेकम्’ मन्त्र में बतलाए गए ब्रह्मकर्मात्मक शुक्लरूप का ही ‘तदेजति तन्नैजति’ इत्यादि रूप से स्पष्टीकरण है। मन्त्रों में जामिता (पुनरुक्ति) दोष नहीं माना जाता। ऐसी अवस्था में निष्कर्ष यह निकला कि ‘तदेजतिः’ इत्यादि मन्त्र तो पूर्व मन्त्रप्रतिपादित अर्थ का स्पष्टीकरण करता है, एवं ‘यस्तु सर्वाणि भूतानि’ ‘यस्मिन्सर्वाणि भूतानि०’ इत्यादि दो मन्त्र ब्रह्मकर्म के सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों उत्तर मन्त्रों में ‘यस्तु सर्वाणि०’ यह ६ था मन्त्र तो आरम्भ के—‘ब्रह्म कर्मस्थम्—कर्म ब्रह्मस्थम्’ इन दो सम्बन्धों का निरूपण करता है, एवं ‘यस्मिन्सर्वाणि०’ इत्यादि मन्त्र ‘ब्रह्मैव कर्म’ इस चौथे अमेद सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है।

५



आत्मा ब्रह्म है, इस का यह अर्थ नहीं है कि उसमें कर्म नहीं है। विश्व कर्म है, इस का यह तात्पर्य नहीं है कि इस में ब्रह्म नहीं है। दोनों में दोनों हैं, दोनों दोनों हैं। केवल प्रधानता अप्रधानता में तारतम्य है। आत्मा में ब्रह्म (ज्ञान) भाग प्रधान है, इसलिए उसे ब्रह्म कहा है। विश्व में कर्म प्रधान है, इसलिए इसे कर्म कहा है। आत्मा ज्ञानप्रधान होता हुआ सुसूक्ष्म है। इस का चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं होता। भौतिक विश्व ही दृष्टि का विषय बनता है। पहिले हमारी दृष्टि स्थूल विश्व पर, दूसरे शब्दों में कर्मभाग पर जाती है, अनन्तर (विज्ञानद्वारा) तदन्तः-प्रविष्ट आत्मतत्त्व पर दृष्टि जाती है। इसी स्थूल-सूक्ष्मभाव के क्रम को प्रधान मानकर स्थूलार

न्धतिन्याय से प्रकृत मन्त्र पहिले कर्म को ब्रह्म में अनुस्यूत बतलाता है, अनन्तर ब्रह्म को कर्मस्थ बतलाता है । इन्हीं दोनों सम्बन्धों का निरूपण करता हुआ निम्नलिखित मंत्र हमारे सामने आता है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि-आत्मन्येवानुपश्यति (कर्म ब्रह्मस्थम्)
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते । (ब्रह्म कर्मस्थम्)

(ईशोपनिषत् ६ मन्त्र)

मन्त्र का पूर्वार्द्ध 'कर्म ब्रह्मस्थम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का, एवं उत्तरार्द्ध—'ब्रह्म कर्मस्थम्' इस प्रथम सम्बन्ध का निरूपण करता है । 'सर्वाणि भूतानि' कर्म है, 'सर्वभूतेषु चात्मानं' ब्रह्म है । जो (आत्मतत्त्ववेत्ता) सम्पूर्णा भूतों (विश्व) को आत्मा (ब्रह्म) में ही अनुगत देखता है, एवं सारे भूतों में आत्मा को प्रतिष्ठित समझता है, वह कभी किसी से घृणा नहीं करता" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ ।

जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है, उक्त मंत्र दोनों सम्बन्धों का निरूपण करता हुआ प्रधानरूप से 'कर्म ब्रह्मस्थम्' इस दूसरे सम्बन्ध का ही निरूपण करता है । 'यस्तु सर्वाणि भूतानि' 'सर्वभूतेषु' इत्यादि रूप से भूत भाग को ही प्रधानता दी गई है । 'तदेजति' इत्यादि मन्त्र 'तत्' रूप से जहां ब्रह्म को प्रधान मान रहा है, वहां यह मन्त्र भूत-भाग को प्रधान लक्ष्य बना रहा है । प्रत्यग्-पराक् भेद से ब्रह्म के दो विवर्त हैं । प्रत्यग्ब्रह्म 'आहम्' है, पराग्ब्रह्म 'त्वम्' है । एक अस्मत्शब्दवाच्य विषयी ब्रह्म है, दूसरा युष्मत्प्रत्ययवाच्य विषय ब्रह्म है । विषयी प्रत्यक् है, विषय पराक् है, बाहर है । युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचर विषय विषयी तमःप्रकाशवत् परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं । प्रत्यग्ब्रह्म ज्ञानप्रधान है, पराग्ब्रह्म कर्मप्रधान है । हम और विषय यही दोनों क्रमशः प्रत्यग् पराग् ब्रह्म हैं । हम (आत्मा) भीतर हैं, विषय बाहर हैं । हम ज्ञानप्रधान हैं, विषय कर्मप्रधान हैं । ज्ञान प्रकाश है, ज्योति है ।

कर्म अप्रकाश है, आवरण है। इस प्रकार लौकिक मनुष्यों की दृष्टि में दोनों ब्रह्म परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं। यह विरुद्ध दृष्टि ही निन्दास्तुतिभाव की जननी है। स्तुतिभाव का आत्मीयता से सम्बन्ध है। निन्दाभाव का परभाव अनात्मीयता से संबन्ध है। संसार (संसारी मनुष्य) अपने को ओर अनुगत रहता है, पराए की ओर विमुख रहता है। अनात्मीय वस्तु से घृणा करता है, आत्मीय से प्रेम करता है। विद्या से मनुष्य घृणा करता है, क्योंकि इस की दृष्टि में यह अनात्मीय है। इस प्रकार कर्मरूप विषय, एवं ब्रह्मरूप आत्मा को भिन्न भिन्न समझने वाला मनुष्य संसार में कितनों ही से राग करता है, कितनों ही से द्वेष करता है। अनुकूल वेदनीयता में रागका, प्रतिकूल वेदनीयता में द्वेषका उदय है। दोनों में बंधनमूला आसक्ति है। आसक्ति दुःख का कारण है। स्तुति भी शोक का कारण है, निन्दा भी शोक का कारण है। यह निन्दा-स्तुतिभाव तभी तक रहता है, जब तक कि आत्मा और विषयों में भेदबुद्धि रहती है। द्वेष तभी तक है, जब तक कि वह उसे अनात्मा (अपने से भिन्न) समझता है। एवमेव स्तुति भी परभाव से ही सम्बन्ध रखती है। यदि उसे यह विदित होजाय कि मैं उसमें हूँ, वह मुझमें है, हम दोनों एक ही चरणक के द्विदल हैं, मेरा स्वरूप उस पर प्रतिष्ठित है, वह मुझ में प्रतिष्ठित है तो ऐसी परिस्थिति में रागद्वेषमूलक स्तुतिनिन्दाभाव का अवसर ही नहीं आता। जब दोनों एक दूसरे की प्रतिष्ठा हैं तो कौन बड़ा, कौन छोटा, कौन निन्द्य, कौन स्तुत्य, कौन निन्दक, कौन स्तोता। इसी निन्दामूलक कुत्सितभाव का निराकरण करती हुई, ब्रह्मकर्म दोनों में परस्पर अनुप्राण अनुप्राहकता का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है कि-“तुम सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में समझो, एवं सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को समझो। कर्मरूप विश्व के जहाँ जहाँ में अकर्मरूप ब्रह्म को व्याप्त समझो, एवं ब्रह्म में सर्वत्र कर्म को अनूस्यूत समझो। यदि तुम आत्मा और विश्व के इस ओतप्रोतसम्बन्ध को व्यवसायबुद्धि से समझ गए तो तुम्हारा शोकमूलक निन्दास्तुतिभाव से सदा के लिए छुटकारा होगया-‘ततो न विजुगुप्सते’। स्तुतिभाव से आत्मा में द्योभ का उदय होता है। यह द्योभ ही अशान्ति का कारण बनता हुआ आत्मपतन का प्रवर्तक बनता है। निन्दा द्वेषमूला है, स्तुति रागमूला है। एवं पूर्व कथनानुसार रागद्वेष का अपने पराए से

सम्बन्ध है। जहां—'यह अपना है, वह पराया है, यह भाव है, वही रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक भेद बुद्धि है, तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रण बुद्धि है, तब तक बुद्धि क्लृप्त है। क्लृप्त बुद्धि ध्यानशून्या है। ध्यानशून्या बुद्धि निर्वल बनती हुई, मन पर अधिकार रखती हुई मन की सवलता का कारण बन जाती है। सवल मन सङ्गदोषरूप आसक्तिभाव का प्रवर्धक है। आसक्ति कामना की जननी है। कामना क्रोध का कारण है। क्रोध संमोह का पिता है। संमोह स्मृतिभ्रंश का जनक है। स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मघात का कारण है। यही आत्मघात है, जिसका कि पुरुषात्माधिकरण के आवरणान्तर में विस्तार से निरूपण किया जा-चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वरूपतत्त्वा। तदर्थ रागद्वेषमूलक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूलक ब्रह्म-कर्म की विजातीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति मिल सकती है।

ज्ञान-कर्म को मिलाकर देखिए, तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही निःश्रेयसपन्था है। इसी श्रौतार्थ का स्पष्टीकरण करती हुई स्मार्त्ती उपनिषत् कहती है—

कर्मण्यकर्म यः परयेत्, अकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गी० ४। १८)

६

पूर्व कथन से साधारण मनुष्यों को द्वैत का भ्रम हो सकता है। 'कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो' यह अक्षर ब्रह्म-कर्म इन दो तत्त्वों की सत्ता सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक द्वैत है, तबतक कम्प है, जबतक कम्प है, तबतक भय है — 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। जबतक भय है, तबतक अशान्ति है — 'अशान्तस्य कुतः सुखम्'। पूर्वनिरूपणशैली से किसी को द्वैत का भ्रम न हो जाय, बस अशान्तिमूलक इसी द्वैतभ्रम का उन्मूलन करती हुई श्रुति कहती है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूदविज्ञानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईशोपनिषत् ७ मन्त्र)

अभ्यास द्वारा बुद्धियोग (निष्काम कर्मयोग) का साधन करते करते जिस समय आत्म-साक्षात्कार हो जाता है, उस समय उस युक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहां शोक है, कहां मोह है। 'यदुदरमन्तरं कुरुते, अयं भयं भवति' के अनुसार जबतक द्वैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प है। व्यापकत्व से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहां कम्पन को अवकाश मिले। ऐसी परिस्थिति में आत्मा में स्थानान्तरित रूप भय कैसे हो सकता है। 'इदं वा इदं वा' इस नानाभाव से मोह होजाता है। चित्त का वैचित्त्य ही मोह है। मोह से विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कार्या-कार्यविवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होजाता है। इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकलिल का नाश होगा। बुद्धि में विषा का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्मृति कहती है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।५२)

श्रुति का तात्पर्य यही है कि ब्रह्म-कर्म दो विवर्त हैं। भाति दो हैं, सत्ता एक है, इसलिए परमार्थतः अद्वैत है। सत्ताभेद ही द्वैत का कारण बनता है। श्रुति का 'विजानतः' शब्द बड़ा चमत्कार रखता है। 'जानतः' नहीं कहा, 'विजानतः' कहा है। "ब्रह्म व्यापक है, आत्मा एक है, कहीं भेद नहीं है" इस प्रकार केवल शब्दज्ञान 'जानतः' से सम्बन्ध रखता है। वास्तविक अनुभूततत्त्वज्ञान का 'विजानतः' से सम्बन्ध है। श्रुति कहती है कि तुमने सारी उपनिषद् पढ़ली, जीवन भर 'ब्रह्मवेदं सर्वम्' 'आत्मवेदं सर्वं-नेह नानास्ति किञ्चन' का पारा यण किया, पन्तु इस कोरे वाचिक ज्ञान से (शब्दश्रवणमात्र से) तुम्हें तबतक कदापि शान्ति नहीं मिल सकती, जबतक कि तुम स्वरूपरूप से उस ज्ञान पर प्रतिष्ठित न हो जाओ। जैसे पानी को तुम पानी समझ रहे हो, अग्नि को अग्नि समझ रहे हो, इसी प्रकार कोरे शब्दाडम्बर को छोड़कर जिस दिन तुम अन्तरात्मा से अद्वैततत्त्व पर विश्वास कर लोगे, तभी शोक-मोह से छुटकारा होगा। नहीं तो—'कनौ वेदान्तिनः सर्वे' यह वाक्य प्रसिद्ध है ही। जानना सामान्य ज्ञान है, इस का मन से सम्बन्ध है। विशेषरूप से—कार्यकारणसम्बन्ध परिज्ञानपूर्वक जानना विशेषज्ञान है। विशेषरूप से जानना यथार्थ जानना है। इस विजानन का बुद्धि से सम्बन्ध है। 'इदमित्यमेव' यह विश्वास बुद्धि से ही होता है। श्रद्धा करना जहां मन का काम है, विश्वास करना बुद्धि का काम है। बुद्धियोग ही आत्मा के विद्याभाग में प्रसादगुण का उदय करता हुआ शोक-मोह निवृत्ति का कारण बनना है। "पूर्य के मन्त्र में द्वैतसम्बन्ध का निरूपण हुआ, एवं प्रकृतमन्त्र अद्वैतसम्बन्ध का निरूपण कर रहा है" इस में विरोध नहीं समझना चाहिए।

उपायाः शिद्धान्तानां बानानामुपलब्धनाः ।

असन्धे वर्त्मनि स्थित्वा ततः सन्धं समीहते ॥ (वाक्यपदी)

इस शिद्धान्तिसिद्धान्त के अनुसार अधिकारी भेद से श्रुतिने द्वैत-अद्वैत दोनों भाषों का क्रमिक निरूपण किया है। ब्रह्म-कर्म को सभी पृथक् पृथक् समझते आरंभ हैं। पहिले श्रुति इस आत्यन्तिकमेवबुद्धि का निराकरण करती है। श्रुति कहती है कि जिन को तुम सर्वथा भिन्न

समझ रहे हों, विश्वास करो वे दोनों तत्त्व भात्या पृथक् पृथक् प्रतीत होते हुए भी परमार्थतः अपृथक् है, दोनों में दोनों अनुस्यूत हैं। जब अधिकारी इस प्रथम श्रेणि में उतीर्ण होजाता है तो आगे जाकर—‘यस्मिन्सर्वाणि भूतानि’ इत्यादि रूप से श्रुति रहे सहे भेद का भी निराकरण कर देती है। प्रातिभासिक द्वैत से व्यावहारिक द्वैत पर लाती है। अन्ततोगत्वा पारमार्थिक अद्वैत पर पहुँचा देती है। इस प्रकार प्रकृतमन्त्र ‘ब्रह्मैव कर्म’ इस कतुर्य सम्बन्ध का निरूपण करता हुआ ब्रह्म-कर्म के अमेद सम्बन्ध का ही दिग्दर्शन करता है।

७

इति ब्रह्म-कर्मणोः सम्बन्धाधिकारः



प्राकृतात्माधिकरणे—

अव्यक्तात्माधिकरणां समाप्तम्

१



पूर्णमदः >→————→
२-स्वयम्भूः >→————→
अधिदैवतम् >→————→

पूर्णमिदम्
१-महानात्मा
अध्यात्मम्

(महद्वैभव)

ब्रह्मसत्याक्षरः—

तेज-स्नेहमयः प्राकृतात्मा परमेष्ठी
महानात्मा

२

परमेष्ठी <-----<< आपः >>-----> महानात्मा

(प्राकृतात्माधिकरणे महदात्माधिकरणां द्वितीयम्)

अथर्ववेदावच्छिन्नः—तेजस्नेहमयात्मा

विश्वयोनिः

स पर्यगाच्छुक्रमकायमवगमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्—

शाश्वतीभ्यः समाम्यः ।

(ईशोपनिषत् ८ मन्त्र)





महत्स्वरूपानिदर्शन —

- १— वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृष्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजुः ३१।१८) ।
- २— अद्भ्यः सम्भूतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्षताम्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवम्यमाजानमग्रे ॥ (यजुः ३१।१७) ।
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद् चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ (यजुः ३२।१) ।
- ४— क इमं वो निष्यमा चिकेत वसो मातृर्जनयत स्वधाभिः ।
वह्मनां गर्भो अपसामुपस्थान् महान् कविर्निश्चरति स्वधाभिः ॥ (ऋ० १।१५।४) ।
- ५— मह्यं असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुप्र सहमानो ष्वन्यान् ।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान् ॥ (ऋ० ३।४६।२) ।
- ६— नि वेवेति पलितो दूत आस्यन्तर्मह्यंश्वाति रोचनेन ।
घृपूषि विभ्रदभि नो विचष्टे महद्देवानामसुरन्वमेकम् ॥ (ऋ० ३।५५।१) ।
यन्वा जनासो अभि सञ्चरन्ति गाव उप्यामिव ब्रजं यविष्ठः ।
दूतो देवानाममि मर्त्यानामन्तर्मह्यंश्चरसि रोचनेन ॥ (ऋ० १०।४।२) ।
- ८— तद्वै स प्राणोऽभवन्महान् भूत्वा प्रजापतिः ।
भुजो भुजिष्या विश्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि ॥ (शत० ७।५।१।२१) ।
- ९— अविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत् समर्पितम् ।
एजत् प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्य परं विज्ञानाद्यद्गुरिष्ठं प्रजानाम् ॥
(मुण्डको० २।२।१) ।
- १०— महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैव प्रवर्त्तकः ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः (श्वेता० ३।११) ।
एकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहारत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ (श्वेता० ५।३) ।
- ११— यः पूर्वं तपसो जातपद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ॥ (कठ० १।३।६) ।
अशरीरं शरीरेध्वनवस्थेष्ववस्थितं ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ (कठ० १।२।२२) ।

● १-अग्निः, २-वायुः, ३-आदित्यः, ४-चन्द्रमा (सोमः), ५-शुक्रं (मातरिश्वानाद्युः), ६-आपः, इत्येतेषां समष्टिस्तद् ब्रह्म, स प्रजापतिः पदकलो महानात्मा विश्वस्य पतिः ।

॥ श्रीः ॥

भूतं भाविष्यत् प्रस्तौमि बहुब्रह्मैकमक्षरम्

महद्ब्रह्मैकमक्षरम्

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भानि शुभ्रम् ।

उपासते पुरां ये ब्रह्मास्ते “शुक्रं”-मतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥१॥

(मुण्डक ३।२।१०) ।

मम योनि-महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भे दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ २ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ३ ॥

(गीता १४।३।४) ।



‘संवेदं सर्वम्’ के अनुसार दृश्यमान सारा प्रपञ्च ब्रह्म है । इस के आठ अवयव हैं , एवं अष्टाक्षरकुन्द को गायत्री कहा जाता है । अतएव अष्टावयव ब्रह्मरूप सर्वप्रपञ्च को हम ‘गायत्रब्रह्म’ कह सकते हैं, जैसा कि ‘तान्येतान्यष्टौ । अष्टाक्षरा गायत्री । गायत्रं साम । ब्रह्म उ गायत्री’ (जै० उ० ब्रा० १।१।८।)

इत्यादि सामश्रुति से स्पष्ट है । ब्रह्मप्रजापति (ईश्वरप्रजापति) के यह आठ अवयव अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, विकारक्षर, विश्वसूत्र, पञ्चीकृतपञ्च पञ्चजन, पुरञ्जन, पुरं, इन नामों से प्रसिद्ध हैं, जिनका कि विशद निरूपण पूर्व के प्रकरणों में किया जा चुका है । ब्रह्म के इन आठों अवयवों में से प्रत्येक अवयव पञ्चकल है । इस प्रकार कलादृष्टि से ब्रह्म की

४० कलाएं हो जाती हैं। इसी चत्वारिंशत्कल छन्द को "परमाविराट्" कहा जाता है। विराट्-छन्द के दशिनीविराट्, विंशिनीविराट्, त्रिंशिनीविराट्, चत्वारिंशिनीविराट्-(१०-२०-३०-४०) यह चार विवर्त हैं। इनमें चत्वारिंशिनी (चालीस अक्षर की) विराट् ही परमाविराट् कहलाती है। इससे बाहिर कुछ भी नहीं है। पुरुष, अन्तरङ्गप्रकृति, विकृति, विकारसंघ (विश्व) सब कुछ इस परमाविराट् के गर्भ में निविष्ट हैं। पुरुषात्माधिकरण के उपक्रममें परमाविराट् का स्वरूप प्रकाशान्तर से बतलाया गया है—(देखिए ई०वि० भा० पृ० सं० ७०)। अनुगम सिद्धान्त के अनुसार विराट् का कई प्रकार से समन्वय हो सकता है। अतएव—'एषा वै परमा विराट् यच्चत्वारिंशिनी' (ता० ब्रा० २४।१०।२) इस अनुगम वचन के अनुसार इस का ब्रह्म की उक्त चालीस कलाओं के साथ भी समन्वय किया जा सकता है। ब्रह्म ही 'सर्वम्' है। एवं 'सर्वं वै सहस्रम्' (शत० ४।६।१।१५), 'परमं सहस्रम्' (ता० ब्रा० १६।१।२) इत्यादि के अनुसार सर्वशब्द सहस्र एवं परम [अन्तिम सीमा] का वाचक है। अतएव इस परमभावस्वरूप, सर्वस्वरूप परमाविराट् को आगे जाकर ताण्ड्यश्रुतिमें 'सप्तान्तरा वै परमा विराट्' (ता. ब्रा. २५।१।४।) इत्यादि रूप से सप्तान्तरा बतलाया है। सप्तान्तरा का अर्थ सप्तान्तरा ही है। गायत्र्यादि इतर सारे छन्द इस के गर्भ में प्रविष्ट हैं। कोई भी छन्द इस का ध्वनि (अतिक्रमण) करने में समर्थ

● नियतमन्त्र से सम्बन्ध रखने वाले वेदवचन निगम कहलाते हैं, एवं कई अनुरूप मन्त्रों का निरूपण करने वाले वचन अनुगम कहलाते हैं। उदाहरण के लिये 'इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः' यह वचन केवल इन्द्र का निरूपण करता हुआ निगमकाण्ड में प्रविष्ट है। एवं 'यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि०' इत्यादि वचन अनेक मन्त्रों से सम्बन्ध रखता हुआ अनुगम है। यहाँ ५-३-का उल्लेख नहीं किया गया है। सामान्यरूप से 'पाँच जगह तीन तीन' यह कह दिया गया है। मृष्टिधारा में ऐसी स्थिति अनेक स्थानों में उपलब्ध है। उन सबका संग्रह अभीष्ट या, अतः किसी का नाम न लेकर सामान्यरूप से 'यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि' यह कह दिया है। 'एषा वै परमा विराट् यच्चत्वारिंशिनी' यहाँ भी उक्त ४० कलाओं का निर्देश नहीं है। अतः इसे भी हम अनुगम ही कहेंगे। इसी लिये इस का अनेक स्थानों के साथ समन्वय हो सकता है।

नहीं है, यह सब से अति (अतिक्रान्त) है, अतएव इस के लिये 'विराड्वा अनाधृष्टं छन्दः' (शत. ८ । २ । ४ । ४ - यजुः सं. १४ । ६) यह कहा गया है । यद्यपि ब्रह्मरूप परमा-विराट् की इन चालीसों कलाओं का पूर्व में व्यष्टिरूप से उल्लेख कर दिया गया है, तथापि सम-ष्टिज्ञान के लिये इन का यहां भी दिग्दर्शन करा देना असंगत न होगा । एक बात और ध्यान में रखिए । विराट्ब्रह्म प्रजापति है । एवं प्रजापति का "आत्म-प्राण-पशुममष्टिः-प्रजापतिः" यह लक्षण है । ऐसी स्थिति में इस विराट् प्रजापति में भी ३-४-१-क्रम से आत्मा-प्राण-पशु इन तीन विभागों का भोग मानना पड़ेगा । अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर ब्रह्म के इन तीन अवयवों की समष्टि आत्मा है, विकार-विश्वसृष्ट-पञ्चजन-पुरञ्जन-इन चार अवयवों का संघात प्राण है, एवं पुर को पशु कहा जाता है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जाना है ।

उक्त विराट्ब्रह्म का जन्मदाता तत्त्व ही 'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध है । शुक्र के सम्बन्ध से ही विराट् पुरुष चालीस कलाओं में विभक्त होजाता है । इसी सर्वापादनभूत शुक्रब्रह्म का निरूपण करती हुई श्रुति बहती है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्-

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

“कार्यरहित, व्रणरहित, स्नायुरहित, अतएव अकाय-अव्रण-अस्नाविर नाम से प्रसिद्ध, अतएव शुद्ध, पाप्मा से अविद्ध शुक्र के चारों ओर वह व्याप्त होगया, दूसरे शब्दों में शुक्र को चारों ओर से घेर लिया । (इस प्रकार शुक्र को चारों ओर से वेष्टित कर) कवि-मनीषी-परिभू-स्वयम्भू इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध उस तत्त्व ने (शुक्र द्वारा) यथा तथारूप से सदा के लिए पदार्थों का निर्माण कर दिया । अर्थात् वह तत्त्व पहिले शुक्र को वेष्टित करता है, एवं वेष्टित शुक्र से विश्व का निर्माण

किया करता है। उस का यह रचनाक्रम अनाद्यनन्त है, सदा एकसा है। एक ही नियम से विश्व का निर्माण हुआ है, एवं इसी प्रकार भविष्य में भी निर्माण होता रहेगा” यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। प्राचीन व्याख्याताओं ने इस मन्त्र का क्या अर्थ किया है? एवं विज्ञानदृष्टि से वह कहां तक ठीक है? यह भी जान लेना आवश्यक होगा।

प्राचीनों के मतानुसार उक्त मन्त्र आत्मा के स्वरूपलक्षण का निरूपण करता है। वे कहते हैं कि—“पूर्व के मन्त्रों में जिस आत्मा का निरूपण हुआ है, वह स्वस्वरूप से कैसा है? उस का स्वरूपलक्षण क्या है? ‘स पर्यगात्’ इत्यादि मन्त्र इन्हीं प्रश्नों का समाधान करता है। उक्त लक्षण आत्मा परितः व्याप्त होरहा है, आकाशवत् वह सर्वव्यापी है, वह शुद्ध शुक्लरूप है, ज्योतिष्मान् है, दीप्तिस्वरूप है—(प्रकाश स्वरूप है), अकाय है (अशरीरी है), लिङ्गशरीर से वर्जित है, अन्ततः है, शिराशून्य होने से अस्नाविर है। इस प्रकार अव्रण और अस्नाविर इन दो शब्दों से स्थूलशरीर का प्रतिषेध किया गया है। वह शुद्ध है, निर्मल है, अविद्यामल से रहित है, इस प्रकार ‘शुद्धं’ शब्द से कारण शरीर का प्रतिषेध किया गया है। धर्माधर्मादि पापों से विवर्जित होता हुआ वह अपापविद्ध है। मन्त्रगत शुक्लं—अकायं—अव्रणं—अस्नाविरं—शुद्धं—अपापविद्धं इन वचनों को शुक्लः—अकायः—अव्रणः—अस्नाविरः—शुद्धः—अपापविद्धः इस प्रकार पुंस्त्वभाव में परिणत कर लेना चाहिए। क्योंकि ‘स पर्यगात्’ इत्यादि रूप से पुंस्त्वभाव से उपक्रम कर ‘कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः’ इत्यादि रूप से पुंस्त्वभाव पर ही उपसंहार किया गया है। (जब उपक्रम उपसंहार में पुंस्त्वभाव की प्रधानता है तो मध्यपठित ‘शुक्लमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्’ इत्यादि वाक्य की पुंस्त्वप्रधानता स्वतः सिद्ध होजाती है, यही तात्पर्य है)। वह क्रान्तिदर्शी है, सर्वद्रष्टा है, जैसा कि ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ इस श्रुतिप्रमाण से स्पष्ट है। वह सर्वज्ञ ईश्वर है। सब के ऊपर रहने वाला परिभू है।

वह स्वयमेव प्रकट होने वाला स्वयम्भू है। उस निख मुक्त ईश्वर ने सर्वज्ञ होने से कर्तव्य पदार्थों को संवत्सररूप प्रजापतियों के लिए यथानुरूप विभक्त किया है”

(देखिये ई.उ.शां.भा. ८ मन्त्र)।

उक्त अर्थ की समालोचना करने की न हमारी योग्यता है, न अधिकार है। हां इस सम्बन्ध में हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि ‘अनेजदेकम्’ इत्यादि मन्त्र से श्रुति ने द्विब्रह्म षड्ब्रह्म का निरूपण करते हुए मातरिश्वा द्वारा द्विब्रह्म में षड्ब्रह्म का आधान बतलाया। आगे के तीन मन्त्रों में ब्रह्म-कर्म के सम्बन्ध का निरूपण किया, एवं प्रकृत मन्त्र में उसी मातरिश्वा को लक्ष्य में रखकर शुक्र का निरूपण किया। उस मातरिश्वाने आप की उस अनेजदेजत् तत्त्व में आहुति दी, इससे शुक्र का स्वरूप निष्पन्न होगया। उस शुक्र के चारों ओर वह मातरिश्वा व्याप्त होगया। इस प्रकार “वह मातरिश्वा जो कि तत्तद्विशेषधर्मों के कारण कवि, मनीषी, परिभू, स्वयम्भू, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है, उस अकाय, अव्रण, अशनाविर, शुद्ध, अपापविद्ध शुक्र के चारों ओर व्याप्त होगया, ऐसे शुक्र से वह मातरिश्वा सृष्टिनिर्माण में समर्थ हुआ, जो कि सृष्टिप्रवाह सदा के लिए एकसा चला आरहा है” इस सीधी भाषा में मन्त्रने शुक्रविभूति का निरूपण किया। “उपक्रम में पुरुष है, उपसंहार में भी पुरुष है, इसलिए मध्यपतित नपुंसक भी पुरुष है” इस द्रविड़प्राणायाम की हमें तो कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अब देखना यह है कि श्रुतियों में शुक्र शब्द कहां कहां प्रयुक्त हुआ है? एवं तत्तत् स्थलोंमें शुक्र शब्द का क्या क्या अर्थ हुआ है? यों तो शुक्र शब्द सैकड़ों स्थानों में प्रयुक्त हुआ है। उन सब का दिग्दर्शन तो प्रकृत में नहीं कराया जासकता। केवल दो चार स्थलों का निदर्शन ही विषयसंगति के लिए पर्याप्त होगा।

१-“ते शुक्रमेतदतिवर्चन्ति धीराः” (मुण्डक ३।२।१।)

२-“उच्छुक्रमत्कमजते सिमरमाव” (ऋक्सं० १।१।५।७।)

३-“यसे शुक्रं तन्वो रोचते” (ऋक्सं० १।१४०।११।)

४-विश्वाहा शुक्रं पशो अस्य दुक्षत” (ऋक्सं० १।१६०।३।)

१—१-आनन्दः २—२-विज्ञानम् ३—३-मनः ४—४-प्राणः ५—५-वाक् —०—	पञ्चकलोऽव्ययपुरुषः (१)	
१—६-ब्रह्मा २—६-विष्णुः ३—८-इन्द्रः ४—९-अग्निः ५—१०-सोमः —०—	पञ्चकलोऽक्षरपुरुषः (२)	१ आत्मा
१-११-ब्रह्मा २-१२-विष्णुः ३-१३-इन्द्रः ४-१४-अग्निः ५-१५-सोमः —०—	पञ्चकलः-आत्मक्षरपुरुषः (३)	
१-१६-प्राणः २-१७-आपः ३-१८-वाक् ४-१९-अनादः ५-२०-अनम् —०—	पञ्चकलः-विकारक्षरः (४)	
१-२१-प्राणः ३-२२-आपः ३-२३-वाक् ४-२४-अनादः ५-२५-अनम् —०—	पञ्चकलः-विश्वसृष्टः)	२ प्राणाः
१-२६-प्राणः २-२७-आपः ३-२८-वाक् ४-२९-अनादः ५-३०-अनम् —०—	पञ्चकलः-पञ्चजनः (६)	
१-३१-वेदाः २-३२-लोकाः ३-३३-प्रजाः ४-३४-कीर्त्याणि ५-३५-पशवः —०—	पञ्चकलः-पुरञ्जनः (७)	
१-६-खयम्भूः २-३७-परमेष्ठी ३-३८-सूर्यः ४-३९-पृथिवी ५-४०-चन्द्रमाः —०—	-पुरम् (८)	३ पशवः

आत्म—प्राण—पशुसमष्टिः प्रजापतिर्विराट्

किया करता है। उस का यह रचनाक्रम अनाद्यनन्त है, सदा एकसा है। एक ही नियम से विश्व का निर्माण हुआ है, एवं इसी प्रकार भविष्य में भी निर्माण होता रहेगा। यह है मन्त्र का अन्तरार्थ। प्राचीन व्याख्याताओं ने इस मन्त्र का क्या अर्थ किया है? एवं विज्ञानदृष्टि से वह कहां तक ठीक है? यह भी जान लेना आवश्यक होगा।

प्राचीनों के मतानुसार उक्त मन्त्र आत्मा के स्वरूपलक्षण का निरूपण करता है। वे कहते हैं कि—“पूर्व के मन्त्रों में जिस आत्मा का निरूपण हुआ है, वह स्वस्वरूप से कैसा है? उस का स्वरूपलक्षण क्या है? ‘स पर्यगात्’ इत्यादि मन्त्र इन्हीं मन्त्रों का समाधान करता है। उक्त लक्षण आत्मा परितः व्याप्त हो रहा है, आकाशवत् वह सर्वव्यापी है, वह शुद्ध शुक्लरूप है, ज्योतिष्मान् है, दीप्तिस्वरूप है—(प्रकाश स्वरूप है), अकाय है (अशरीरी है), निज्जशरीर से वर्जित है, अन्तत है, शिराशून्य होने से अस्नाविर है। इस प्रकार अव्रण और अस्नाविर इन दो शब्दों से स्थूलशरीर का प्रतिषेध किया गया है। वह शुद्ध है, निर्मल है, अविद्यामल से रहित है, इस प्रकार ‘शुद्धं’ शब्द से कारण शरीर का प्रतिषेध किया गया है। धर्माधर्मादि पापों से विवर्जित होता हुआ वह अपापविद्ध है। मन्त्रगत शुक्लं—अकायं—अव्रणं—अस्नाविरं—शुद्धं—अपापविद्धं इन वचनों को शुक्लः—अकायः—अव्रणः—अस्नाविरः—शुद्धः—अपापविद्धः इस प्रकार पुंस्त्वभाव में परिणत कर लेना चाहिए। क्योंकि ‘स पर्यगात्’ इत्यादि रूप से पुंस्त्वभाव से उपक्रम कर ‘कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः’ इत्यादि रूप से पुंस्त्वभाव पर ही उपसंहार किया गया है। (जब उपक्रम उपसंहार में पुंस्त्वभाव की प्रधानता है तो मध्यपतित ‘शुक्लमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्’ इत्यादि वाक्य की पुंस्त्वप्रधानता स्वतः सिद्ध होजाती है, यही तात्पर्य है)। वह क्रान्तिदर्शी है, सर्वद्रष्टा है, जैसा कि ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ इस श्रुतिप्रमाण से स्पष्ट है। वह सर्वज्ञ ईश्वर है। सब के ऊपर रहने वाला परिभू है।

वह स्वयमेव प्रकट होने वाला स्वयम्भू है। उस नित्य मुक्त ईश्वर ने सर्वज्ञ होने से कर्तव्य पदार्थों को संवत्सररूप प्रजापतियों के लिए यथानुरूप विभक्त किया है”

(देखिये ई.उ.शां.भा. ८ मन्त्र)।

उक्त अर्थ की समालोचना करने की न हमारी योग्यता है, न अधिकार है। हां इस सम्बन्ध में हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि ‘अनेजदेकम्’ इत्यादि मन्त्र से श्रुति ने द्विब्रह्म षड्ब्रह्म का निरूपण करते हुए मातरिश्वा द्वारा द्विब्रह्म में षड्ब्रह्म का आधान बतलाया। आगे के तीन मन्त्रों में ब्रह्म-कर्म के सम्बन्ध का निरूपण किया, एवं प्रकृत मन्त्र में उसी मातरिश्वा को लक्ष्य में रखकर शुक्र का निरूपण किया। उस मातरिश्वाने आप की उस अनेजदेजत् तत्त्व में आहुति दी, इससे शुक्र का स्वरूप निष्पन्न होगया। उस शुक्र के चारों ओर वह मातरिश्वा व्याप्त होगया। इस प्रकार “वह मातरिश्वा जो कि तत्त्वविशेषधर्मों के कारण कवि, मनीषी, परिभू, स्वयम्भू, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है, उस अक्राय, अक्रण, अस्नाविर, शुद्ध, अपापविद्ध शुक्र के चारों ओर व्याप्त होगया, ऐसे शुक्र से वह मातरिश्वा सृष्टिनिर्माण में समर्थ हुआ, जो कि सृष्टिप्रवाह सदा के लिए एकसा चला आरहा है” इस सीधी भाषा में मन्त्रने शुक्रविभूति का निरूपण किया। “उपक्रम में पुरुष है, उपसंहार में भी पुरुष है, इसलिए मध्यपतित नपुंसक भी पुरुष है” इस त्रिविष्टप्राणायाम की हमें तो कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अब देखना यह है कि श्रुतियों में शुक्र शब्द कहाँ कहाँ प्रयुक्त हुआ है? एवं तत्त्व स्थलोंमें शुक्र शब्द का क्या क्या अर्थ हुआ है? यों तो शुक्र शब्द सैकड़ों स्थानों में प्रयुक्त हुआ है। उन सब का दिग्दर्शन तो प्रकृत में नहीं कराया जासकता। केवल दो चार स्थलों का निदर्शन ही विषयसंगति के लिए पर्याप्त होगा।

१-“ते शुक्रमेतदतिवर्चन्ति धीराः” (मुण्डक ३।२।१।)

२-“उच्छुक्रमत्कमजते सिमरमात्” (ऋक्सं० १।१।५।७।)।

३-“यत्ते शुक्रं तन्वो रोचते” (ऋक्सं० १।१४०।११।)।

४- विन्वाहा शुक्रं ष्यो अस्य दुत्तत” (ऋक्सं० १।१६०।३।)।

- ५—“स्वर्गशुक्रमुषसो वि दिद्युः” (ऋक्सं० २।२।७) ।
 ६—“प्रयस्वतीरीळते शुक्रमर्चिः” (ऋक्सं० ३।६।३) ।
 ७—“इन्द्र शुक्रं पिबा सोमम्” (ऋक्सं० ३।३२।२) ।
 ८—“वर्णमतिरञ्छुकमासाम्” (ऋक्सं० ३।३४।५) ।
 ९—“वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे” (ऋक्सं० ४।३।१०) ।
 १०—“अपिप्यानं मघवा शुक्रमन्धः” (ऋक्सं० ४।२७।५) ।
 ११—“शुक्रं तन्वन्त आरजः” (ऋक्सं० ४।४५।२) ।
 १२—“मवायवे भरत चारु शुक्रम्” (ऋक्सं० ५।४३।३) ।
 १३—“आमूर्यो अरुञ्छुकम्” (ऋक्सं० ५।४५।१०) ।
 १४—“शुक्रं तेऽन्यद्यजते तेऽन्यत्” (ऋक्सं० ६।५८।१) ।
 १५—“सकृच्छुकं दुदुहे पृथिनरूपः” (ऋक्सं० ६।६६।१) ।
 १६—“तच्चतुर्देवहितं शुक्रमुधरत्” (ऋक्सं० ७।६६।१६) ।
 १७—“अमुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः” (ऋक्सं० ८।१६।३०) ।
 १८—“शुक्रं हिरण्यमादे” (ऋक्सं० ८।६५।११) ।
 १९—“पवपान ऋते बृहच्छुकम्” (ऋक्सं० ९।६६।२४) ।
 २०—“दिवि शुक्रं यजन सूर्यस्य” (ऋक्सं० १०।७।३) ।
 २१—“ज्योतिः शुक्रमसौ” (ऐत्रा० ७।१२) ।
 २२—“शुक्रं हिरण्यम्” (ऐत्रा० १।७६।३) ।
 २३—“ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम्” (ऐत्रा० ७।१२) ।
 २४—“शुक्रं ब्रह्मच्छुकेण क्रीणाति यत् सोमं हिरण्येन” (शत० १।३।३।६) ।
 २५—“तेजोऽसि शुक्रमभ्यमृतमसि [आज्य]” (शत० १।३।१।२८।यजुः १।२१) ।
 २६—“शुक्रावापः” (ऐ० ब्रा० १।७।६।३) ।
 २७—“ससं वै शुक्रम्” (शत० ३।२३।२५) ।



जिन जिन प्रकारों में उक्त रूप से शुक्र शब्द प्रयुक्त हुआ है, उन उन प्रकारों को अपने सामने रख लीजिए, उपलब्धभाष्यों को भी थोड़ी देर के लिए उपकारक समझिए, और फिर अर्थ कीजिए । आप को विदित होजायगा कि शुक्र शब्द का अमुक अर्थ ही ऐसा है, जो सब शुक्र शब्दों में समान रूप से व्याप्त होसकता है । आरम्भ से ही चलिए । जिस 'शुक्रम्' को उपक्रमोपसंहार के दल पर 'शुक्र' मानते हुए भाष्यकारने प्रकृत में जिसे उस अचिन्त्य निर्गुण-ब्रह्मपरक माना है, वे ही भाष्यकार स्वयं उपनिषत् में ही 'ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः' इत्यादि रूपा से पढ़े हुए 'शुक्रम्' को "शुक्रम्" ही रखते हुए कहते हैं—

‘ये ह्यकामा विभृतिर्तृष्णाविर्जिता मुमुक्षवः सन्न उपासते, परमिव सेवन्ते, ते शुक्रं नृवीजं यदेतत् प्रसिद्धं शरीरोपादानकारणमतिवर्त्तन्ति धीराः, धीमन्तो न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति’ (मुण्डक० शां० भा० ३।२।१) ।

इस प्रकार यहां शुक्र शब्द से पुरुषोपादनभूत सुप्रसिद्ध शुक्र (वीर्य) का ग्रहण किया गया है । क्या विद्वन्मण्डली—‘एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽन्यत्रोपचारको भवति’ इस न्याय को नहीं मानती ! यदि मानती है तो क्यों नहीं मुण्डकोपात्त शुक्र शब्द को भी अचिन्त्य ब्रह्म परक माना जाय, अथवा ईशोपात्त शुक्र शब्द को भी क्यों न उपादानकारणपरक मान लिया जाय । सर्वश्री सायणाचार्यने वेद पर भाष्य लिखा है । सभी विद्वान् इस भाष्य का आदर करते हैं । अब देखना यह है कि उक्त श्लोकस्थलों में उपात्त शुक्र शब्द का उन्होंने क्या अर्थ किया है ?

२—“वह आदिस अपनी रश्मियों द्वारा समस्त भूतों के सारभूत रस (शुक्र) को ऊर्ध्व (शुलोक की ओर) लेजाता है” । (३)—“हे अग्ने ! तुम्हारे (अग्नेय) शरीर का जो शुक्र (प्रज्वलित तेज) चमक रहा है” । (४)—“वह आदिस शुक्ररूप (शुलोक के) पय का दोहन करता है” (५)—“हे अग्ने ! आदिस की तरह प्रकाशित शुक्ररूप आपको उषा प्रज्वलित कर रही है” । (६)—“हे अग्ने ! दधिष्मती प्रजा (होता लोग) आपकी शुक्र (दीप्ति) रूप ज्वालाओं की स्तुति करती है” । (७)—“हे इन्द्र ! आप (मोदुग्ध से युक्त अत-

एव) शुक्ररूप सोम का पान कीजिए । अथवा शुक्रामन्थीग्रह में वर्तमान, अतएव शुक्ररूप सोम का पान कीजिए” । (८)-“इन उषाओं के शुक्र (प्रकाश) रूप वर्णों (इन्द्र ने अपने तेज से) प्रवृद्ध कर दिया” । (९)-“पानी बरसाने वाले सूर्य (वृषा) ने अन्तरिक्षरूप स्तन से शुक्ररूप पानी को दूह लिया” (१०)-“मघवा (शुलोकस्थ सौर) इन्द्र ने आप्यायित शुक्ररूप सोम को” (११)-“शुक्ररूप (दीप्तिरूप) रज को वितत कर दिया” । (१२) “हे (अध्वर्यु ! आपने) वायु के लिए जिस चरणीय (शुक्र नाम के) दीप्त सोम का संपादन किया है” । (१३)-“जिस दीप्त पानी (शुक्र) के प्रति सूर्य चारों ओर प्रकट होता है” । (१४)-“हे पृथ्वी ! तुम्हारा एक शुक्र [शुक्ल] वर्ण है, एक कृष्णवर्ण है” । (१५)-“(वर्षाऋतु में) शुक्लरूप (शुक्ररूप) उदक अन्तरिक्ष से झरता है” । (१६)-“देवताओं का हितैषी यह (सूर्य) निर्मल (शुक्र) चक्षु उदित हुआ है” । (१७)-“हे इन्द्र ! आपने जिस समय शुलोक में निर्मल ज्योतिर्मय सूर्य को प्रतिष्ठित किया” । [१८]-“निर्मल हिरण्यरूप चन्द्रमा का आदान करता हूँ” [१९]-“पवमानने शुलोक में दीप्यमान श्वेतवर्ण [सूर्य] को उत्पन्न किया” । [२०]-“शुलोक में पूजनीय सूर्यके शुक्र की [दीप्तिप्रदमण्डल की] जैसे कोई आराधना करता है” । [२१]-“यह सूर्य ज्योतिर्मय शुक्र है” । [२२]-“यह शुक्र हिरण्य [ज्योति] है” । [२३]-“ज्योति ही शुक्ररूप हिरण्य है” । [२४]-“सो जो कि हिरण्य सुवर्णखण्ड [अशर्फी] से सोम खरीदता है, वह शुक्र से ही शुक्र खरीदता है” । [२५]-“हे आज्य ! (घृत) आप तेजोमय हैं, शुक्र हैं, अमृत हैं” । [२६]-“पानी ही शुक्र है” । [२७]-“सख ही शुक्र है” । + + + + ।

उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार स्वयं प्राचीनों के मतानुसार ही शुक्र शब्द पुरुषवीर्य, भूत-रस, अग्नितेज, पय, प्रकाश, दीप्ति, सोम, ज्योति, आप, सोम, दीप्तरज, दीप्तसोम, दीप्तपानी, शुक्लवर्ण, शुक्लउदक, निर्मलसूर्य, निर्मलज्योति, निर्मलचन्द्रमा, श्वेतसूर्य, दीप्ति-मन्मण्डल, सूर्य, हिरण्यज्योति, ज्योति, सोम, आज्य, पानी, सख-इन पदार्थों के लिए

प्रयुक्त हुआ है। इन सब का पर्यवसान द्वित्रल्लगर्भित (यजुरग्निगर्भित) षड्ब्रह्म (आप) में हो जाता है। आप्तत्व की अवस्था विशेष ही सोम है। सोम ही चन्द्रमा है। चन्द्रमा ही औषधि द्वारा वीर्यरूप में परिणत होता है। “महत्तत् सोमो महिषम्कार” (ऋक् सं० १। १७। ४१।) के अनुसार सोमावृत्ति से ही सूर्य में ज्योति का उदय होता है। सोममय तौर ज्योति ही हिरण्य है। पञ्चभूतों का मूल उपादान वही आप है, यही भूतों का रस है। वही गोपशु में प्रविष्ट होकर पर्यरूप में परिणत होता है। यह स्वयं ऋत है, परन्तु इसके गर्भ में सत्य यजुरग्नि प्रतिष्ठित है, अतः यह सत्य भी है। इन्हीं सब परिस्थितियों के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रकृत मन्त्र में प्राचीनों ने ‘शुक्रम्’ को ‘शुक्रः’ परक मानते हुए जो इस का विशुद्ध आत्मपरक अर्थ किया है, यह वृद्धचरितमात्र है। वैदिक साहित्य किसी संप्रदाय विशेष का अनुचर नहीं है। यद्यपि सभी सम्प्रदायों का मूल वेदशास्त्र ही है किसी भी सम्प्रदाय को अवैदिक नहीं कहा जा सकता, तथापि “वेदशास्त्र में अमुक सम्प्रदाय का ही प्रधानरूप से निरूपण हुआ है” यह मानना प्रौढवादमात्र है। वैदिक पदार्थों के यथानुरूप समन्वय के लिए विशुद्धदृष्टि अपेक्षित है। यदि पहले से किसी मत पर आरुढ़ होकर आप वेद स्वाध्याय में प्रवृत्त होंगे तो सहस्र भाष्य भी आप को वेद के यथार्थ तात्पर्य से कृतकृत्य न कर सकेंगे। कुछ समय पूर्व वृत्तालय पाठशाला के प्रधान पं० एम्बर कृष्णभाचार्य द्वारा संशोधित, एवं श्रीगोपालानन्दस्वामीविरचित उपनिषद्भाष्य प्रकाशित हुआ है। कृष्णभाचार्य अपनी प्रस्तावना समाप्त करते हुए अन्त में लिखते हैं—

“इदं तु भाष्यं सरलया शैल्या प्रवर्त्तमानं सुखेनार्थमवगमयति। विशिष्टाद्वैत-
सिद्धान्तमवलम्ब्यमानानामुपकारकमेतत्। यद्यप्यस्ति नाम क्वचित् क्वचिद्वा-

१ “सरल शैली से लिखा गया यह भाष्य सरलता से अर्थ ज्ञान कराता है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का आश्रय लेने वालों के लिए यह उपकारक है। यद्यपि कहीं कहीं वाक्य योजना में शब्दों के अर्थों में प्राचीन व्याख्याओं से नाम मात्र की भेद है, तथापि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का कहीं अणुमात्र भी उल्लंघन नहीं हुआ है.....”। यह भाष्य सन् ३५ में निर्णय सागर प्रेस में मुद्रित हुआ है।

क्ययोजनायां शब्दार्थेषु च भेदः पूर्वव्याख्यानतः, अथापि विशिष्टाद्वैतं तु न
लेशतोऽप्यनिलङ्घ्यते । तदिदं गुणैकदर्शिनां विदुषाम्-नन्दायैव स्यात्” ।

क्या विशिष्टाद्वैत की पुष्टि करने के लिए ही उपनिषत् प्रकट हुए हैं ? क्या इन साम्प्र-
दायिक अर्थों से, जो केवल कल्पना का साम्राज्य निर्माण करने वाले चतुर शिल्पी हैं, आत्म-
तुष्टि हो सकती है ? यदि नहीं तो किसी भी सम्प्रदाय का आश्रय न लेते हुए आप हमारे
साथ चलिए । हम आपको शुक्रविभूति के दर्शन कराने हैं । विषयारम्भ में कहा गया है कि
विराड्ब्रह्म का जन्मदाता शुक्रतत्त्व है । इस शुक्रपदार्थ का सामान्य विवेचन पूर्व के शुक्राधि-
कार में विस्तार से किया जा चुका है । अतः यहां पिटपेवण की आवश्यकता नहीं है ।
केवल शुक्रसम्बन्धी विशेषभावों का ही दिग्दर्शन कराना पर्याप्त होगा ।

शुक्र क्या पदार्थ है ? इस का उत्तर है ‘उपादानकारण’ । विश्व का उपादानकारण
कौन है ? इस का उत्तर है -- “सृष्टिसान्नी अव्यययुक्त. अतएव बीजावस्थापन्न अक्षरानु-
गृहीत आत्मक्षर” । अव्यक्तधिकरण में हमने यजुर्ब्रह्ममन्त्र पड्ब्रह्म को शुक्र बतलाया था,
एवं यहां अव्ययाक्षरावच्छिन्न आत्मक्षर को शुक्र बतलाया जा रहा है, इस में विरोध नहीं समझना
चाहिए, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा । चत्वारिंशिनी परमाविराट् के पूर्वोक्त आठ अव-
यवों का स्मरण कीजिए । उन आठों अवयवों में सातवें ‘पुरंजन’ नाम के अवयव की पांचों
कलाएं वेद-लोक-प्रजा-वीर्य-पशु इन नामों से प्रसिद्ध हैं । इन में वेद नाम का पहिला
पुरंजन ही सृष्टि का आधार है । बिना वेद के न ईश्वरसृष्टि होती है, न जीवसृष्टि । अन्तर
केवल इतना है कि ईश्वरसंस्था में पहिले पुरुष है, पुरुष से विश्व का मूल वेदतत्त्व प्रादुर्भूत होता
है, एवं अस्मदादि में पहिले वेद उत्पन्न होता है, अनन्तर वेदद्वारा योगमाया का प्रादुर्भाव होता
है । तदनन्तर पुरुष (जीवाव्यय) का विकास होता है (देखिए ई. उ. वि. भा. पृ.सं. ४००)
क्रममात्र में अन्तर है । परन्तु बिना वेद के प्रजापति का स्वरूप निष्पन्न नहीं होसकता, यह
निश्चित है । जबतक प्रजा नहीं, तबतक प्रजापति नहीं । जब तक लोक नहीं, तब तक प्रजा

नहीं । जब तक आपोमय सुवेद नहीं, तब तक लोक नहीं । जब तक यजुर्वेद नहीं, तबतक सुवेद नहीं । इसप्रकार परम्परया वेद ही प्रजोत्पत्ति का कारण बनता हुआ 'प्रजापति' शब्द को अन्वर्थ बनाने में समर्थ होता है । तभी तो प्रजापति को वेदमूर्ति कहा जाता है । इस प्रजापति की ईश्वर-प्रतिमा-जीव-शिपिविष्ट-भेद से चार संस्थाएं बतलाई गई हैं । इन चारों में ईश्वरप्रजापति विश्वकर्मा नाम से प्रसिद्ध है । इस विश्वकर्मा प्रजापति के समानशील-व्यसन चार अभिन्न सखा उत्पन्न होते हैं । चारों मित्र वरुण, इन्द्र, अग्नि, सोम इन नामों से प्रसिद्ध हैं । किसी समय यह पांचों पृथक् पृथक् थे । जब तक यह पृथक् पृथक् रहै, तबतक इन की विश्वनिर्माणसम्बन्धिनी कामना पूरी न हुई । फलतः इन्होंने विचार किया कि ऐसे काम नहीं चल सकता । अपने को परस्पर में मिलकर सृष्टिनिर्माण करना चाहिए । ऐसा ही हुआ । पांचों मिल गये । मिलने से कामना पूरी होगई । इन की समष्टि कर्मपूर्ति का हेतु बनी, अतएव यह यज्ञ 'कामय' नाम से प्रसिद्ध हुआ । यही यज्ञ यज्ञविज्ञानपरिभाषा के अनुसार आगे जाकर 'दर्शपूर्णमास' नाम से व्यवहृत हुआ । अन्तरूप चन्द्रमा अग्निमयी पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है । इस की यह परिक्रमा एक चान्द्रमास में पूरी होती है । इस परिक्रमा से चान्द्रमास के कृष्ण-शुक्ल दो पक्ष होगये । कृष्णपक्ष की अन्तिम विश्रामभूमि 'दर्श' कहलाने लगी, एवं शुक्लपक्ष की अवसान भूमि 'पूर्णिमा' कहलाने लगी । दर्शतिथि में चन्द्रमा की मृत्यु है, पूर्णिमा में युवावस्था है । शुक्लद्वितीया जन्मकाल है, शुक्लाष्टमी बचपन है, कृष्णाष्टमी वृद्धावस्था है । इन सब भावों की मूलाधारभूमि प्रतिपत् (पड़वा) है । यहीं से चन्द्रमा के हास एवं वृद्धि की प्रपत्ति (उपक्रम) होती है, अतएव इसे 'प्रतिपत्' कहा जाता है । शेष सारे चान्द्र अहोरात्र प्रतिपत् का अनुसरण करते हैं, प्रतिपत् के अनुगामी हैं, अतएव उन्हें अनुचर कहा जाता है । प्रतिपत्-अनुचर सांकेतिक शब्द हैं । मूलप्रतिष्ठा को प्रतिपत् कहा जाता है, मूलानुगत इतरभावों को अनुचर कहा जाता है । सूर्य प्रतिपत् है, रश्मिएं अनुचर हैं । चन्द्रमा प्रतिपत् है, नक्षत्र अनुचर हैं । आत्मा प्रतिपत् है, इन्द्रियप्राण अनुचर हैं । मस्तक प्रतिपत् है, इतर अङ्ग अनुचर हैं । गुरु प्रतिपत् है, शिष्यवर्ग अनुचर है । सेनाध्यक्ष प्रतिपत् है, सेना अनुचर

है। हाय प्रतिपत् है, कर्म अनुचर है। मुख प्रतिपत् है, अन्न अनुचर है। वज्र प्रतिपत् है, रूप अनुचर है। निदर्शन मात्र है। विश्व में सर्वत्र आप इसी प्रकार 'प्रतिपदनुचरौ' इन दो भावों का साक्षात्कार कर सकते हैं। प्रतिपत् एक होगा, अनुचर अनेक होंगे। कृष्ण अहोरात्र अनुचर हैं, कृष्णप्रतिपत् प्रतिपत् है। शुक्ल अहोरात्र अनुचर हैं, शुक्लप्रतिपत् प्रतिपत् है। कृष्णप्रतिपत् का शासन दर्शपर्यन्त है, शुक्लप्रतिपत् का शासन पूर्णिमा पर्यन्त है। दर्श-काल निग्राभ (हास) काल है, पूर्णिमाकाल उद्ग्राभ (वृद्धि) काल है। दर्श में चान्द्र पदार्थ हम से वियुक्त होते रहते हैं। पूर्णिमा में चान्द्रपदार्थ हम से युक्त होते रहते हैं। दर्शेष्टि अवसान की सूचिका है, पौर्णमासेष्टि पूर्णभाव की प्रवर्तिका है। ऋतु के अनुसार प्रत्येक पदार्थ का दर्श-एवं पौर्णमासकाल नियत है। उदाहरण के लिए घृत को लीजिए। आश्विनमास घृत का पौर्णमास है, शेषकाल दर्श है। आश्विनमास में आकाश से वायुद्वारा [प्राणरूप से] घृत की वृष्टि होती है अतएव आश्विन के पानी के लिए लोक भाषा में 'घी बरस रहा है' यह कहा जाता है। चैत्र-वैशाख मधु का पौर्णमास है। इनमें सूर्य से मधु [शहद] की वृष्टि होती है। सूर्य जिस समय मधुच्छत्र [मधुमक्षिका का छत्र] नाम से प्रसिद्ध भरणी नक्षत्र पर आता है, उस समय से ही मधु का पौर्णमासकाल आरम्भ होजाता है। लाखों मन शहद पृथिवी पर गिर जाता है। इसी मधुवृष्टि से वसन्त में प्रत्येक पदार्थ में नैसर्गिक माधुर्य विकसित होजाता है। मधु सम्बन्ध से चैत्र-वैशाख मधु-माधव मास नाम से प्रसिद्ध हैं। कहना यही है कि पदार्थ का आगमनकाल पौर्णमास है, वियोगकाल दर्श है। अहोरात्रपरिक्रमावत् दोनों चक्रवत् परिभ्रमणशील हैं। परिभ्रमण से ही दर्श-पूर्णमास का उदय होता है। अतः इस परिक्रमारूप कर्म को ही 'दर्शपूर्णमासयज्ञ' कह दिया जाता है। चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है, साथ ही में पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। अतएव पृथिवी को हम प्रतिपत् कह सकते हैं, एवं चन्द्रमा को अनुचर कह सकते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा को साथ लिए हुए पृथिवी अपने नियत स्थान पर (क्रान्तिवृत्त पर) सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है। इस परिक्रमा से पृथिवी में अदिति-दिति यह दो अवस्थाएं उत्पन्न होजाती हैं। यह अदिति-दिति अहोरात्र, संवत्सर, अयन

मेद से तीन भागों में विभक्त है । दिन में पृथिवी का जो भाग सौरप्रकाश से युक्त रहता है, वह अदिति है । रात्रिगत पार्थिवभाग सौरप्रकाश से वञ्चित होता हुआ दिति है । मध्याह्न पूर्णिमा है, मध्यरात्रि अमावास्या है, प्रातःकाल शुक्लाष्टमी है, सायंकाल कृष्णाष्टमी है । इसी प्रकार उत्तरायणमण्डल अदिति है, दक्षिणायनमण्डल दिति है । उत्तरायण उपक्रमकाल शुक्लाष्टमी है, मध्यकाल पूर्णिमा है, उपसंहारकाल कृष्णाष्टमी है, दक्षिणायन मध्यकाल दर्श है, विषुवकाल पूर्णिमा है । सारा सम्बत्सर पूर्णिमारूप है, प्रकाशरूप है, संवत्सर के पूर्व-पश्चिम सब ओर पूर्णिमा (प्रकाश) का साम्राज्य है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय ।

तस्यां देवा अधि संवसन्त उत्तमे नाक इह मादयन्ताम् ॥

(तै० ब्रा० ३।१।१।) इति ।

पौर्णमासेष्टि का सम्बन्ध मध्य के विषुवकाल से ही है । यहीं सारे प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं , यही नाक स्थान है । इसी अभिप्राय से 'मध्यतः पौर्णमासी जिगाय०' इत्यादि कहा गया है । यही पृथिवी का दर्शपूर्णमास है । पृथिवी सूर्य का उपग्रह है , अतएव सूर्य प्रतिपत् है, पृथिवी अनुचर है ।

चन्द्रयुक्त पृथिवी को साथ लिए हुए सूर्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है । यही सूर्य का दर्शपूर्णमास है । इसी सौरदर्शपूर्णमास से परमेष्ठी रूप महान् में त्रैगुण्य-भाव का उदय होता है । परमेष्ठी का वह भाग जो सौरप्रकाश से युक्त रहता है, पूर्णिमाकाल है , यही अदिति मण्डल है , यही अध्यात्मभाषानुसार सत्त्वप्रधान महान् है । विरुद्ध तमोमय भाग दर्शकाल है , यही दिति मण्डल है , यही तमःप्रधान महान् है । सन्धिभाग रजोमहान् है । इसी सौर अदिति का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

या प्राणेन (सौरप्राणेन) सम्भवसदितिर्देवतामयी ।

गुहां पविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत ॥ (कठ० ४।७) ।

सूर्य परमेष्ठी का उपग्रह है, अतएव परमेष्ठी प्रतिपत् है, सूर्य अनुचर है। चन्द्रमा-पृथिवी एवं सूर्य को अपने महिमामण्डल में प्रतिष्ठित रखता हुआ परमेष्ठी स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। इस परिक्रमा से ही विश्वका स्वरूप निर्माण होता है। विश्व एक प्रकार का प्रकाश है, यही पुण्याह (ब्रह्मा का दिन-सृष्टिकाल) है। यही सृष्टिकाल अदिति मण्डल है, यही पूर्णिमा है। प्रलयावस्था विरवभ्रमावात्मक तमोरूप दितिकाल है, यही दर्श है, यही परमेष्ठीकृत दर्शपूर्णमास है। स्वयं स्वयम्भू स्थिर है, अतएव इसे परोरजा कहा जाता है। पृथिवीरूप भूलोक, सूर्यरूप स्वर्लोक, पृथिवी और सूर्य के मध्य का भुवर्लोक, परमेष्ठीरूप जनलोक, परमेष्ठी और सूर्य के मध्यका महर्लोक, स्वयम्भू और परमेष्ठी के मध्यका तपोलोक यह ६ ओं रज (परिभ्रमणशील लोक) उस परोरजा सत्यलोकात्मक स्थिर स्वयम्भू के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। उसने अपनी प्राणशक्ति से [स्वयम्भू प्राण प्रधान है] ६ ओं का विधरण कर रक्खा है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है।

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्द्र पृच्छामि विदमने न विद्वान् ।

वियस्तस्तम्भ षज्जिमा रजांस्यन्नस्यरूपे किमपि स्वदेकम् ॥

(ऋक्सं० नासदीयसूक्त १।१६४।६।)

इस प्रकार प्राणप्रधान विश्वकर्मा स्वयम्भू (ईश्वर) प्रजापति अपनी वरुण [परमेष्ठी], इन्द्र [सूर्य], अग्नि [पृथिवी], सोम [चन्द्रमा] इन चार प्रतिमाओं से युक्त होकर दर्शपूर्णमास का प्रवर्तक बनता हुआ परमप्रजापति नाम से प्रसिद्ध होजाता है। इसी परमप्रजापति का निरूपण करती हुई यजुःश्रुति कहती है—

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।

शिवा सास्विभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥

[यजुःसं. १७।२१।]

● इस विषय का विशद विवेचन 'नासदीयसूक्तविज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए ।

सत्य, तप, जन, यह चार परमधाम हैं, स्वः मध्यमधाम है, भुवः भूः अवमधाम है। दूसरे शब्दों में स्वयम्भू परमेष्ठी परमधाम है, सूर्य मध्यमधाम है, चन्द्रमा एवं पृथिवी अवमधाम है। परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी-यह चार उस के अभिन्न सखा हैं। इन्हें वह श्रेष्ठमित्र (स्वयम्भू) शिखा देरहा है। जैसा स्वरूप उस का है, जो संस्थाक्रम उस में है, ठीक वैसा ही स्वरूप, वही संस्थाक्रम उक्त चारों प्रतिमाप्रजापतियों में है। वह वर्तुल है, यह चारों भी वर्तुल हैं। वह आत्मा [हृदयभाव], पद [पिण्ड], पुनःपद [महिमा] भेद से त्रिपर्व है, वे ही तीन तीन पर्व इन चारों में हैं। यही शिक्षण है। उक्त कामप्रयत्न से परस्पर में मिलते हुए पांचों सर्वरूप बन रहे हैं। इसी आधारपर पूर्वप्रकरणों में हमने प्राणादि पांचों को 'साव्यं' किंवा 'सर्व' नाम से व्यवहृत किया है [देखिए ई. वि. भा. पृ. सं— ३२५]। विश्व में सर्वत्र इन्हीं सर्वप्राणादि का साम्राज्य है। प्रजापति की इन्हीं संस्थाओं का दिग्दर्शन करानी हुई वाजिश्रुति कहती है—

“स ऐतत् प्रजापतिः-इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृत् + + + + ता वाऽएताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त-अग्नि-रिन्द्रः-सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः + + + + तत् एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपद्यदर्शपूर्णमासौ, ताभ्यामयजत। ताभ्यामिष्ट्वाऽकामयत-अहमेवेदं सर्वं स्यामिति, स आपोऽभवत् “आपो वा इदं सर्वम्”। स परमेष्ठी प्रजापतिं पितरमब्रवीत्-कामग्रं वाऽहं यज्ञमदर्शं, तेन त्वा याजयानीती, तथेति। तमयाजत। स इष्ट्वा अकामयत - अहमेवेदं सर्वं स्यामिति, स प्राणोऽभवत् “प्राणो वा इदं सर्वम्”। स प्रजापतिरिन्द्रं पुत्रमब्रवीत् - अनेन त्वा कामपेण० + + + + स वाग्भवत्, “वाग्वा इदं सर्वम्”। स इन्द्रोऽग्नीषोमौ भ्रातरौ-अब्रवीत्, अनेन वां कामपेण० + + + + अन्नाद् एवान्यतरोऽभवत्, अन्नमन्यतरः। अन्नादएवाग्निरभवत्, अन्नं सोमः। अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च। ता वा

एताः पञ्च देवताः (ब्रह्मा (प्राणः), विष्णुः (आपः-वरुणः), इन्द्रः (वाक्), अग्निः (अन्नादः), सोमः (अन्नम्) एताः पञ्चदेवताः) एतेन कामप्रेणा यज्ञेना-
जयन्त । ता यत्कामा (सर्वव्याप्ति-आप्तिकामा) अयजन्त, स आभ्यः काम-
समाधर्षत । यत्कामो हवाऽएतेन यज्ञेन यजते, सोऽभ्यै कामः समृध्यते” (शत :-
ब्रा० ११ कां । १ अ० । ६ ब्रा० । १३ क०-२० कं० पश्यन्त) ।

उक्त श्रुति की तीन चार बातों पर पाठकों को विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उन्हीं के आधार पर पुण्डीरविद्या का रहस्य अवलम्बित है, जो कि आगे जाकर स्पष्ट होगा । पहिली बात तो यह है कि प्रजापति शब्द से प्रकृत में व्यापक मायावच्छिन्न मायी महेश्वर अभिप्रेत है । इस प्रजापति से क्रमशः परमेष्ठी, इन्द्र, अग्नि, सोम इन चार अधिदेवताओं का प्रादुर्भाव होता है । इनमें श्रुतिने परमेष्ठी को प्राजापत्य कहा है । दूसरी बात यह है कि परमेष्ठी ही सर्वप्रथम दर्शपूर्णमास यज्ञ करता है । परमेष्ठी आगे जाकर उस पितर प्रजापति से कहता है कि मैंने दर्श-पूर्णमास नाम का काम यज्ञ देखा है, मेरी इच्छा है कि मैं इस यज्ञसे आप का यजन करूँ । प्रजापति की ‘तथास्तु’ इस अनुमति से परमेष्ठी प्राजापत्य कामप्रयज्ञ से प्रजापति का यजन करता है । परमेष्ठी का स्वयम्भू प्रजापति के चारों ओर परिक्रमा लगाना ही कामप्रयज्ञ से इस प्रजापति का यजन करना है । तीसरी बात यह है कि इस परमेष्ठीकृत परिक्रमारूप यज्ञ से ही प्रजापति की नवीन प्राणसंस्था का उदय होता है । पहिले सर्वरूप आपोमय परमेष्ठी का उदय होता है, अनन्तर प्राणमय स्वयम्भू का उदय होता है । मायी स्वयम्भू पृथक् तत्त्व है, एवं परमेष्ठी के सम्बन्ध से प्राणरूप से उदित होनेवाला योगमायावच्छिन्न पुण्डीर स्वयम्भू पृथक् है । मायी स्वयम्भू प्रथमज था, इससे परमेष्ठी उत्पन्न हुआ, परमेष्ठी से पुण्डीर स्वयम्भू का जन्म हुआ । प्राजापत्य परमेष्ठी के द्वारा पुण्डीररूप में परिणत होने वाले इस परिच्छिन्न स्वयम्भू के लिए आगे जाकर— ‘स प्रजापतिरिन्द्रं पुत्रमब्रवीत्’ कहा गया है । श्रुतिके आरम्भ का प्रजापति शब्द जहाँ व्यापक मायी स्वयम्भू (महेश्वर) का वाचक है, वहाँ यह आगे का प्रजापति शब्द महेश्वर संस्था में सुक्त बलेश्वर पुण्डीर स्वयम्भूका वाचक है । मायी स्वयम्भूकी इच्छासे परमेष्ठीने दर्शपूर्णमास किया है,

है, एवं पुण्डरीर स्वयम्भू की इच्छा से इन्द्र (सूर्य) अग्नि (पृथिवी) सोम (चन्द्रमा) ने दर्शपूर्णमास किया है। पुण्डरीर स्वयम्भू की अपेक्षा से ही परमेष्ठी-सूर्य आदि प्रतिमाप्रजापति नाम से व्यवहृत हुए हैं। एक एक वल्गुशमें पांच पांच पुण्डरीर हैं। इन पांचों में स्वयम्भू परमप्रजापति है, शेष चारो प्रतिमाप्रजापति हैं। उस व्यापक मायी स्वयम्भू के उदर में ऐसी पञ्चपुण्डरीरिका सप्तसहस्र (१०००) प्राजापत्य वल्गुशमें प्रतिष्ठित रहती हैं। मायावच्छेदेन स्वयम्भू एक है, पुण्डरीरावच्छेदेन स्वयम्भू एक सप्तसहस्र हैं, यही वक्तव्य है।

पञ्चपुण्डरीराप्राजापत्यवल्गुशा

१-“प्राणो वा इदं सर्वम्”	प्राणः-स्वयम्भू ब्रह्मा	} परमप्रजापतिः?
२-“आपो वा इदं सर्वम्”	आपः परमेष्ठी विष्णुः	
३-“वाग्वा इदं सर्वम्”	वाक्-सूर्यो इन्द्रः	
४-अन्नादो वा इदं सर्वम्	अन्नादः-पृथिवी-अग्निः	
५-“अन्नं वा इदं सर्वम्”	अन्नम्-चन्द्रमा सोमः	

प्रतिमा-

प्रजापतयः४

ऐसी सप्तसहस्र वल्गुशाओं को (टहनियों को) अपने उदर में रखने वाला मायी महेश्वर ही ब्रह्माश्रय है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट होजाता है। ब्रह्माश्रयरूप इसी वेदमूर्ति महेश्वर के वेदभाग से सुब्रह्म रूप आपोमय ब्रह्म का जन्म होता है। वेद स्वयं द्विब्रह्म है, सुब्रह्म षड्ब्रह्म है। पहिले वाङ्मय सत्य ब्रह्माग्नि ही था। ‘पतिश्च पत्नी च’ इस इच्छा से आगे जाकर यही सत्य-ऋत यह दो रूप धारण करलेता है। सत्यावाक् यजुर्ब्रह्म है, अन्तावाक् सुब्रह्म है। इसी को ऋग्वेदने ‘आम्भृणीवाक्’ (आपोमयीवाक्) नाम से व्यवहृत किया है। (देखिए ऋक् संहिता.....आम्भृणीसूक्त) यह ऋतसत्यरूप ब्रह्म सुब्रह्म ही विश्वके आदि प्रवर्तक हैं, जैसा कि ‘अनेजदेकम्’ इत्यादि मन्त्रभाष्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अग्निमय ब्रह्म

पुरुष है, पति है, पिता है । आपोमय सुब्रह्म स्त्री है, पत्नी है, माता है । ब्रह्म महेश्वर है, सुब्रह्म पार्वती है । यही जगत् के माता पिता हैं—‘जगन्ः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ’ । इन्हीं दोनों के सम्बन्ध से आगे की सृष्टिधारा चलती है ।

दो वस्तुओं का सम्बन्ध चार प्रकार से हुआ करता है । चार से अतिरिक्त कोई पांचवां प्रकार नहीं है । साथ ही में यह भी ध्यान रखिए कि जैसे सम्बन्ध संख्या निर्णायक है, एवमेव दो तत्त्व भी सर्वथा निश्चित हैं । उन दो के अतिरिक्त तीसरा तत्त्व आप को विश्व में नहीं मिल सकता । वे दोनों तत्त्व वे ही ब्रह्मरूप आग्नेयपुरुष, सुब्रह्मरूप सौम्या स्त्री हैं । सचमुच अग्नीसोमात्मक स्त्रीपुरुष के अतिरिक्त अन्य तीसरी वस्तु नहीं है । तभी तो “अग्नीषोमात्मकं जगत्” “द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्कं चैवाद्रिश्च । यच्छुष्कं तदाग्नेयं, यदाद्रं तत् सौम्यम्” इत्यादि श्रौतवचन चरितार्थ होते हैं । यह दोनों ही तत्त्व विजातीय हैं । एक भोक्ता है, दूसरा भोग्य है । अग्नि भोक्ता है, अतएव यह अन्नाद नाम से, सोम भोग्य है, अतएव यह अन्न नाम से प्रसिद्ध है । दोनों का यह अन्नादानलक्षण भोक्तृ-भोग्यभाव समुदाय और अवयव भेद से दो भागों में विभक्त है । ब्रह्म (अग्नि) सुब्रह्म (सोम) रूप स्त्रीपुरुष का यदि अवयव सम्बन्ध होता है तो ऐसी अवस्था में आग्नेयब्रह्म “पुरुष” कहलाता है, सौम्यसुब्रह्म ‘स्त्री’ कहलाता है । यदि समुदाय सम्बन्ध होता है, दूसरे शब्दों में सारा सोम सर्वात्मना यदि अग्निब्रह्म के उदर में चला जाता है तो उस समय यह दोनों तत्त्व स्त्री-पुरुष न कहलाकर अन्न-अन्नाद नाम से व्यवहृत होते हैं । अन्न जब अन्नाद के (सुब्रह्म जब ब्रह्म के) उदर में चला जाता है तो उस समय आहुत [होने वाले अन्न की स्वतन्त्रता नष्ट होजाती है । परन्तु ऐसा होता तभी है जब कि सारा अन्न अन्नाद में आहुत होजाता है । जब आप अन्न खाते हैं तो वह आप के शरीराग्नि में जाकर अग्निस्वरूप में परिणत होता हुआ अपना प्रातिस्विक स्वरूप खो बैठता है । अब यदि उस भुक्त अन्न को आप उसी स्वरूपमें प्राप्त करना चाहें तो यह असंभव है । क्योंकि वह अन्न सर्वात्मना अग्नि में आहुत होचुका है । वस ऐसे समुदायाहुतिसम्बन्ध में ही उन ब्रह्म-सुब्रह्मों को अन्नाद-अन्न कहा जाता है । इस सम्बन्ध से कोई नई वस्तु [अपूर्वभाव] उत्पन्न नहीं होनी, अपि तु केवल ब्रह्म का आयतन मात्र बढ़ता है, यही वृद्धि ‘पुष्टि’ कहलाती है ।

यदि समुदाय का सम्बन्ध नहीं है, अपितु, अवयव का सम्बन्ध है तो सृष्टि नहीं सृष्टि है । इस सम्बन्ध में अवयवी निर्विकार है, केवल अवयव की चिति है । यही चितिलक्षण अवयव सम्बन्ध (संसृष्टिलक्षण सृष्टिसम्बन्ध) सृष्टि (अपूर्वभावोत्पत्ति) का कारण है । इस सृष्टिमूलक अवयव सम्बन्ध में ही ब्रह्म एवं सुब्रह्म स्त्री-पुरुष नाम से व्यवहृत होते हैं । समुदायरूप अन्न अन्नाद के सम्बन्ध में—“यदा उभौ समागच्छतः—अर्चैवाख्यायते, नाश्नम्” इत्यादि रूप से श्रुति अन्नसत्ता का उच्छेद वतलाती है, एवं अवयव सम्बन्ध में अंशमात्र का उच्छेद है । उच्छेद नहीं, अपूर्वभाव में परिणति है । अतएव इस सम्बन्ध में अन्न-अन्नाद का प्रयोग न होकर स्त्री पुरुषशब्दों का प्रयोग होता है । इन दोनों का (स्त्री-एवं पुरुष का) अवयव सम्बन्ध तीन प्रकार से संभव है । स्त्री-स्त्री का सम्बन्ध भी संभव है । इस अवयव सम्बन्ध से न क्षोभ होता, न सृष्टि होती । क्योंकि सृष्टि विजातीय वस्तुद्वय के समन्वय से ही होती है । स्त्री-स्त्री सजातीय पदार्थ हैं । साथ ही में सौम्य होने से दोनों अवयव आर्द्र हैं । अतएव यह मिथुनभाव सर्वथा निरर्थक है । एवमेव पुरुष पुरुष (के अवयवों) का सम्बन्ध संभव है । यदि दो पुरुषों का समन्वय है तो सर्वनाश है । दोनों ही अग्नि हैं । समान बल वाले दो आग्नेय ग्रह टकरा कर जैसे महाविस्फोटन [जोकि विस्फोटन ऐन्द्रभूकम्प नाम से प्रसिद्ध है] के जनक बनजाते हैं, अथवा समान गति रखने वाली दो पञ्जाव ट्रेनों के सम्बन्ध से [भिड़जाने से] जैसे महाविस्फोटन होजाता है, एवमेव आग्नेय पुरुषावयवों का संघर्ष विस्फोटन का जनक बनजाता है । इस सम्बन्ध में भी सृष्टि का अभाव है, क्यों कि दोनों ही सजातीय हैं । इस सम्बन्ध में सृष्टि तो नहीं है, परन्तु क्षोभ अवश्य है । तीसरा है स्त्री पुरुष के शुक्र-शोणितरूप अवयवों का सम्बन्ध । इस विजातीय अवयव सम्बन्ध से ही अपूर्वभाव का उदय होता है । यही सम्बन्ध ‘समन्वय’ नाम से प्रसिद्ध है । इसी से सृष्टि होती है—“तच्च समन्वयात्” । इस सम्बन्ध में अवयव की हानि होती है, अवयवी ज्यों के त्यों सुरक्षित रहते हैं । पुरुष अग्नि है, स्त्री आप (सोम) है । अग्नि के उदर में पानी चला जाय, अग्नि अग्नि मिलजाय, पानी पानी मिलजाय, आग पानी मिलजाय, इस प्रकार दोनों के सम्बन्ध के चार ही द्वार हैं । यदि अग्नि के उदर में पानी (सोम) चला गया

तो पुष्टि है, यदि अग्नि अग्नि (ब्रह्म-ब्रह्म) का सम्बन्ध होगया तो विस्फोटन है, यदि पानी पानी [सुब्रह्म-सुब्रह्म] मिल गए तो निरर्थक है, यदि आग पानी का (ब्रह्मरूप पुरुषके शुक्र, सुब्रह्म रूप स्त्री के शोणित का) समन्वय है तो सृष्टि है ।

३ अवयव सम्बन्ध (१ स ० स ०)	{ १-स्त्रीपुरुषका समुदाय सम्बन्ध(अग्नि सोम का समुदाय सम्बन्ध)→→→पुष्टिकर
	{ २-स्त्री स्त्री का सम्बन्ध.....(सोम सोम का अवयव सम्बन्ध)←←←निरर्थक
	{ ३-पुरुष पुरुष का सम्बन्ध (अग्नि अग्नि का अवयव सम्बन्ध)→→→विस्फोटक
	{ ४-स्त्री पुरुष का अवयव सम्बन्ध (अग्नि सोम का अवयव सम्बन्ध)→→→सृष्टिकर

स्त्री पुरुष के जो अवयव सृष्टि के उपादान बनते हैं, उन्हीं को विज्ञानभाषा में योषा वृषा कहा जाता है । योषा वृषा शब्द सांकेतिक हैं । प्ररनोपनिषत् में इन्हीं के लिए 'रयि-प्राण' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, एवं वहां रयि प्राण के मिथुनभाव से ही सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई गई है—(देखिए प्ररनोपनिषत् १ प्ररन) । योषा यदि सर्वात्मना वृषाके गर्भमें है तो अन्न अन्नादभाव है, अवयव सम्बन्ध में स्त्रीपुरुषभाव है । योषा-वृषा के सृष्टिप्रवर्तक अवयव विज्ञानभाषा में रेत-योनिनाम से प्रसिद्ध हैं । रेत सुब्रह्म नाम के योषा का अंश है, योनि ब्रह्म नाम के वृषा का अंश है । आग्नेय भाग योनि है, सौम्य भाग रेत है । दूसरे शब्दों में ब्रह्माग्निरूप यजुर्ब्रह्म योनि है, सुब्रह्मरूप षड्ब्रह्म (आप) भाग रेत है । स्थिति है कुछ और, दिखलाई पड़ता है कुछ अन्य । इसी आधार पर 'परोक्षमिया इव हि देवाः प्रसन्नद्विपः' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है । प्रकृति का प्रत्येक कार्य परोक्ष (पदे) में होता है । सुब्रह्म की ब्रह्म में आहुति होती है । अग्नि पुरुष है, सोम स्त्री है । यह स्त्रीरूप सुब्रह्म पुरुष में प्रतिष्ठित हो रहा है, उधर पुरुषरूप ब्रह्म स्त्री में प्रतिष्ठित है । स्त्री में पुरुष बैठा है, पुरुष में स्त्री बैठी है, जैसा कि पूर्व के अव्यक्तात्मा-धिकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है ।

विश्वस्वरूपसम्पादिका महामाया की जहां तक व्याप्ति है, वहां तक वेदवन वेदमूर्ति ईश्वर की व्याप्ति है। यदवच्छेदेन ईश्वर (महेश्वर) व्याप्त है, तदवच्छेदेनैव ब्रह्म (वेद) सुब्रह्म (सुवेद) व्याप्त हैं, एक बिन्दु भी दोनो से शून्य नहीं है। दोनों में एक प्रकार से अन्न-अन्नादभाव सम्बन्ध है। अतएव यह आहुतिसम्बन्ध सृष्टि के लिए अनुपयुक्त है। सृष्टि तभी हो सकती है, जब कि उस व्यापक ब्रह्म के किसी एक प्रदेश में व्यापक सुब्रह्म के किसी एक अवयव की आहुति हो। योनेभाग वृषारूप ब्रह्मका अवयव है, रेतोभाग योषारूप सुब्रह्म का अवयव है। इन दोनों अवयवों में मायावच्छिन्न सर्वव्यापक चलाचल (गतिस्थितिमतः) का एक अवयवविशेष विशेष है, इसमें मातरिश्वा नाम से प्रसिद्ध भार्गववायु द्वारा उस ब्रह्म पर सर्वत्र व्याप्त सुब्रह्म नामसे प्रसिद्ध षड्-ब्रह्म (आप) के एक अवयवविशेष की आहुति होती है, यही अवयव रेत है। इन अवयवों के समन्वय से सारा विश्व बना है। आगे की सारी सृष्टियों में इस अवयव सम्बन्ध की ही व्याप्ति समझनी चाहिए। ईश्वरसृष्टि हो, अथवा जीवसृष्टि, सर्वत्र योषावृषारूप ब्रह्म-सुब्रह्म के अवयव सम्बन्ध की ही प्रधानता है। उदाहरणके लिए पुरुष को लीजिए। पुरुषके सर्वाङ्ग शरीरमें रेत व्याप्त है, उधर स्त्री के सर्वाङ्ग शरीर में योनिरूप आर्तव (रक्त) व्याप्त है। परन्तु सभी रेत अथवा सभी आर्तव प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनता। यदि ऐसा हो तो स्त्री पुरुषका स्वरूप ही नष्ट होनाय। स्त्री पुरुष का आशिक रेत-आर्तव ही प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। सृष्टि किस सम्बन्ध से होती है? यह बतला दिया गया। अब प्रकरणसंगति के लिए एकवार आपका ध्यान 'अनेजदेकम्०' इस मन्त्रार्थ की ओर आकर्षित करते हैं।

वहां बतलाया गया है कि मायावच्छिन्न चलाचल सर्वव्यापक यजुर्ब्रह्मरूप ब्रह्माग्नि में मातरिश्वावायु षड्ब्रह्मरूप आपोमय (भृवङ्गिरोमय) सुब्रह्म की आहुति देता है। इस प्रकार 'अनेजदेकम्०' इत्यादि मन्त्र सामान्यरूप से व्यापक ब्रह्म में व्यापक सुब्रह्म की आहुति बतलाता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। पूर्वकथनानुसार सर्वाहुति में अन्नान्नादभावमात्र है, एवं ऐसा सम्बन्ध पुष्टिकर बनता हुआ भी सृष्टिमयोदा से बहिर्भूत है। सृष्टि अवयव समन्वय पर ही निर्भर है। अतएव "मातरिश्वा एजदनेजत् ब्रह्म में आप की आहुति देता है" इस वाक्य

का “ब्रह्म के एक योनिरूप प्रदेश में मातरिश्वावायु आपोमयब्रह्म के रेतोरूप एक प्रदेश की आहुति देता है” यही अर्थ समझना चाहिए। यही कारण है कि श्रुतिने “तस्मिन्नपो मातरिश्वा जुहोति” यह न कहकर “तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति” यह कहा है। आहुति सम्बन्ध समुदायसम्बन्धात्मक अज्ञानादभाव पर निर्भर है, आधानसम्बन्ध अवयवसम्बन्धात्मक स्त्री-पुरुषभाव पर निर्भर है। लोकव्यवहार में भी “योनि में रेत की आहुति होती है” यह नहीं कहा जाता, अपि तु “योनि में रेत का आधान होता है” यही कहा जाता है। अतएव च वायु को होता (आहुति देने वाला) नहीं कहा जाता, अपि तु रेतोधा (रेत का आधान करने वाला) कहा जाता है। प्रश्न होता है कि ‘अननदं कम्’ इत्यादि मन्त्र से प्रतिपादित सामान्य अर्थ की उपेक्षा कर—‘अवयव की अवयव में आहुति होती है’ यह विशेष अर्थ किस आधार पर प्रमाणिक माना गया? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए ‘स पर्यगाच्छुक्कम्’ इत्यादि मन्त्र हमारे सामने आता है। मंत्र में पढ़ा हुआ ‘शुक’ शब्द ही उक्त प्रश्न का समाधान करता है। कैसे? इस जिज्ञासा को शान्त करने से पहिले शुकपदार्थ का स्वरूप परिचय करा देना आवश्यक होगा।

पदार्थविरलेषणविज्ञान के विलुप्तप्राय होजाने के कारण विद्वानों की दृष्टि में आजदिन शुक-रेत-वीर्य तीनों अभिन्न पदार्थ हैं, तीनों पर्याय हैं। परन्तु यथार्थ में शुक भिन्न वस्तु है, रेत अन्य वस्तु का वाचक है, वीर्य शब्द किसी अन्य ही पदार्थ का बोधक है। वीर्य और शुक रेत में प्रतिष्ठित हैं, इसीलिए ‘तात्स्थ्यात्ताच्छुक्कम्’ न्याय से रेत को शुक-वीर्य शब्दों से व्यवहृत करदिया जाता है। ऐसा होने पर भी तीनों को एक ही वस्तु मान बैठना सर्वथा भ्रम है। संस्कृत साहित्य पर आज एक बड़ा भारी कलङ्क लगाया जाता है। सर्वसाधारण का यह विश्वास है कि संस्कृत भाषा में एक एक शब्द के अनेक पर्याय होते हैं। फलतः जो जैसा चाहता है, स्वार्थानुसार वैसा ही अर्थ करलेता है। परन्तु आज हम अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाते हैं कि संस्कृत साहित्य में एक अर्थ के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त हुआ है। एकदेश की समानता को लेकर पर्याय सम्बन्ध प्रचलित होगया है। पदार्थदृष्टिसे सब शब्द नियत अर्थों के ही प्रतिपादक हैं।

विष्णु-नारायण-वामन सब भिन्नार्थ के वाचक हैं । महेश्वर-ईश्वर-परमेश्वर-आत्मा-ब्रह्म सब शब्द पृथगर्थों के बोधक हैं । मधवा-पाकशासन-दृत्रहा-दृषा-शुनाशीर-पुरंदर सब अपने अपने अर्थों में नियत हैं । बुद्धि-मनीषा-धिषणा-प्रज्ञा-मति सब भिन्नार्थ के परिचायक हैं । जिसके लिए जो शब्द नियत है, वह उसी का बोधक हैं । पट और वस्त्र कभी पर्याय नहीं है । आदित्य और मय्य कभी पर्याय नहीं है । वायु और वान, हिरण्यगर्भ और पद्मभूः, कभी पर्याय नहीं हैं । इसीप्रकार शुक्र-वीर्य-रेत कभी परस्पर में एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं ।

तीनों में से पहिले वीर्यशब्द को ही लीजिए । रेत में रहने वाला, आत्मबल को बढ़ाने वाला तत्त्वविशेष ही 'वीर्य' कहलाता है । बल-वीर्य-पराक्रम तीनों में भी भेद है । शरीरशक्ति बल है, प्राणशक्ति वीर्य है, मन की शक्ति पराक्रम है । हाथी में बल की प्रधानता है । हाथी अपने भार से एक सिंह को कुचल सकता है । सिंह में वीर्य की प्रधानता है । शरीरशक्ति से प्राणशक्ति बलवती है, अनएव प्राणप्रधान (वीर्यप्रधान) सिंह हाथी को परास्त कर देता है । मन की ताकत पराक्रम है । दूसरे पर आक्रमण कर उसे अपने वश में करलेना ही 'पराक्रम' है । यह मनो-बल है । पुरुष में इस की प्रधानता है । यह बल वीर्य से भी प्रबल है, अतएव पराक्रमी मनुष्य वीर्यशाली सिंह को भी एक पञ्जर (पीजरे) में बद्ध कर देता है । इस प्रकार बल-वीर्य-पराक्रम तीनों शब्द नियत अर्थों के वाचक हैं । आत्मा मन-प्राण-वाङ्मय माना जाता है । मन ज्ञानप्रधान, प्राण कर्मप्रधान, एवं वाक् अर्थप्रधान है । आत्मा की इन तीनों कलाओं के उपकारक क्रमशः ब्रह्म-क्षत्र-विट् नाम के तीन वीर्य हैं । ब्रह्मवीर्य ज्ञान का अनुयायी है, क्षत्रवीर्य कर्म का प्रेरक है, एवं विट्वीर्य अर्थशक्ति का संचालक है । ब्रह्मवीर्य का अग्नि से सम्बन्ध है, क्षत्रवीर्य का इन्द्र से, विट्वीर्य का विश्वेदेवों से सम्बन्ध है । जिस के रेतमें ब्रह्मवीर्य की प्रधानता है, उसकी सन्तान ब्राह्मण कहलाती है । क्षत्रवीर्य प्रधान रेत क्षत्रियवर्ण का, विट्वीर्य प्रधान रेत वैश्यवर्ण का प्रवर्तक है । जिस के रेत में अवीर्यरूप, किन्तु सामान्यतः वीर्यरूप पूषा नाम से प्रसिद्ध पार्थिव तमोमय प्राणदेवता की प्रधानता रहती है, उस की सन्तान सच्छूद्र कहलाती है, इसी के लिए—'शूद्राश्चावरणवर्णाश्च' यह कहा जाता है । इन चारों वीर्यों के विरोधी

चार ही मलभाग हैं । इन देवविरोधी मलभागों की क्रमशः जिनके रेत में प्रधानता होती है, उन से क्रमशः अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दायु, म्लेच्छ इन चार असच्छूद्रों की उत्पत्ति होती है । यह चारों ही अवर वर्ण हैं । वही असच्छूद्र निरवसित कहलाते हैं ।

देवभाग → → ——— → मलभाग

(दैवीसंपत्)

(आसुरीसंपत्)



१ — ब्राह्मणवर्णः (अग्निः) → ——— → अन्त्यजः

२ — क्षत्रियवर्णः (इन्द्रः) → ——— → अन्त्यावसायी

३ — वैश्यवर्णः (विश्वेदेवाः) → ——— → दायुः

४ — अवरवर्णः (पूषा) → ——— → म्लेच्छः

वर्णसृष्टिः → ——— → अवर्णसृष्टि



स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः

१-मनः (ज्ञानशक्तिः) ज्ञानोद्यौपयिकं-ब्रह्मवीर्यम् → तत्प्रधानाः-ब्राह्मणाः

२-प्राणः (क्रियाशक्तिः) कर्मोद्यौपयिकं-क्षत्रवीर्यम् → तत्प्रधानाः-क्षत्रियाः

३-वाक् (अर्थशक्तिः) अर्थोद्यौपयिकं-विद्ववीर्यम् → तत्प्रधानाः-वैश्याः



उक्त निदर्शन से पाठकों को यह मान लेना पड़ेगा कि वीर्यतत्त्व शुक्र और रेत से सर्वथा पृथक् तत्त्व है । रेत में प्रतिष्ठित रहने वाला शक्तितत्त्व वीर्य है । रेत के क्षय से वीर्य का भी क्षय होजाता है । अतएव 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ शुक्ररक्षापरक मान लिया जाता है ।

अब चलिए शुक्र-रेत की ओर । पुरुष के रेत का नाम शुक्र नहीं है, अपि तु अग्नि का नाम शुक्र है । शुक्राग्नि स्त्री में रहता है, रेत रूप सोम पुरुष में रहता है । शुक्र का प्रधान आयतन स्त्री का रज है, रेत का प्रधान आयतन पुरुष का सोमभाग है । पुरुष के रेत में जैसे उक्त वीर्य रहते हैं, एवमेव स्त्री के रज में भी वीर्य प्रतिष्ठित रहते हैं । दोनों के वीर्य शुद्ध रहते हैं, तभी वर्णानुरूपा सृष्टि (सन्तान) होती है । वर्णरक्षा के लिए वीर्य रक्षा आवश्यक है । वर्णवीर्य के यथार्थ स्वरूप को यत्किञ्चित् भी न जानता हुआ, परन्तु जानने का अभिमान करता हुआ एक वैश्यवर्ण का महान् नेता नेतृत्व के अभिमान में पड़कर अपने पुत्र का यदि एक ब्राह्मण वर्ण के नेता की कन्या के साथ विवाह करने में कोई हानि नहीं समझना तो यह उसका, एवं उसके देश का दुर्भाग्य है । हां यदि वह अपनी लड़की किसी ब्राह्मण पुत्र को देदे तो शास्त्र-दृष्ट्या उसका यह कार्य अनुचित न होगा, कारण ब्राह्मण इतरवर्ण की कन्या के साथ पाणि-ग्रहण कर सकता है । वीर्यरक्षा के लिए शास्त्रसिद्ध वैवाहिक मर्यादा आवश्यक है । इस मर्यादा का पालन न हुआ तो क्या होगा ? इसका उत्तर है भारतवर्ष की अधोगति । अस्तु प्रकृत में यही कहना है कि ब्रह्म की अवयवभूता योनि (अग्नि) शुक्र है, इस की प्रधान प्रतिष्ठा स्त्री है । सुब्रह्म का अवयव भूत रेत (सोम) रेत है, इसकी प्रधान प्रतिष्ठा पुरुष है । योनि में रेत का आधान होता है, इसका 'शुक्र में रेत का आधान होत है' यही तात्पर्य है । इसप्रकार वीर्यवत् रेत एवं शुक्र का पार्थक्य भी भलीभांति सिद्ध होजाता है ।

रेत शब्द पुरुष के सौम्यभाग के लिए ही नियत हो यह बात नहीं है । वस्तुतः रेतत्व का अवच्छेदक उपादानद्रव्यत्व ही समझना चाहिए । प्रजा का उपादानद्रव्य न केवल पुरुष का सौम्यभाग है, न केवल स्त्री का आग्नेय शोणित भाग है, अपि तु दोनों का समन्वित रूप ही उपादान है । ऐसी अवस्था में हम दोनों को 'रेत' कह सकते हैं । स्त्री का आग्नेय भाग भी उपादान होने से रेत है, पुरुष का सौम्य भाग भी उपादान होने से रेत है । परन्तु एक आग्नेयरेत है, दूसरा सौम्यरेत है । इसी भेद को समझने के लिए वैज्ञानिकोंने आग्नेयरेत को 'शुक्र' शब्द से व्यवहृत किया है, एवं सौम्यरेत को पारिशेष्यात् रेत शब्द से प्रसिद्ध किया है ।

घनरेत शुक्र है, तरल रेत रेत है । घनता [परिपाक] अग्नि का धर्म है, तरलता पानी का धर्म है । ब्रह्म सत्याग्नि है, सुब्रह्म ऋत आप है । वह घन है, यह तरल है । यह शुक्र-रेत दोनों ही क्रमशः वृषा-योषाप्राण से अनुगृहीत रहते हैं । हमने शुक्र-रेत रूप योनि-रेत के समन्वय से प्रजोत्पत्ति बतलाई है । परन्तु वस्तुतः सृष्टि के मूलाधार हैं-योषा-वृषाप्राण । शुक्ररूप स्त्री के आग्नेय भाग में रहने वाला चित्प्राण वृषा कहलाता है, पुरुष के सौम्यरेत में रहने वाला चित्प्राण योषा नामसे प्रसिद्ध है । इसी प्राण को भिषक् परिभाषा में 'भ्रूण' कहा जाता है । यदि शुक्रशोणित के भ्रूण जीवित हैं, तभी दोनों के समन्वय से प्रजोत्पत्ति होसकती है । यदि भ्रूण निर्बल हैं, मूर्च्छित हैं, नष्ट हैं तो ऐसी दशा में निरन्तर होने वाला भी शुक्रशोणित का मिथुनभाव प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनसकता । इन भ्रूणों की निर्बलता के, एवं विनाश के मानृदोष, पितृदोष, कर्मदोष, नाडीदोष, ग्रहदोष, आदि आठ दोष हैं । इन आठों की चिकित्सा धर्मशास्त्र में प्रतिपादित है । सुप्रसिद्ध श्राद्धकर्म पितृदोष का निवर्त्तक माना जाता है । अतएव नित्यकोटि में प्रविष्ट रहते हुए भी श्राद्ध को धर्मशास्त्र में काम्यकर्म (पुत्रकामनासाधक) माना है । निष्कर्ष यही हुआ कि सारवज्रेन शुक्र है, प्रवाहित रस रेत है । दोनों में प्राण प्रतिष्ठित हैं, प्राणानुगृहीत यही दोनों जीवन के कारण हैं । इसी शुक्र-रेत-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर अभियुक्त कहते हैं—

‘शुक्र तु सारवज्रेनो, रसो रेतः प्रवाहि यत ।

प्राणेनानुगृहीते ते (शुक्ररेतसी) प्राणिनां जीवनं विदुः ॥’

शुक्र आग्नेय पदार्थ है, इसके लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं है । ‘सप्तार्चिर्दमुना शुक्रः’ से कोशकार स्पष्ट ही शुक्र को अग्नि बतला रहे हैं । ‘अग्निः शोचति, रेतो रसति’ से ही दोनों क्रमशः शुक्र-रेत नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । शुक्र ही शोक है, शोक संताप है, संताप ताप है, ताप अग्नि का धर्म है । प्रत्यय से शुक् (अग्नि) ही ‘शुक्र’ बना है । शुक्र साक्षात् अग्नि

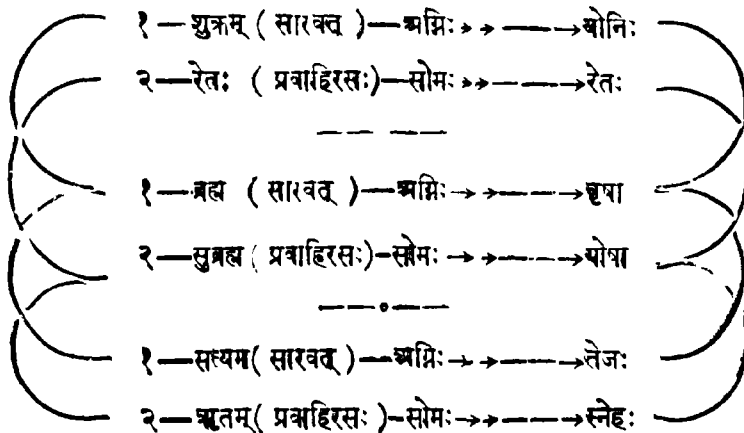
१ इस विषय का विशद विवेचन “आर्यविज्ञान” में देखना चाहिए ।

है, अतएव ग्रहयज्ञ में आहुत होने वाले ४० ग्रहपात्रों में से अग्निमय सौरग्रह पात्र को 'शुक्र' कहा गया है। इसी आधार पर निम्नलिखित वचन प्रसिद्ध हैं—

१—“अप्ता वै शुक्रः” (शत० ५।४।२।८) — “रेतो वा अक्षम्” (गो७ ब्रा० पू० ३।२३)

२—“अग्निः शुचिः (शुक्रः)” (तै० ब्रा० १।१।६।२) — “रेतो वै सोमः” (शत. ३।८।५।२)

इसी शुक्र को हम आग्नेय होने से 'तेज' कह सकते हैं—‘तेजो वा अग्निः’ (शत. २।५।४।८), एवं रेत को सौम्य होने से 'स्नेह' कहा जासकता है। एक बात और—शुक्र में रेत, रेत में शुक्र अनुस्यूत है। शुक्र में अग्नि प्रधान है, तरल सोम गौण है। रेत में सोम प्रधान है, धन अग्नि गौण है। इसीलिए कहीं कहीं आप रेत को शुक्र कह दिया जाता है, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में शुक्र शब्द की व्याप्ति बतलाते हुए कहा गया है। एवमेव कहीं कहीं अग्निमय शुक्र को रेत बतला दिया जाता है। इन्हीं दोनों तत्वों के समन्वय से सृष्टि होती है, यह प्रत्येक दशा में निर्विवाद है।



दोनों के समन्वय से कैसे संसार बना है ! इस प्रश्नसमाधि के लिए निम्नलिखित प्रकरण पर दृष्टि डालिए। सृष्टि का मूलप्रवर्तकत्वं अमृत-ब्रह्म-शुक्र इन तीन भागों में विभक्त है।

इन में अमृत आत्मयोनि है, ब्रह्म प्रकृतियोनि है, एवं शुक्र विकृतियोनि है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि आत्मसृष्टि अमृत से होती है, प्रकृतिसृष्टि ब्रह्म से होती है, एवं विकृतिरूपा विश्वसृष्टि शुक्र से होती है। सृष्टि के यही तीन विवर्त हैं। इन में अमृततरङ्ग अणु-अक्षर-आत्मक्षर भेद से त्रिकल है, ब्रह्मतरङ्ग प्राणादि भेद से पञ्चकल है, शुक्रतरङ्ग यत्-ज् भेद से द्विकल है। त्रिवृत् अमृत (३), पञ्चकल ब्रह्म (५), द्विकलशुक्र (२) की समष्टि ही दशिनीविराट् (दशकलविराट्) है, यही 'सर्वम्' है। कहने को अमृत-ब्रह्म-शुक्र तीन पदार्थ हैं। वस्तुतः अमृत ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही शुक्र है। सृष्टि से बहिर्भूत रहता हुआ वही तत्त्व अमृत कहलाता है, सृष्ट्युन्मुख बनकर वही 'ब्रह्म' कहलाने लगता है, एवं सृष्टि का उत्पादन बनकर वही शुक्र कहलाने लगता है। मूलावस्थापन वही तत्त्व अमृत है, तूलावस्थापन वही तत्त्व शुक्र है, मूल को तूलरूप में परिणत करने के समय वही ब्रह्म नाम से व्यवहृत होने लगता है। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि अमृत एवं ब्रह्म यह दो आत्मविवर्त सृष्टि के मूल हैं, एवं शुक्र-विवर्त सृष्टि का 'बीज' है। जब तक अमृत एवं ब्रह्म सृष्टि के बीज नहीं बन जाते, तबतक तो दोनों अमृत ब्रह्म इन्हीं नामों से व्यवहृत होते हैं, परन्तु बीजावस्था में आकर इन्हीं दोनों की समष्टि वेदरूप में परिणत होती हुई (वेदावच्छिन्न बनती हुई) 'शुक्र' नाम धारण करलेती है।

विषयोपक्रम में हमने कहा था कि सृष्टिसाक्षी अव्यययुक्त, अतएव बीजावस्थापन अक्षरानुगृहीत आत्मक्षर को ही शुक्र कहा जाता है—(देखिए ई. वि. भा. पृ. सं. १०)। वही यजुर्ब्रह्म को शुक्र बतलाते हुए विरोध का उत्थापन करते हुए इस के समाधान की प्रतिज्ञा की गई थी। अवसरप्राप्त उक्त विरोध का भी परिहार करलेना चाहिए। बीजावस्थापन अक्षर क्षर शुक्र है, एवं बीजावस्थापन अक्षर क्षर ही यजुर्ब्रह्म है। सारी सृष्टि मूर्तिप्राप्त है। मूर्ति ही विश्व का स्वरूप है। सारा विश्व मूर्त है। मूर्ति पुर है। इस पुररूप विश्व के मूल वेद-लोक-प्रजा आदि नामों से प्रसिद्ध पुरञ्जन ही हैं। यद्यपि इन पाँचों पुरञ्जनों को ही हम विश्व के बीजभूत होने से 'शुक्र' कह सकते हैं, तथापि पाँचों में प्रथमज एवं प्रतिष्ठारूप पहिला वेद नाम का ही

पुरञ्जन है, अतः इसी को शुक्र कह दिया गया है। यह वेदनत्व आत्मक्षर की सर्वप्रधाना एवं सर्व प्रथम प्राणकला का विकार है, दूसरे शब्दों में वेदनत्व की उपादानभूमि आत्मक्षर है, एवं 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेयेव स यम्' के अनुसार कार्यरूप वेद कारणरूप आत्मक्षर से अभिन्न है। ऐसी स्थिति में शुक्ररूप वेद को आत्मक्षर कहा जासकता है। आत्मक्षर प्रकृति का मर्त्यभाग है, अक्षर अमृत भाग है। अक्षर और आत्मक्षर दोनों एक ही अमृतमृत्युमूर्ति प्रजापति के दो अवयव हैं, दोनों मिलकर एक वस्तु है। ऐसी दशा में यदि विकारक्षररूप वेदाभिन्न आत्मक्षर शुक्र है तो आत्मक्षराभिन्न अक्षर भी अवश्य ही शुक्र है। साथ ही में बिना अव्ययात्मन्त्र के अक्षर क्षर भी बीजावस्था में परिणत नहीं होसकते, अतः अक्षर-क्षरवत् स्वयं अव्यय भी शुक्रकोटि में निविष्ट होजाता है। तभी तो—“वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक्र है” यह कहने का साहस किया जाता है। अव्यय ही अक्षर बनता है, वही क्षर बनता है, वही वेदरूप में परिणत होता है। अक्षरतत्त्व अव्यय के विद्याभाग का विकास है, क्षरतत्त्व उसी के कर्मभाग का विकास है। वही अपने विद्या-कर्म भाग से वेदरूप से प्रकट होता है। वेद का यत्-(गतिरत्व) भाव उसके कर्मभाग का विकास है, जू—(स्थितित्व) भाव उसी के विद्याभाग का विकास है। कहीं विद्यारूप (अक्षररूप) से, कहीं कर्मरूप (क्षररूप) से, कहीं उभयक्षर (वेदरूप) से वही सर्वत्र व्याप्त होरहा है। उससे शून्य कुछ नहीं है, सबकुछ वही है, सब कुछ उसी में है।

उपर्युक्त कथन से यह कहने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती कि यजुर्वेदावच्छिन्न षोडशी पुरुष ही शुक्र है। विश्वसृष्ट्-पञ्चजन-पुरञ्जन आदि बहिरङ्गअव्यक्तप्रकृति षोडशी के बिना नहीं रह सकती। अव्ययावच्छिन्न अक्षर क्षर ही तो यजुरूप में परिणत होकर बहिरङ्गप्रकृतिरूप में परिणत होते हैं। इस परमार्थदृष्टि से विचार करने पर—“सृष्टिसाक्षी अव्यययुक्त, अतएव सृष्ट्यन्मुख बीजावस्थापन्न अक्षरक्षर शुक्र है” “एजत् अनेजत् तत्त्व शुक्र है” इन दोनों वाक्यों में कोई विरोधी नहीं रहता। यही अक्षरावच्छिन्न यजुरूप शुक्र मातरिशवा द्वारा होने वाले आप के आधान से विश्वरूप में परिणत होता है। विश्वावस्थापन वही शक्तत्व “अश्वत्थ”

नाम धारण कर लेता है। इस अक्षत्य के अवयव के विद्या-कर्मरूप ब्रह्म-कर्म के अनुग्रह से ब्रह्माक्षत्य कर्माक्षत्य यह दो भेद होजाते हैं। इनमें ब्रह्माक्षत्य का निरूपण कठ एवं मुण्डक-भाष्य में द्रष्टव्य है, एवं कर्माक्षत्य का निरूपण श्राद्धविज्ञान के कर्मगति प्रकरण में हुआ है। शुक की आहुति से ही (पञ्चपुण्डरी प्राजापत्यबल्श) का जन्म होता है। शुक की सहस्राहुतियों से सहस्रबल्श-युक्त अक्षत्य का स्वरूप संपन्न होता है। अक्षत्य संसार है, इस संसारमहीरूढ़ का बीज शुक-तत्व है। शुक का अतिक्रमण करना ही मायोपाधिस्त्या परामुक्ति है। निष्कामभाव से जो इस अक्षत्य की उपासना करते हैं, वे ही धीर युञ्जानयोगी चिरकाल के उपासनायोग (बुद्धियोग) से युक्तयोगी बनते हुए शुकरूप विश्वसीमा (मायासीमा) से बाहर निकलने में समर्थ होते हैं—“मामेव ते प्रपद्यन्ते मायाभेतां तरन्ति ये”। इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।

उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुकमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥

(मुण्डकोपनिषत् ३।२।१।)

अक्षत्यरूप महेश्वर को आप अव्ययाक्षर दृष्टि से अमृत कह सकते हैं, अक्षरात्मक्षरदृष्ट्या ब्रह्म कह सकते हैं, अक्षरात्मक्षरावच्छिन्नप्रजुदृष्टि से शुक कह सकते हैं। वही अक्षत्य अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक है। कुछ भी कहिए—परन्तु उसे महामाया की अन्तिम परिधि तक व्याप्त समझिए। आप को विश्वास करना चाहिए कि शुक-ब्रह्म-अमृत इन तीन नामों से पुकारा जानेवाला वह तत्व (मायी महेश्वर) अपने उदर में अनन्त (सहस्र) प्राजापत्य बल्शारं प्रतिष्ठित रखता हुआ एजदनेजत् रूप से खड़ा हुआ है। इसी ‘तत्’ विज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

“ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।

तदेव शुकं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तदु नश्येति कश्चन ।

एतद्वै तत्” [कठ० ६।१।] ।

उक्त वचन बीजरूप उसी यजुर्ब्रह्म का निरूपण करता है। वेद को हमने सृष्टि का मूलाधार बतलाया है, एवं साथ ही मैं इसे क्षाराक्षरात्मक भी कहा है। यद्यपि विश्व में अविद्यारूप (आवरणरूप) कर्मभाग की ही प्रधानता है, परन्तु विश्वनिर्माण बिना विद्या की सहायता के सर्वथा अनुपपन्न है। बिना ज्ञानरूप विद्याके कर्म संभव ही नहीं है। आनन्द-विज्ञान-मन विद्याभाग है, मन-प्राण-वाक् कर्मभाग है। आनन्द विज्ञान के बिना साधारण मनुष्य भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। आनन्द ही कर्मप्रवृत्ति का मूलस्तम्भ है। यह विद्यारूप ज्ञान अक्षर है, अविद्यारूप कर्म क्षर है। दूसरे शब्दों में अव्यय के विद्यभाग का अनुग्रह अक्षर पर है, एवं कर्मभाग का अनुग्रह क्षर पर है। अतएव उपनिषद्ोंने अक्षर को विद्या शब्द से, क्षर को अविद्या शब्द से व्यवहृत किया है। दोनों का ईश अव्यय अपने दोनों भागों से दोनों पर शासन करता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥

(श्वेता० उ० ५।१।१) ।

विद्यारूप अक्षर का विकास 'जू' है, कर्मरूप क्षर का विकास 'यत्' है। जूरूप विद्यातत्त्व अनेजत् है, यत् रूप कर्मतत्त्व एजत् है। एजत् अनेजत् कीं समाष्टिरूपं यजुर्ब्रह्म ही शुक्र है। सृष्टिकर्ता इस वेदमूर्ति शुक्र को सृष्टि के प्रधान अनुबन्ध का सहारा लेना पड़ना है। वह अनुबन्ध है 'चितिसम्बन्ध'। योग, विभूति, सहचर आदि १३ प्रकार के सम्बन्धों में से ग्रन्थिबन्धन नाम से प्रसिद्ध चितिसम्बन्ध ही सृष्टि का प्रधान अनुबन्ध है। एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का चिनाव (लोकप्रसिद्ध 'चेजा') ही चिति है। ईंट पर ईंट पर रखने से जैसे एक दुर्ग का स्वरूप बनता है, एवमेव उसी षोडशीरूप आत्मधरातल पर इष्टक (ईंट) रूप भौतिक विकारक्षरों की चिति से विश्वदुर्ग का निर्माण हुआ है। विश्वमूला यह शुक्रचिति-बीज, देव, भूत, मेद से तीन भागों में विभक्त है। षोडशी आत्मा पर पहिली बीजचिति है,

बीजचिति पर देवचिति है, देवचिति पर भूतचिति है । तीनों चितियों की समष्टि विश्व है, विश्व-चिति का आत्मन्वन षोडशी विश्वात्मा है, आत्मा और विश्व की समष्टि आत्मन्वी ईश्वर है, इन्हीं दो भावों की समष्टि प्रतिष्ठाप्रजापति है । दोनों की समष्टि ही जीवप्रजापति है, एवं दोनों की समष्टि ही शिपिविष्टप्रजापति है, सर्वत्र प्रजापति का ही साम्राज्य है—“प्रजापतिस्त्वेवे-दं सर्वं यदिदं किंच” । “त्रीणि ज्योतीषि सचते स षोडशी” के अनुसार अव्यय (ज्ञान-ज्योति) अक्षर (कर्मज्योति) क्षर (भूतज्योति) इन तीनों ज्योतियों से वह षोडशी प्रजापति चितित्रयरूप विश्वप्रजा के साथ संयुक्त हो रहा है । महाविश्व ईश्वर का शरीर है, हमारा (जीवा-त्मा) पाञ्चभौतिक शरीर हमारा विश्व है । विश्व सृष्टरूप है, आत्मा प्रविष्टरूप है । दोनों में सृष्टब्रह्म चित्सब्रह्म (मर्त्यब्रह्म) है, प्रविष्ट ब्रह्म चित्निर्ऋतब्रह्म (अमृतब्रह्म) है । जिसप्रकार प्रविष्ट-ब्रह्म अव्यय-अक्षर-क्षरभेद से त्रिकल है, एवमेव चित्सृष्टब्रह्म भी बीज-देव-भूत भेद से त्रिकल ही है । षट्कल की समष्टि ही ईश्वर है, षट्कल की समष्टि ही जीव है—“षाट्कौशिक-मिदं सर्वम्” । बीजचिति पर अव्यय का अनुग्रह है, देवचिति पर अक्षर का अनुग्रह है, एवं भूतचिति पर क्षर का अनुग्रह है । बीजचिति ज्ञानज्योति है, देवचिति कर्मज्योति है, भूतचिति भूतज्योति है । इन विश्वरूप तीन चित्य ज्योतियों से वह विश्वात्मारूप षोडशी अपनी अव्यय-अक्षर-क्षररूप पूर्वोक्त तीनों ज्योतियों से युक्त हो रहा है । वह षोडशी विश्वरूप तीनों ज्योतियों का आधार है, अतएव इसे—‘ज्योतिषां ज्योतिः’ (विश्व की बीज-देव-भूतरूप तीनों ज्योतियों की ज्योति) कहा जाता है ।

ज्योतिषां ज्योतिः षोडशी विश्वात्मा → → → विश्वम्

१-अव्ययः (ज्ञानज्योतिः) ++ → → १-बीजचितिः (ज्ञानज्योतिः)

२-अक्षरः (कर्मज्योतिः) ++ → → २-देवचितिः (कर्मज्योतिः)

३-क्षरः (भूतज्योतिः) ++ → → ३-भूतचितिः (भूतज्योतिः)

} षाट्कौशिकमिदं
सर्वम्

(आत्मा) → → → → → (शरीरम्)

ईश्वर की अपेक्षा जीवसंस्था हमारे समीप है, अतः प्रथम उसी की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है । अध्यात्मसंस्था में आत्मा और शरीर यह दो विभाग हैं । इनमें आत्मा कौन है ? इसका उत्तर है 'षोडशीपुरुष' । शरीर कौन है ? इसका उत्तर है—'बीज देव-भूत समष्टि' । भूतग्राम, देवग्राम, बीजग्राम की समष्टि ही शरीर है । बीजग्राम को आत्म-ग्राम कहा जाता है । यह आत्मग्राम उस प्रधान आत्मा से भिन्न है । वह एक है, यह अनेक हैं । यही आत्मग्राम कारणशरीर है, देवग्राम सूक्ष्मशरीर है, भूतग्राम स्थूलशरीर है । कारण-शरीर पर सूक्ष्मशरीर, सूक्ष्मशरीर पर स्थूल शरीर प्रतिष्ठित है । तीनों शरीर षोडशी आत्मा पर प्रतिष्ठित हैं । अनेक वस्तुओं के संघ को 'ग्राम' कहा जाता है । आस्तिकदर्शनानुयायी जिसे 'आत्मपरिग्रह' कहते हैं, गीताशास्त्र जिसे 'कूट' कहता है, श्रमणक जिसे 'पुद्गल' कहते हैं, बौद्ध जिसे 'स्तूप' कहते हैं, ज्यौतिषी जिसे 'राशि' कहते हैं, लोकव्यवहार में जो 'ढेर' 'थोक'—आदि नामों से प्रसिद्ध है, वही विज्ञानभाषा में 'ग्राम' एवं 'पुर' नाम से व्यवहृत किया जाता है । सिंहादि वन्यपशु समुदाय बनाकर नहीं रहते, अपि तु एकाकी विचरण करते हैं, अत एव इन्हें 'अरण्यपशु' कहा जाता है । अरण्यशब्द जंगलका वाचक नहीं है, अपि तु एकाकी भाव का समर्थक है । इसीलिए एकाकीभाव से सम्बन्ध रखने वाले उपासना प्रतिपादक वेद-भाग को 'आरण्यक' कहा जाता है । उपासना 'अरतिर्जनसंसदि' पर ही निर्भर है । जंगल में शहर की तरह समुदाय नहीं रहता, अतएव जंगल को भी अरण्य कह दिया जाता है । वस्तुतः अरण्य एकत्वभाव का सूचक है । मृग आदि वन्य पशु समुदाय बनाकर रहते हैं, इसी समुदायरूप ग्रामभाव के कारण मृगादि को 'ग्राम्यपशु' कहा जाता है । बस्ती में समुदाय की प्रधानता रहती है, अत एव बस्ती को भी ग्राम कह दिया जाता है । वस्तुतः ग्राम 'संघ' का वाचक है । "पशून्तांश्चक्रे वायव्यानाराण्या ग्राम्याश्च ये" (यजुः सं. ३५. अ. १६ मं. १) में आरण्य-ग्राम्यपशु का यदि कोई—"जंगल में रहने वाले पशु, एवं ग्राम में रहने वाले पशु" यह अर्थ करे तो विज्ञानदृष्टि से उक्त अर्थ सर्वथा अनर्थकोटि में गिना जायगा । "सिंहादि आरण्यपशु हैं, मृगादि ग्राम्यपशु हैं" यही अर्थ समीचीन होगा । बतलाना यही है कि

आध्यात्मिकसंघ के लिए 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं आधिदैविकसंघ के लिए 'पुर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। महाविश्वरूप ईश्वर का शरीर 'पुर' कहलाता है। पुर के सम्बन्ध से ही वह 'पुरुष' कहलाता है। एवं लुप्तशरीररूप जीव का विश्व 'ग्राम' कहलाता है। इसी ग्राम के सम्बन्ध से इसे 'निकाय' किया 'काय' कहा जाता है। अनेक वस्तुओं की समष्टि 'ग्राम' है, एवं अनेक ग्रामों की समष्टि 'निकाय' है। भूत पांच हैं, अतएव इन भूतों की समष्टि को हम 'ग्राम' कह सकते हैं। इसी प्रकार पांच देवताओं की समष्टिरूप देवग्राम भी ग्राम है आत्मग्राम भी ग्राम है। शरीर में तीन ग्राम हैं, अतएव इसे 'निकाय' कहा जा सकता है। यही 'निकायकुन्द' है—(देखिए शन. ब्रा. ८।५।५।१।)। निकाय ही काय है, काय ही शरीर है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश यह सुप्रसिद्ध पांचो भूत ही भूतग्राम हैं, यही स्थूलशरीर है। इसी का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

“आत्मकमिति कस्मात् पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति। अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी ? का आपः ? को वायुः ? किमाकाशम् ? इति। अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत् कठिनं मा पृथिवी, यद् द्रव ता आपः यदुष्णं तत्तेजः, यत् संचरति स वायुः, यत् सुषिरं तदाकाशम्—इत्युच्यते”

(गर्भापनिषत्)

अग्नि-मांसादि घन धातु पृथिवी है, कफ-लाक्षा-स्वेद-मूत्र-रुधिर-रस आदि तरल धातु पानी है, शरीर को छूने से जिस ऊष्मा (गरमी) का अनुभव होता है वह तेज है, आस प्रश्वास वायु है, शरीर में जिनका रक्त (पोल) भाग है, वह सब आकाश है, यही तात्पर्य है। इसी आकाशमें एक दूसरे भूतों को पृथक् बना रक्खा है। यदि व्यवधान (अन्तर) न होता तो सारे धातु मिलकर एकरूप होजाते। यह दृढ़ी है, यह मांस है, यह त्वचा है, यह भिन्न भिन्न नाम-रूप-व्यवहार नष्ट होजाने। इसी अभिप्राय से—‘आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता’ यह कहा जाता है। वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-घन-इन पांचों इन्द्रियों की समष्टि ही देवग्राम

है। दार्शनिक ११ इन्द्रियों का इन्ही वैदिक पांच इन्द्रियों में अन्तर्भाव है। वाक् अग्निदेवता है, प्राण वायुदेवता है, चक्षु आदिन्य है, श्रोत्र दिक्सोम है, मन भास्वरसोम है—देखिए ९० उ० १ सं०)। इन देवताओं के सम्बन्ध से ही इन्द्रियग्राम देवग्राम कहलाता है, इसी को सूक्ष्मशरीर कहते हैं। तीसरा है बीजग्राम। यह सब में प्रधान है, यही हमारा सुपरिचित 'शुक्र' है, इस शुक्रग्राम किंवा बीजग्राम में विद्या-प्रज्ञा-कर्म यह त्रैतन तत्त्व प्रतिष्ठित रहते हैं। ज्ञानजनित भावना संस्कार विद्या है, कर्मजनित वासना संस्कार कर्म है, चिदाधार तत्त्व प्रज्ञा है। यह भावना वासना संस्कार ही जन्म का हेतु है। अतएव एतद्रूप ग्राम को बीज-शुक्र आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। यही जन्म स्थिति भग का कारण है, अतएव शुक्ररूप इस बीजचिति को कारणशरीर कहा जाता है। इसी विद्याकर्मरूप शुक्र को जन्म का आरम्भक माना जाता है। इसी अभिप्राय से "तं विद्याकर्मणी अन्वारभेने पूर्वप्रज्ञा च" (शत० १४ कां० ७।२।३।) यह कहा जाता है। शुक्रगत प्रज्ञाभाग पर ही चिदंश का प्रतिबिम्ब पड़ता है। दूसरे शब्दों में चिदाभास (चित् का प्रतिबिम्ब) नाम से प्रसिद्ध जीवात्मा का जन्मदाता यही शुक्रगत प्रज्ञा (सोम) भाग है इसीलिए प्रज्ञामूर्ति इस शुक्र को आत्मग्राम कहा जाता है। पांच भूतों के सम्बन्ध से एक ही प्रज्ञा पांच भागों में विभक्त होजाती है। इस प्रकार ५ भूतमात्रा, ५ प्राणमात्रा, (इन्द्रिएं), ५ प्रज्ञामात्रा, २ विद्या और कर्म—इन १७ वस्तुओं की राशि से वह आत्मा नित्य युक्त रहता है, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं।

कर्मान्मात्रपरो योऽसौ मोक्षवन्धैः स युज्यते।

स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः॥

(म० शान्तिप० मो० ३५१ अ० १६ श्लो०)

बीज-देव-भूत की समष्टि आत्मप्रपत्ति का कारण बनती हुई 'पदम्' नाम से प्रसिद्ध है।

१. इस विषय का विशद विवेचन शतपथब्रह्मसूत्र में देखना चाहिए।

२. 'यत्र आत्मा प्रपन्नो भवति तत्र पदम्' इस निर्वचन के अनुसार आत्मका प्रपत्तिस्थान (निवासस्थान) ही 'पद' नाम से व्यवहृत होता है।

इस पद से अतिरिक्त एक पुनःपद और होता है, इसे ही महिमा मण्डल कहा जाता है । उसमें भी वाक्—वेद—लोक भेद से तीन साहस्रिणं होती हैं । वाक्साहस्री का सम्बन्ध शुक्रचिति से है, वेदसाहस्री का सम्बन्ध देवचिति से है, एवं लोकसाहस्री का सम्बन्ध भूतचिति से है । अव्यक्तात्मविकरणान्तर्गत शुक्रनिरुक्ति का पाठकों को स्मरण होगा । वहां हमने वाक्—आप—अग्नि—की समष्टि को शुक्र बतलाया था—(देखिए ई० वि० भा० पृ० ३४१) । इनमें वाक् का विकास स्वयं शुक्र है, आप का विकास भूतचिति है, एवं अग्नि का विकास देवचिति है । वाक्प्रधाना शुक्रचिति वाक्साहस्री की, आप्रधाना भूतचिति लोकसाहस्री की, एवं अग्निप्रधाना देवचिति लोकसाहस्री की जननी है । शुक्र ही वाक् भाग से शुक्र बनता है, आपभाग से भूत बनता है, अग्निभाग से देवता बनता है । तीनों चित्तिणं, एवं एवं तीनों साहस्रिणं एकमात्र शुक्र का ही विवर्त हैं । तभी तो शुक्र को बीज—कारण—आरम्भक आदि नामों से व्यवहृत करना चरितार्थ होता है । इसप्रकार त्रिकल आत्मा, त्रिकल चिति, त्रिकल साहस्री भेद से न्यूनविराट् का स्वरूप संपन्न होजाता है । “न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्” इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार एक अक्षर अथवा दो अक्षर के कम अथवा अधिक होने पर भी छन्द का स्वरूप नहीं विगड़ता । यद्यपि दशाक्षर छन्द का नाम विराट् है, तथापि एक अक्षर कम होने पर भी विराट् का स्वरूप अनुष्ण रहता है । इसी नवाक्षर न्यून विराट् को ‘निचृत् विराट्’ कहा जाता है । “न्यूनाद्वा प्रजाः प्रजायन्ते” (शत० ५।१।२०) के अनुसार नवाक्षर न्यून विराट् ही प्रजा की जननी है । सृष्टिसाक्षी स्वयं अव्यय मन—प्राण—वाक् के त्रिवृद्भाव से नवकल है । अतएव उक्त क्रमानुसार उस का सर्वप्रपञ्च भी त्रिवृत् (नवकल) बनजाता है । त्रिकल आत्मा है, त्रिकल पद (पिण्ड) है, त्रिकल पुनःपद [महिमा] है । महिमा में पिण्ड है, पिण्ड के हृदय में आत्मा है, तीनों की समष्टि प्रजापति है ।

न्यूनविराट् प्रजापतिः(नवाक्षरविराट्)

१-१-अन्ययः (मनः)	}	 आत्मा हृदयस्थः १
२-२-अक्षरः (प्राणः)		
३-३-आत्मक्षरः (वाक्)		

—०—

४-१-बीजचितिः (वाक्-मनः)-कारणशरीरम्	}	 शरीरं पदम् २
५-२-भूतचितिः (आपः-प्राणः)-स्थूलशरीरम्		
६-३-देवचितिः (अग्निः-वाक्)-सूक्ष्मशरीरम्		

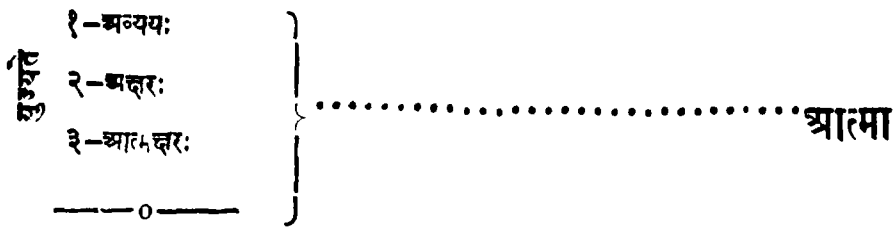
—०—

७-१-वाक्साहस्री(वषट्कारः-मनः)२-१५-२१-३३	}	महिमा पुनःपदम् ३
८-२-लोकसाहस्री(लोकाः-प्राणः) पृ. अ. द्यौ. आ.		
९-३-वेदसाहस्री (वेदाः—वाक्) ऋ. यजुः. सा. अथ.		

प्रजापतिः (जीवः)

१-विवा—१	}	७-प्रज्ञामात्रा	}	बीजचितिः (शुक्रम)
२-कर्म—१				
३-पूर्वप्रज्ञा—५				
—०—				
१-पृथिवी—१	}	५-भूतमात्रा	}	भूतचितिः शरीरम्
२-जल—१				
३-तेज—१				
४-वायु—१				
५-आकाश-१				
—०—				
१-वाक्—१	}	५-प्राणमात्रा (१७)	}	देवचितिः
२-प्राण—१				
३-चक्षु—१				
४-श्रोत्र—१				
५-मन—१				
—०—				

राशिना—दशकेन—सप्त



महिमारूप पुनःपद को महतोमहीयान् कहा जाता है, एवं सर्वान्तरतम सूक्ष्मतम आत्मतत्त्व के लिए 'अणोरणीयान्' कहा जाता है। महिमयुक्त शरीरत्रयी कर्मप्रधान है, आत्मा ज्ञानप्रधान है। ज्ञान शान्त है, निष्क्रिय है। इस ज्ञानप्रधान आत्मा के लिए उपनिषदों में 'अकृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं कर्मप्रधान शरीर के लिए 'कृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जब तक कृत का (शरीर का) आश्रय है, तब तक अकृत (आत्मा) बन्धन में है। कृत अकृत को कभी उप-कृत नहीं कर सकता, जैसा कि—'नास्त्यकृतः कृतेन' इत्यादि उपनिषद्बचनों से स्पष्ट है।

उक्त तीनों चितियों में से बीजचिति ही जीवसृष्टि का कारण है, एवं वही ईश्वरसृष्टि का कारण है, यह कहा जा चुका है। इसी कारणता को बतलाने के लिए ऋषिने इस का नाम कारणशरीर रक्खा है। जबतक शुक्ररूप कारणशरीर है, तब तक न जीव की मुक्ति है, एवं न (मायाविमोक्लङ्गणा) ईश्वर की मुक्ति है। दूसरे शब्दों में शुक्र का अतिवर्तन ही मुक्ति का कारण है। विज्ञानदृष्टि से शुक्र का स्वरूप देखिए। कारण ही बीज है। इसे शुक्र, काम, कर्म इन तीन शब्दों से पुकारा जा सकता है। क्योंकि काम-कर्म-शुक्र तीनों की समष्टि ही बीजचिति है। यह तीनों सृष्टि के साधारण अनुबन्ध हैं। दूसरे शब्दों में त्रिकल बीजचिति के बिना कोई भी सृष्टिकर्म संभव नहीं है। प्रत्येक सृष्टि में तीनों नित्य अपेक्षित हैं। सृष्टिकर्म का अव्यय के सृष्टिसाक्षी मन-प्राण-वाक् भाग से सन्बन्ध है। जब तक इन तीनों कलाओं का समन्वय नहीं होजाता, तबतक सृष्टि ही क्या, संसार का कोई भी कर्म नहीं होसकता। मन से काम का, प्राण से क्रम का, एवं वाक् से शुक्र का उदय होता है। इन तीनों में सृष्टि का पहिला बीज काम है, कर्म दूसरा बीज है, शुक्र तीसरा बीज है। ईश्वर जैसा चाहता है, वैसा कर्म करता है, एवं उस कर्म से वैसी ही वस्तु उत्पन्न हो जाती है। "कामस्तदप्रेसमवर्त्तताभि मनसो रेतः

प्रथमं यदासीत्” (नासदीयसूक्त) के अनुसार काम ही प्रथम बीज है । काम के होते ही कर्म [प्राख्यव्यापार] हो पड़ता है, कर्म से वाग्व्यापार होता है, नई वस्तु उत्पन्न होजाती है । काम ज्ञानशक्ति है, कर्म क्रियाशक्ति है, शुक अर्थशक्ति है । शुक रूप अर्थ ही पदार्थों का उपादान बनता है, अतः हम प्रधानतः शुक को ही कहेंगे, काम कर्म को सहकारी कारण कहेंगे ।

पूर्व कथनानुसार दार्शनिकों ने भावनावासनारूप संस्कार को ही सृष्टि का बीज माना है । यह संस्कार जीवसृष्टि का बीज अवश्य होसकता है, परन्तु ईश्वरसृष्टि का नहीं । क्योंकि वह संस्कारलेप से पृथक् है । सतत ज्ञान-कर्मानुष्ठान में रत रहने पर भी उसपर (अना-सक्तिभाव के कारण) संस्कारों का लेप (आवरण) नहीं होने पाता । उधर काम-कर्म-शुकरूप बीज जीववत् ईश्वर से भी सम्बन्ध रखता है, जैसा कि “सोऽकामयन्, स तपोऽतप्यन्, सोऽश्राम्यन्” इत्यादि से स्पष्ट है । ईश्वरवत् आधिकारिक जीवों के साथ भी संस्काररूप बीज घटित नहीं होता । ईश्वर-आधिकारिकजीव-यथाजातजीव-इतर अवान्तर सृष्टिएं इन सब के साथ समानरूप से युक्त रहने वाले बीज का तो-‘काम-कर्म-शुकमयत्वं बीजत्वम्’ यही लक्षण करना पड़ेगा । प्रकृतमन्त्र में शुक शब्द से यही सामान्य बीज अभिप्रेत है । जीवसृष्टि के लिए दार्शनिकों ने “भावना-वासना-संस्कारत्वं-बीजत्वम्” जो यह लक्षण माना है, वहां भी वैज्ञानिकों के काम-कर्म-शुक बीज का समन्वय हो रहा है । अपेक्षा-बुद्धि से कर्म करने पर प्रज्ञानात्मा पर संस्कार हो जाता है । उस संस्कार के अभिक्रम-प्रक्रम दो विभाग है । कर्तव्यकर्म प्रक्रम है, पुरुषार्थकर्म अभिक्रम है । आप अपने मकान से राम-निवास बाग जाते हैं । रामनिवास बाग पहुंच जाना पुरुषार्थकर्म है । इसकी सिद्धि के लिए आपको पिछला पैर उठाकर आगे रखना-इस क्रम से अवान्तर गतिरूप अनेक कर्म करने पड़ते हैं । यह सब अवान्तर गतिकर्म प्रक्रम हैं । लोकभाषा में जिसे ‘पांवड़ा’ (पैरों की गति की एक सीमा) कहते हैं, वही प्रक्रम है । यही प्रक्रम कर्तव्यकर्म है । अनेक प्रक्रमों से एक अभिक्रम का स्वरूप संपन्न होता है । हम अपने जीवन में अनेक अभिक्रम संग्रहित कर देते हैं । खाना-पीना-सोना-चलना-द्रव्योपार्जन-अध्ययन-आदि सहस्रों अभिक्रम कर्म हैं । इन सब की समष्टि

व्यूह' (कर्मव्यूह) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रक्रमों से एक अभिक्रम का, अनेक अभिक्रमों से एक व्यूह का स्वरूप बनता है। यह कर्मव्यूह संस्काररूप से आत्मा में प्रतिष्ठित रहता है। निवृत्तिकर्म से प्रारब्ध अभिक्रम कर्म को छोड़कर शेष सारा कर्मव्यूह निवृत्त होजाता है। प्रारब्धकर्मरूप अभिक्रम कर्म की भोग से ही निवृत्ति होती है—“नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति”। कहना यही है कि कर्मासक्त मनुष्य कर्मव्यूह से उत्पन्न कर्मसन्तान के आवापोद्वापरूप धारण-बल से जन्म मरण के चक्र में फसा रहता है। ऐसे ही जीव—आश्वत्थिक जीव कहलाते हैं। दूसरा विभाग ‘आधिकारिकजीव’ का है। इनके ब्रह्माश्वत्थिक-नियतकर्माश्वत्थिक भेद से दो भेद हैं। ब्रह्माश्वत्थिक जीव जड़ हैं। मूर्त्य-परमेष्ठी-चन्द्रमा-पृथिवी-नक्षत्र आदि ईश्वराङ्गभूत जड़ आधिकारिक जीव ‘ब्रह्माश्वत्थिक’ हैं। यह अपने अपने नियत अधिकार से अधिकृत हैं। नियतकर्माश्वत्थिक जीव चेतन हैं। इन के भी नित्य-सामयिक भेद से दो विवर्त हैं। ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-इन्द्र-वरुण-कुबेर-अग्नि-वायु-सोम-गन्धर्व आदि चेतन देवता (जो कि देवताविज्ञान के अनुसार—मात्माभिमानीडेवता नाम से प्रसिद्ध हैं) नित्य नियतकर्माश्वत्थिक जीव हैं। इन देवताओं के अवतार, एवं राम-कृष्ण आदि अवतार सामयिक नियत-कर्माश्वत्थिकजीव हैं। जिस उद्देश्य से अवतार होता है, उद्देश्य समाप्ति के अनन्तर अवतार-पुरुष लीलासंवरण कर जाते हैं, इसी अभिप्राय से नागयणावतार भगवान् व्यास कहते हैं—“यावदधिकारमवरिथतिराधिकारिकारणम्” (शा० सू० ३। ३। ३२।)।

प्राकृतिक नियमों में मनुष्यसमाज के प्रज्ञापराध से जब परिवर्तन होने लगता है तो प्रकृति क्रुब्ध हो पड़ती है। इस क्रोध के आघात से तत्सम्बद्ध व्यापक चिदात्मा का एक भाग प्रवर्ग्य बनकर क्रुब्ध वानावरण को शान्त करने के लिए जीव बनजाता है। वही आधिकारिकजीव अवतार कहलाता है। प्रकृति देवभेद से विभक्त है। यद्विषयक क्रोध होता है, तत्प्रधान ही

१ “अभिमानि व्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्,, (शा सु २। १। ५)। इस विषय का विशुद्ध निवेचन शशपथ मि. भा. में देखना चाहिये।

अवतार होता है । प्राकृतिक नियमसंघ ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अवतार का कारण है । इसी अवतारविज्ञान को लक्ष्य में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अग्न्ययपुरुष के अवतारभूत अतएव पुरुषोत्तम नाम से ही उपगीत, अतएव पूर्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता० ४।७-८) ।

अस्तु इस अप्राकृत विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते । यहां हमें कर्माश्रितिक चेतन जीवों के विषय में कहना है । संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म बिना कामना के अमंभव हैं । कामना से कर्म होता है, तज्जनित संस्कारपुञ्ज ही शुक्र है, यही बीज है । पूर्वमंचितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, आगे आगे नवीन नवीन संचय होता रहता है । आसक्तिभावना से जीव बंधन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' । मनप्राणवाक् की समष्टि अविद्याऽयय है । काम-कर्म-शुक्र कहो, अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है । इसी आधार पर काम-कर्म-शुक्रमूल विश्व को ४ विद्यमूल कहा जाता है । अक्षर विद्या है, क्षर अविद्या है— (देखिए श्वे० उ० ५।१) । क्षर की प्राण कला ही यजुरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अन्ततोगत्वा शुक्रतत्त्व का ब्रह्माग्निरूप यजुर्ब्रह्म पर ही पर्यवसान मानना पड़ता है । शुक्र को पूर्व के चितिप्रकरण में हमने वाक्प्रधान बतलाया है । यह वाक् ही आगे जाकर आप-अग्निरूप में परिणत होती हुई त्रिकल बनजाती है । इसी आधार पर पूर्व की शुक्र-निरुक्ति में शुक्र शब्द से वाक्-आप-अग्नि तीनों का ग्रहण किया है ।

१-मनः-काममयम् (इच्छाशक्तिः)-कामः (इच्छा)

२-प्राणः-कर्ममयः (क्रियाशक्तिः)-क्रिया (तपः)

३-वाक्-शुक्रमयी (अर्थशक्तिः)-आवरणम्(अमः)

} अविद्यात्मकं शुक्रम्

१ इस विषय का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य के आचार्य रहस्य में देखना चाहिए ।

आपने सर्वाङ्ग शरीर में काम है, कर्म भी है, शुक भी है। परन्तु इन तीनों के अव-
यव ही कार्यरूप में परिणत होते हैं, इच्छा-कर्म-शुक तीनों का नियत भाग ही उपादान बनता
है। यही परिस्थिति मायावच्छिन्न महेश्वर के शरीर में समझिए। ईश्वर के किसी नियत प्रदेश
में ही सृष्टिमूला कामना वा उदय होता है, उसी प्रदेश में कर्म का उदय होता है, एवं वही
शुक विश्व का उपादान बनता है। ईश्वर का शरीर गोलाकार है, वह सर्वतः पाणिपाद,
सर्वतोऽन्तिशिरोमुख है। जहां तक महेश्वर व्याप्त है, वहीं तक ब्रह्मरूप शुक, एवं सुब्रह्मरूप
रेत व्याप्त है। वह कामनाओं का समुद्र है। कामभेद से कर्म, कर्मभेद से शुकभेद होजाता
है। नियतकाम-कर्मावच्छिन्न नियतशुक नियतविश्व का उपादान बनता है। उस में कामनाभेद
से अनन्त शुक हैं। जितने शुक हैं, उतने ही विश्व हैं। एक एक विश्व का उत्पादक एक एक
शुक है। अनन्त ब्रह्माधिष्ठाता महेश्वर अश्वत्थ प्रजापति है। उसका पञ्चपर्व एक एक विश्व
एक एक पञ्चपुण्डरीक प्राजापत्य वल्गु है। व्यापक अमायी परात्पर में माया के उदय से अश्व-
त्थेश्वर का उदय होता है। माया अनन्त है, अतएव मायीमहेश्वर भी अनन्त है। प्रत्येक मायी
महेश्वर (अश्वत्थ) के उदर में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। परात्पर एक है, आगे का सारा प्रपञ्च
अनन्त है। यद्यपि परात्पर भी अनन्त है, परन्तु इस की अनन्तता दिग्देशकालानवच्छेद से
सम्बन्ध रखती है, महेश्वरादि की अनन्तता संख्या से सम्बन्ध रखती है। इस प्रकार यह सर्व-
विभूति अनन्त है, सत्य है, ज्ञानमूर्ति है—“सन्त्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म”। परात्पर असीम है। इसी
असीमभाव को सूचित करने के लिए उसे परात्पर (ससीम पर नामक अव्यय से भी पर-
असीम) नाम से व्यवहृत किया जाता है। जिस प्रकार एक पट (वस्त्र) में ससीम अनन्त
गोलाकार बिन्दुएं प्रतिष्ठित रहती हैं, एवमेव उस असीम परात्पर धरातल में गोलाकार अनन्त
मायी महेश्वर प्रतिष्ठित हैं। इस विषय का विशद विवेचन ईशभाष्य प्रथम खण्ड में विस्तार से
किया जाचुका है—(देखिए ई. भा. प्र. २५५ से २६४)। प्रत्येक मायी महेश्वर अश्वत्थमूर्ति
है। अश्वत्थ ऊर्ध्वमूल माना जाता है। वर्तुलवृत्त का केन्द्र प्रधि (परिधि) से ऊर्ध्व माना
जाता है। उस ऊर्ध्वमूलरूप केन्द्र बिन्दु से चारों ओर प्रधि पर्यन्त सहस्र शाखाएं निकलीं

हैं। प्रत्येक शाखा में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा यह पांच पांच पुण्डरी (पर्व-पोर) हैं। उपक्रम में पुण्डरी स्वयम्भू है, उपसंहार में चन्द्रमा है, अतएव चान्द्रब्रह्मा को 'निधन' (अवसानस्थानीय) कहा जाता है। यही सब भाव मायी महेश्वर के स्वरूप परिचायक हैं। यही परिस्थिति इतर महेश्वरों की समझनी चाहिए। तीसरा विवर्त ब्रह्मेश्वर का है। स्वयम्भू की महिमा में समहिम परमेष्ठी, परमेष्ठी की महिमा में समहिम सूर्य, सूर्य की महिमा में समहिम पृथिवी, एवं पृथिवी की महिमा में समहिम चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। यही स्वयम्भू सप्तलोकाधिष्ठाता ईश्वर प्रजापति है—(देखिए ई. वि. प्र. ३७८)।

अब तक के सन्दर्भ से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि मायी महेश्वर में सर्वत्र एकरूप से यजुर्ब्रह्माग्नि भरा हुआ है। महेश्वर का कोई भी प्रदेश इस से शून्य नहीं है। एवमेव उसी प्रदेश में सुब्रह्म आप (सोम) भरा हुआ है, इससे भी कोई स्थान रिक्त नहीं है। दोनों ही मायावच्छेदेन महेश्वर की तरह व्यापक हैं। इस व्यापक महेश्वर के भरातल पर प्रतिष्ठित व्यापक ब्रह्म-सुब्रह्म के जिस प्रदेश में कामना का उदय होता है, उतने प्रदेश में कर्मजनित क्षोभ से एक नया सीमाभाव उत्पन्न होता है। महामाया के उदर में उत्पन्न होने वाले इसी सीमाभाव को 'योगमाया' कहा जाता है। इसकी जननी अशनाया (बुभुक्षा) है। अशनाया के अविष्ठाता विष्णु हैं, अतएव तन्मूलिका योगमाया को—“योगमाया हरेर्देवतत्वा तथा संमोह्यते जगत्” इत्यादि रूपसे विष्णुमाया कहा जाता है। कामजनित सीमावच्छिन्न (योगमायावच्छिन्न) उस नियत प्रदेश से परिच्छिन्न वह यजुर्ब्रह्म (यजुर्ब्रह्म का अंश) ही सृष्टि की योनि बनता हुआ शुक्र नाम धारण करलेता है, एवं उसी सीमित प्रदेश का सुब्रह्म (आप) भाग रेत नाम धारण करलेता है। ब्रह्मात्मकशुक्र में इसी सुब्रह्मात्मकरेत का रेतोधा मातरिश्वा द्वारा आधान होता है।

‘अनेजदेकम्०’ का अर्थ करते समय हमने सुब्रह्म (आप) शुक्र ब्रह्म को शुक्र बतलाया था, यहां केवल यजुर्ब्रह्म को तो शुक्र, एवं सुब्रह्म को रेत बतलाया जा रहा है। वहां शुक्र-रैतरूप ब्रह्म में सुब्रह्म की समष्टि को शुक्र बतलाने का कारण यह था कि साधारण मनुष्य शुक्र

को ही उत्पत्ति का कारण समझते हैं । इन की दृष्टि में शुक्र शब्द का अर्थ उपादानकारण है, एवं यह दृष्टि किसी सीमा तक ठीक भी कही जा सकती है । उपादान न केवल ब्रह्म है, न केवल सुब्रह्म । अपि तु दोनों की समष्टि उपादान है । इसी साधारण दृष्टि का स्वागत करते हुए, शुक्र का उपादान अर्थ मानते हुए हमने दोनों के समुच्चय को वहाँ शुक्रशब्द से व्यवहृत कर दिया था । वस्तुतः विज्ञानदृष्ट्या शुक्र केवल ब्रह्माग्नि का वाचक है, एवं रेत केवल सुब्रह्म का वाचक है । इस रेत का आधान हुआ, इससे स्वयम्भू का स्वरूप निष्पन्न हुआ । यही शुक्रमूला सृष्टि का पहिला रूप है । यह योगमायावच्छिन्न पुण्डरी स्वयम्भू है, 'अनेजदेकम०' वाला महामायावच्छिन्न, महेश्वर के रूप से समतुलित व्यापक स्वयम्भू था । वह एक है, पुण्डरी स्वयम्भू अनन्त (सहस्र) हैं । इस योगमायावच्छिन्न ससीम पुण्डरी स्वयम्भू से ही परमेष्ठी का उदय होता है । यही शुक्रमूला सृष्टि का दूसरा रूप है । अव्यक्त स्वयम्भू में यद्यपि आप भी है, परन्तु वहाँ प्रधानता प्राण की ही है । प्राण असंगतत्व है, असंगप्राण मैथुनीसृष्टि का कारण नहीं बनता । ऐसी परिस्थिति में प्राणमय स्वयम्भू को भी वास्तविक उपादान नहीं माना जा सकता । सृष्टि का वास्तविक उपादान तो संसर्गधर्मा आपोमय परमेष्ठी ही है । अतएव शुक्र (उपादान कारण सूचक) शब्द का पर्यवसान परमेष्ठी पर ही मानना पड़ता है । यही इस शुक्रमूर्ति परमेष्ठी की महत्ता है । इसे 'महान्' कहा जाता है । यदि सृष्टि पर्वों की महत्ता का विचार किया जाता है तो सामान्य दृष्टि से अव्यक्त स्वयम्भू को ही सब पर्वों की अपेक्षा महान् (सबसे बड़ा) मानना युक्तिमंगत होता है । परन्तु वैज्ञानिकों ने अव्यक्त को महान् न कहकर परमेष्ठी को महान् कहा है । सचमुच परमेष्ठी ही सब पर्वों की अपेक्षा महान् है । प्राणमूर्ति स्वयम्भू प्रजापति प्राण की सर्वता-महत्ता इसी प्राजापत्य परमेष्ठी पर निर्भर है । परमेष्ठी के दर्शपूर्णमास से ही पुण्डरी स्वयम्भूका स्वरूप निष्पन्न होता है । पहिले आपतत्व सर्व बनता है, अनन्तर प्राण को सर्वता का अवसर मिलता है । पानी ही प्राण की प्रतिष्ठा है- 'आपोमयः प्राणः' । अध्यात्मसंस्था में जबतक शरीर में अप्तत्व प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक प्राण स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, जैसा कि- 'यावद्वै प्राणेष्वपो भवन्ति तावद्वाचा

वदति" (शत० ५।३।५।१६।) इत्यादि श्रौतवचन से स्पष्ट है । प्राणपेक्षया पानी की यही महत्ता है । पानी के गर्भ में प्राण प्रतिष्ठित रहता है, पहिले "आपो वा इदं सर्वम्" है, अनन्तर 'प्राणो वा इदं सर्वम्' है,—(देखिए ई० वि० भा० पृ० १५) । मातरिश्वा वायु के वेष्टन से ही अव्यक्त स्वयम्भू का उदय हुआ है । यह मातरिश्वा वायु—आप का ही एक अंश है । इसलिए भी प्राणमय स्वयम्भू की अपेक्षा आपोमय परमेष्ठी को महान् कहा जा सकता है । वैकारिक विश्व का उपादान भी यही है, इसलिए विश्वापेक्षया भी यही महान् है । अव्यक्त अमूर्त था, यह मूर्त है (मूर्तिरेव रयिः—प्रश्नो. १) । सारी मूर्तिरं. दूसरे शब्दों में मूर्त जगत् इसी रयिप्रधान परमेष्ठी के गर्भ में उत्पन्न हुआ है । आप कहेंगे मायी महेश्वर सब की अपेक्षा महान् है, ऐसी अवस्थामें विश्वसीमा में महेश्वर को छोड़कर परमेष्ठी आदि को कैसे महान् कहा जा सकता है ! हम कहेंगे आप भूलते हैं । केवल माया से ही महेश्वर (अव्यय) का विकास नहीं होता, सृष्टिधारा में आते समय उसे भी इसी का आश्रय लेना पड़ता है । आत्मपुरुष इसी में गर्भधारण करता है, इसी से आगे की मूर्तिसृष्टि होती है । आप के आप—वायु—सोम यह तीन विभक्त हैं । चेतना आगमन के यही तीन द्वार हैं । अतएव विश्व में आप्य—वायव्य—सौम्य तीन ही प्रकार की जीवसृष्टि उपलब्ध होती है । इस जीवसृष्टि का अधिष्ठाता भी आपोमय परमेष्ठी ही है । इसप्रकार ईश्वर—जीव—विश्व सब कुछ इसी के आश्रित हैं—'सर्वमापोमयं जगत्' । परमेष्ठी के इसी महत्त्व को लक्ष्य में रखकर ऋषियों ने इसे 'महानात्मा' नाम से व्यवहृत किया है । इसी महद्ब्रह्म की महत्ता का निरूपण करती हुई स्मृति कहती है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (गीता १४।१-४) ।

पञ्चपर्वी विश्व के अमृत-मृत्यु मेद से दो विभाग हैं । सूर्य से ऊपर का प्रपञ्च अमृत विभाग है, सूर्य से नीचे का प्रपञ्च मृत्यु विभाग है । अक्षरपुरुष स्वयं अमृतरूप है । इस का विकास सूर्य पर्यन्त रहता है । दूसरे शब्दों में अक्षर की प्रधानता सूर्य तक (सूर्य के अमृताग्नि नामक प्राणाग्नि तक) है । सूर्यपिण्ड से आरम्भ कर नीचे के सारे मर्त्य विरव में क्षर का साम्राज्य है । क्षर को 'ब्रह्म' कहा जाता है । यह ब्रह्मक्षर अनेकधा विभक्त है, विविध भावों से आक्रान्त है । इस बहुरूप क्षरकूट पर एक अक्षर प्रतिष्ठित है । विशुद्ध अक्षर नहीं, अपि तु महद्ब्रह्म युक्त अक्षर । क्योंकि क्षरसृष्टि का उपादान शुक्लरूप परमेष्ठी नामक महद्ब्रह्म ही है । यह सूर्य से ऊपर रहता हुआ अमृत प्रधान बनकर अमृताक्षर कोटि में प्रविष्ट मान लिया जाता है । इस विभाग के अनुसार षोडशीपुरुष, अव्यक्त (स्वयम्भू), महान् (परमेष्ठी) इन तीन का एक स्वतन्त्र अमृत विभाग होजाता है । एवं सूर्यपिण्ड-चन्द्रपिण्ड-पृथिवीपिण्ड इन तीन का एक स्वतन्त्र मर्त्य विभाग होजाता है । । इस प्रकार एक ही शुक्ल तत्त्व अमृत मृत्यु मेद से दो भागों में विभक्त होजाता है, जैसा कि पूर्व की शुक्लनिरुक्ति में बतलाया जा चुका है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर—“भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि बहुब्रह्मैकमक्षरं, महद्ब्रह्मैकमक्षरम्” यह कहा जाता है ।

१ — षोडशीपुरुषः	{	अमृतम्—१	{	प्रजापतिः		
२ — अव्यक्तः स्वयम्भूः						
३ — परमेष्ठी महान् — ० —						
१ — सूर्यपिण्डम्	{	मर्त्यम्—२				
२ — चन्द्रपिण्डम्						
३ — भूपिण्डम्						

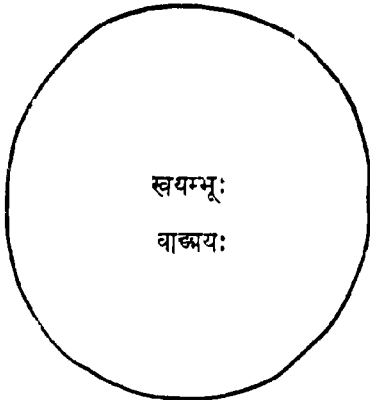
हमारा 'स गयेगात् ०' मन्त्र शुक्लरूप इसी महद्ब्रह्म का निरूपण करता है । शुक्लपदार्थ बड़ा जटिल है, यह पूर्व के शुक्लनिरूपण से विदित हुआ होगा । इस की यह जटिलता यही

समाप्त नहीं होजाती । अभी इस संबन्ध में और भी कुछ वक्तव्य है । यजुर्वेद शुक है, यह पहिला पद है । काप-कर्म-शुक्ररूप अविद्यातत्त्व शुक है, यह दूसरा पद है । ब्रह्म-सुब्रह्म की समष्टिरूप महद्ब्रह्म शुक है, यह तीसरा पद है । वाक्-आप-अग्नि-अग्नि-आप-वाक् भेद से शुक ६ है, यह चौथा पद है । अपेक्षा भेद से चारों भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु परमार्थतः सब अभिचार्यक हैं । पूर्व की शुकनिरुक्ति में हमने चौथे पद को ही प्रधानता दी है, एवं इस प्रकरण में शेष तीनों पदों को प्रधान माना गया है । अब इन चारों का समन्वय कर इस अधिकरण को समाप्त करना है ।

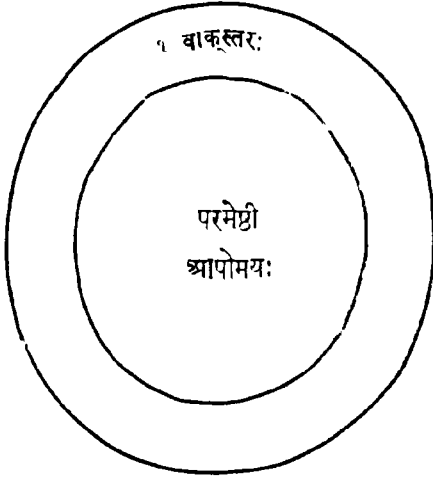
सब का मूल विद्या-कर्ममय अव्ययपुरुष है, यह निर्विवाद है । आनन्द-विज्ञान-मन का समुच्चय विद्याभाग है, यही अमृत है । मन-प्राण-वाक् का समन्वितरूप कर्मभाग है, यही अविद्या है, यही मृत्यु है । दोनों की समष्टि विश्व है । विश्व का मूल शुक (उपादान) विद्याकर्म ही है, यही अविद्यारूप पहिला शुक है । परन्तु कैसा विद्याकर्म ? विशुद्ध नहीं, अपितु वेदरूपक्षरा-चञ्चल विद्याकर्म । यद् रूप मृत्यु, जू रूप अमृत ही (यजुर्वेद) ही संसार का शुक है । यह शुक पूर्वकथनानुसार मन-प्राण-वाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्यय के वाक् भाग का ही विकास है । अव्ययवाक् ही वेदरूप में परिणत होती है । मूलावस्थापन्न वाक् वाक् है, त्वावस्थापन्न वाक् वेद है, अतएव अव्यक्ताधिकरण में इस वेद को 'ब्रह्मनिःश्वसित' कहा है । निष्कर्ष यही हुआ कि अव्ययवाक् का विकासरूप, अतएव वाक् नाम से प्रसिद्ध अमृत-मृत्युरूप स्वायम्भुव ब्रह्म-निःश्वसित वेद ही (जिसे कि इस शुकप्रकरण में 'वाक्शुक' कहा गया है) प्रथमज एवं प्रतिष्ठा रूप शुक है । यही इस की दूसरी अवस्था है । इसी पर प्रतिष्ठित होकर ब्रह्म (क्षर) एवं अक्षर सृष्टि के अभिष्ठाता बनने में समर्थ होते हैं, जैसा कि मुण्डकोपनिषत् के—'ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव' इत्यादि मन्त्रभाष्य में स्पष्ट किया गया है । वेदरूपा वाक् पहिला शुक है । "एकाकी न रमते तद् द्वितीयमैच्छत्, पतिश्च पत्नी च" के अनुसार वाक् का (यद् वा) ही कुछ भाग पानी बन जाता है । यही आप (जिस में कि आप-वायु आदि षड्ब्रह्म

है) पत्नी है। वह सत्य था, यह ऋत है। इन दोनों की सपष्टि ही शुक की तीसरी अवस्था है। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुमाविशत्' के अनुसार ब्र. नि. वेद अप्तत्व को उत्पन्न कर इस के भीतर प्रविष्ट हो जाता है। इसी से पुण्डीरस्वयम्भू का जन्म होता है। चारों ओर आपोमय षड्ब्रह्म व्याप्त है, बीच में वेदत्रयी प्रतिष्ठित है। आप में जो अङ्गिराभाग है उस की अग्नि-वायु आदित्य यह तीन अवस्थाएं बतलाई गई हैं। यह अङ्गिरात्रयी आगे जाकर "गायत्रीमात्रिकेवद" रूप में परिणत होती है। अङ्गिराग्नि गायत्र नाम से प्रसिद्ध है, अतएव तद्रूप वेद को 'गायत्रीमा०' कहना न्यायप्राप्त है। सृष्टि यज्ञमूला है। यज्ञ की प्रथम विकास भूमि आप शुक है। अपने ही अङ्गिरा भाग से वह आपतत्त्व उक्त वेदरूप से प्रादुर्भूत होता है। अङ्गिरात्रयी अग्नि है, भृगुत्रयी सोम है। दोनों का समन्वित रूप यज्ञ है—“दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसाम लक्ष्णम्”। यही यज्ञात्मक चौथा शुक है।

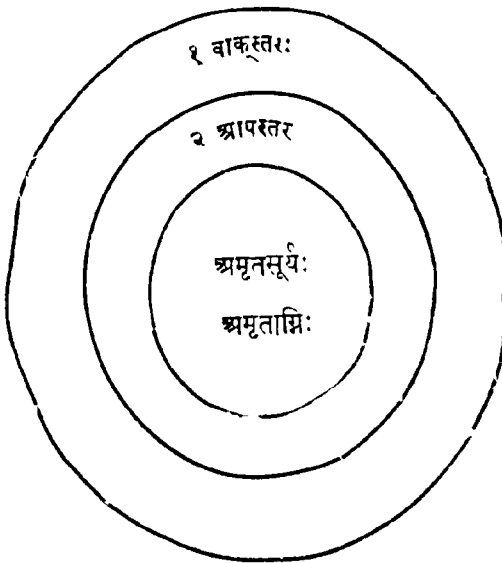
प्रकारान्तर से देखिए। स्वायम्भुवी वाक् पहिला शुक है, परमेष्ठ्य आप दूसरा शुक है, सौर अग्नि तीसरा शुक है। तीनों ही अमृत सृष्ट्यु भेद से दो दो भागों में विभक्त होते हुए षट्शुक संपत्ति के सम्पादक बन जाते हैं। उत्तर उत्तर की सृष्टि में पूर्व पूर्व के शुक अनुस्यूत रहते हैं। ऐसी अवस्था में सर्वत्र सब शुकों की सूक्ष्मावस्था मानमें पर भी विकास क्रमिक ही माना जा-यगा। स्वयम्भू केवल बाह्यमय है। परमेष्ठ्री स्वयम्भू के उदर में है, इसलिए यह स्वस्वरूप से आपोमय वनत्वा हुआ वाक् के आगमन से बाह्यमय भी है। सूर्य में अमृताग्नि-मर्त्याग्नि के साथ साथ वाक्-आप का भी सम्बन्ध है, क्योंकि सूर्य परमेष्ठ्री के गर्भ है। दृष्टि क्रमानुसार पृथिवी और सूर्य के गर्भ में प्रतिष्ठित अन्तरिक्षस्थानीय चन्द्रमा में पांच शुक हैं। एवं दृष्टि क्रमानुसार (साथ ही में हम पाथिव प्राणियों की अपेक्षा से क्षिति क्रमानुसार भी) सबसे अन्त में मानी जाने वाली पृथिवी में ६ ओं शुकों का भोग हो रहा है, जैसा कि आगे के परिलेखों से स्पष्ट हो जाता है।



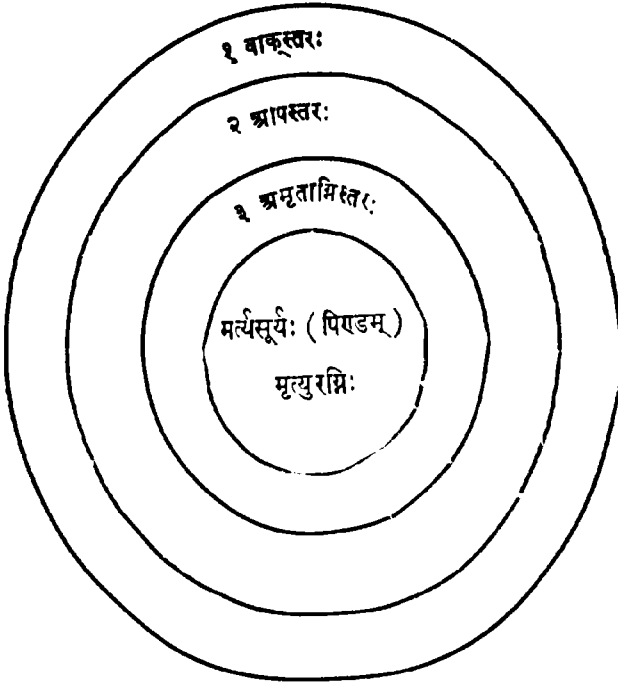
→^१वाक्—१—स्वयम्भूः



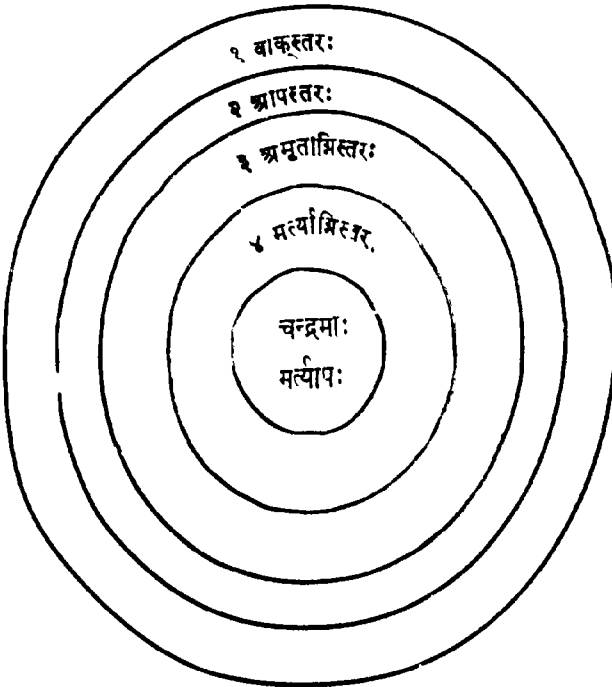
→^१वाक्—^२आपः—२—परमेष्ठी



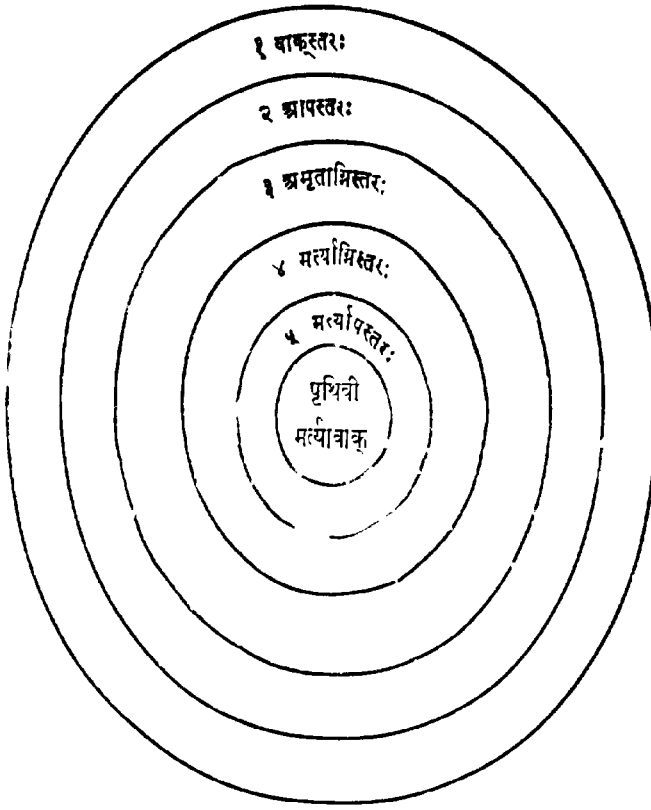
→^१वाक्—^२आपः—^३अग्निः—३—सूर्यः



१ २ ३ ४
वाक्-आपः-अग्निः-अग्निः-
४-सूर्यः

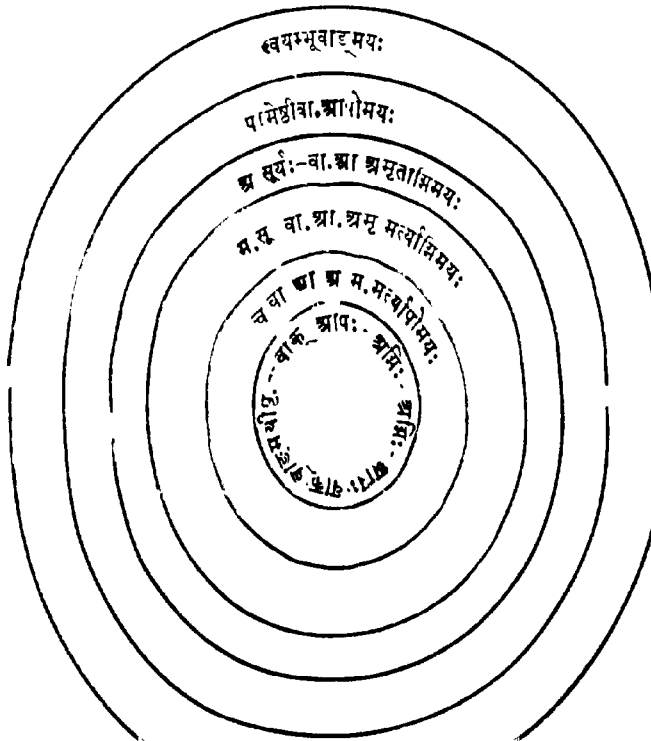


१ २ ३ ४ ५
वाक्-आपः-अग्निः-अग्निः-आपः-
५-चन्द्रः



१ २ ३
 वाक्-आपः-अग्निः
 ४ ५ ६
 अग्निः-आपः-वाक्

६-पृथिवी



→ → → → समष्टिः

१-स्वयम्भूः-वाङ्मयः ।-वाक् ?

२-परमेष्ठी-^(१)वाङ्मयः, ^(२)आपोमयः ।-आपः २

३-अमृतसूर्यः-^(१)वाङ्मयः, ^(२)आपोमयः, ^(३)अमृताग्निमयः-अग्निः ३

४-मर्त्यसूर्यः-^(१)वाङ्मयः, ^(२)आपोमयः, ^(३)अमृताग्निमयः, ^(४)मर्त्याग्निमयः-अग्निः ४

५-चन्द्रमाः-^(१)वाङ्मयः, ^(२)आपोमयः, ^(३)अमृताग्निमयः, ^(४)मर्त्याग्निमयः, ^(५)मर्त्यापोमयः-आपः ५

६-पृथिवी-^(१)वाङ्मयी, ^(२)आपोमयी, ^(३)अमृताग्निमयी, ^(४)मर्त्याग्निमयी, ^(५)मर्त्यापोमयी,

मर्त्यवाङ्मयी-वाक् ६
(६)

शुक्र में आप का भाग है, अर्वाग्मिंत गग्नि का भाग है, समष्टि महद्ब्रह्म है । महद्ब्रह्म में अव्यक्त स्वयम्भू प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित है । मातरिश्वा वायु इस शुक्र के चारों ओर व्याप्त है । अभी सृष्टि निर्माण नहीं हुआ है । केवल मातरिश्वा द्वारा सृष्टि के बीजभूत महद्ब्रह्मरूप शुक्र का आविर्भाव हुआ है । यही आगे विश्व बनने वाला है । हमारा औपनिषद् मन्त्र इसी विशुद्ध शुक्र का निरूपण करता है । मन्त्रार्थ सम्बन्धी उपकरणों का निरूपण समाप्त हुआ । अब मन्त्रार्थ की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

मन्त्रार्थप्रकरण



हम सुब्रह्म की समष्टिरूप उस शुक्र को (सर्वव्यापक आदिस्वयम्भूरूप शुक्र को) मातरिश्वा वायुनें चारों ओर से घेर लिया । इस परिच्छेद से ही यह शुक्र (जिसे कि भार्गव वायु रूप, अतएव आपोमम महद्ब्रह्म के अंश-भूत होने से हम 'महद्ब्रह्म' नाम से व्यवहृत करेंगे) सृष्टि का कारण बनता है । कुछ एक बिजातीय धर्म, एवं कुछ एक सजातीय धर्मों के

समिश्रण से ही शुक्र सृष्टि का कारण बनता है। कारण इन्हीं धर्मों के संसर्ग से शुक्र में कायत्व, व्रणत्व, स्नाविरत्व, अशुद्धत्व, पाप्मनिद्वत्त्व आदि भावों का उदय होता है। सजातीय पदार्थों का संघात कायभाव है, विजातीय पदार्थों का योग होजाना ही व्रणत्व है, इन धर्मों का सम्बन्ध कराने वाला सूत्र स्नायु है। इन तीनों भावों से वह अपने शुद्धरूप से विकृतवस्था में आता हुआ पाप्मनिद्व बनजाता है। जबतक शुक्र में उक्त चारों भावों का उदय नहीं होता, तबतक वह सृष्टिमर्यादा से बाहर की वस्तु है। अध्यात्मसंस्था में आप शुक्र के उक्त चारों धर्मों का साक्षात्कार कर सकते हैं। पार्थिव-आन्तरिक्ष-सौर तीनों सजातीय अग्नियों की (शुक्र अग्निरूप है, इसलिए अग्नि सजातीय है) इसी शुक्र पर चिति हो रही है। यह अग्निचिनि ही 'काय' (शरीर) है। काय की मूलभित्ति शुक्र ही है। शुक्र ही आधान के अनन्तर गर्भरूप में परिणत होकर क्रमशः वृद्धिगत होकर शरीररूप में परिणत होता है। इस लिए हम शुक्र को 'संज्ञा' कहने के लिए तय्यार हैं। विजातीय सोम का भी इस अग्निरूप शुक्र के साथ सम्बन्ध हो रहा है। सोम सम्बन्ध से ही तो योनि में आहुत शुक्र 'मुन' रूप में परिणत होता है। सोम से ही पुत्र 'मुन' कहलाता है। यह विजातीयभाव ही शुक्र का व्रणत्व है। सोम स्नेह तत्त्व है। स्नेहन द्रव्य में दूसरे के साथ चिपकने का स्वाभाविक धर्म है। जो सूत्र यह कर्म करता है (सोम में प्रतिष्ठित) वही सूत्र विज्ञानभाषा में—'श्रद्धा' नाम से प्रसिद्ध है। इसी तननभाव के कारण अग्न्य को 'तनय' 'सन्तान' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। इसी सूत्र के आधार पर मृतप्राणी के शुक्ररूप महानात्मा के साथ अपने पुत्र-पौत्रादि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसी के द्वारा पुत्र पितृलोकस्थ पितर को पिण्डदान द्वारा तृप्त किया करता है। 'सापिण्ड्यं साप्नपौरुषम्' 'सपिण्डता तु पुरुष सप्तमे विनिवर्त्तते' के अनुसार सातवें अग्न्य पर यह एक सूत्रधारा विच्छिन्न होजाती है। इसी श्रद्धासूत्र के सम्बन्ध से यह शुक्र स्नायुयुक्त बनता हुआ 'स्नाविर' कहलाने लगता है। चौथी है

१. इस विषय का विशद विवेचन श्रद्धाविज्ञान के 'श्रु. उ. मो. व. नो. पा. यो. प. निषत्' प्रकरण में द्रष्टव्य है।

संस्काररूप अविद्या । इसी को 'पूर्वपद्मा' भी कह सकते हैं । इससे यह शुक्र विद्ध रहता है । अविद्या पाप्मा (मल) है । इस अविद्यारूप पाप्मा से विद्ध होकर ही यह शुक्र प्रजोत्पत्ति का कारण बना है । जबतक कामना पूर्वक कर्म किया जाता है, तब तक यह वासनारूप अविद्यासंस्कार से युक्त रहता है, एवं तभीतक प्राणी शुक्र के चक्र से विमुक्त नहीं होता । ऋषि कहते हैं कि यद्यपि शुक्र कायत्वादि धर्मों से युक्त है, शुक्र का शुक्रपना कायत्वादि आगन्तुक धर्मों से ही चरितार्थ होता है, तथापि इसकी जो मौलिक-प्रारम्भिक प्रातिद्विक अवस्था है, वह कायत्वादि चारों धर्मों से रहित है । जिस समय सृष्टिकामुक प्रजापति की (सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति की) कामना से उस शुद्ध शुक्र को मातरिश्वा चारों ओर से घेरता है, उस समय वह अपने शुद्धरूप में है । अभी न उसमें सजातीय समूह है, न विजातीयभाव का सम्बन्ध है, न सूत्र-भाव का उदय है, न अविद्यारूप पाप्मा का ही लोभ है । यद्यपि मातरिश्वा की कृपा से आगे जाकर ही वह उक्त चारों सजातीय-विजातीय धर्मों से अवश्य ही युक्त होने वाला है, परन्तु आरम्भदशा में तो वह सर्वथा अकाय-अव्रण-अस्नाविर-अपापविद्ध-अतएव सर्वथा शुद्ध ही है । मातरिश्वा के सम्बन्ध से कायत्वादि धर्मों से क्यों युक्त होजाता है ? इसका उत्तर मातरिश्वा से पूछिए । मातरिश्वा कवि है, परिभू है, स्वयम्भू है । मातरिश्वा वायु को हयन भार्गव (भृगु) वायु कहा है । भृगु कवि है, अतएव भार्गव मातरिश्वा को कवि कहा गया है । जन्ममरण-धर्म से आक्रान्त विविधभावमय विश्व इसी मातरिश्वा का काव्य (कृति) है । यदि रेतोधा मातरिश्वा ब्रह्म में (योनि में) आप (रेत) का आधान न करता तो विश्वका निर्माण असंभव था । कवि मातरिश्वा के द्वारा होने वाले रेत के आधान से ही मर्त्य विश्व की उत्पत्ति हुई है । कल तक जो मनुष्य हंसता खेलता था, वह आज मरगया । अब त्रैलोक्य में उस स्वरूप का पता नहीं है । यही उस कवि का महाकाव्य है । वही संचर काल में उत्पत्ति का अधिष्ठाता बनता है, प्रति-संचरकाल में वही विनाश का अधिष्ठाता बन जाता है । मातरिश्वा कवि के इसी काव्य का निरूपण करते हुए महर्षि कहते हैं—

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।

देवस्य पश्य क,ठ्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समानः ॥

(ऋक्मं० १० । ५५ । ५ ।) ।

भृगुत्व स्नेहधर्मी है । स्नेह ही संमृष्टिलक्षण सृष्टि का कारण है । यह स्नेहधर्म ही भार्गवमातरिश्वा कवि की कवित्वशक्ति है । इसी स्नेहधर्म से चितिभाव का उदय होता है । चितिसमष्टि ही 'काय' है । शुक का चितिलक्षण कायरूप में परिणत होजाना, मातरिश्वा की कवित्वशक्ति (स्नेहगुण) की ही महिमा है । 'एकोऽहं बहु स्याम्' यह कामना ही विजातीय-भाव के आगमन का कारण है । इस कामना का उदय मन से होता है । मन की कामना ही 'मनीषा' है । मनीषाभाव से विजातीय परिग्रहों का संग्रह होता है । विजातीय परिग्रह ही 'व्रण' है । भार्गव मातरिश्वा यद्यपि वायुरूप होने से स्वयं क्रियाप्रधान है, परन्तु क्रिया बिना मन की कामना के सम्भव नहीं है । सुतगं मातरिश्वा में अव्यय मन का अनुग्रह सिद्ध हो जाता है । इसी से यह 'मनीषी' बना हुआ है । यह मनीषीभाव ही कामनाओं का प्रवर्तक बनता हुआ, विजातीयधर्मों के आगमन का द्वार बनता हुआ शुक के व्रणभाव का कारण बनता है । अपिच—मातरिश्वा का सारा ज्ञान एक ज्ञानमयी कृति है । बड़े नियम से सृष्टिपर्वों का निर्माण हुआ है । सृष्टि मनमानी नहीं है । अपि तु जैसे एक बुद्धिमान शिल्पी बुद्धिपूर्वक मूर्तियों का निर्माण करता है, एवमेव यह भी अव्यय मन से युक्त बनता हुआ बुद्धिपूर्वक ही मूर्तिरूप (मूर्तिरूप) विश्व का निर्माण करता है । जहां मातरिश्वा कवि (सृष्टिकर्ता) है, वहां यह बुद्धिमान् भी है । 'वायुर्वै गौतमः तत्र सूत्रम्' (शत० १४ । ६ । ७ । ६) के अनुसार मातरिश्वा सूत्रमात्र का भी प्रवर्तक है । इसी सूत्रसम्बन्ध से यह उस शुक के चारों ओर व्याप्त होता हुआ शुक में सूत्रभाव के उदय का कारण बनता है । सूत्रसम्बन्ध से यह चारों ओर व्याप्त होता हुआ 'परिभू' (परि—चारों ओर—भू—व्याप्त रहनेवाला) है । इस का यह परिभूभाव ही शुक के स्थाविरत्व का कारण है । व्यापक वस्तु में केन्द्र नहीं होता, बिना केन्द्र काममय

मन का उदय नहीं होना, बिना काममय मन के अशनाया का उदय नहीं होता, बिना अशनाया के विषय का आगमन नहीं होता, बिना विषय के लेप नहीं होता । लेप का कारण अशनाया है । अतएव अशनाया (भूख) को 'पाप्मा' कहा जाता है , जैसा कि श्रुति कहती है—

“नैवेहे किञ्चनाग्र आसीत्-मृत्युर्नैवेदमावृतमासीत्-अशनायया ।

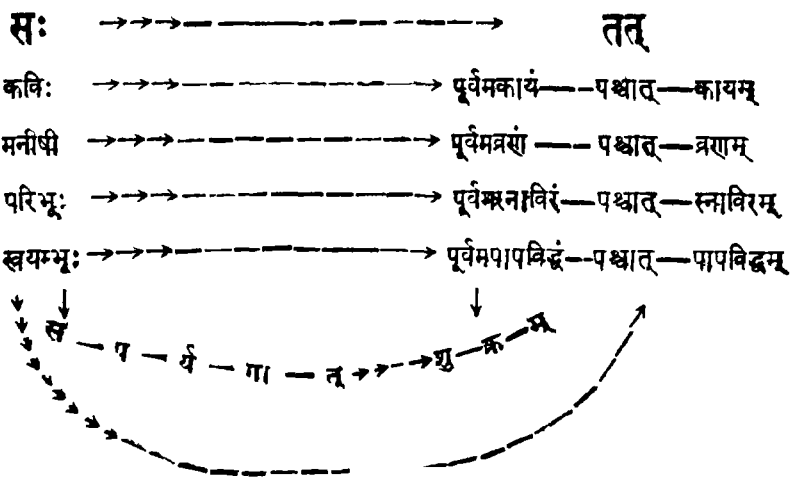
अशनाया हि मृत्युः । तन्मनोऽकुरुत्-आत्मन्वी स्याम्” इति

(शत० १० । ६ । ५ । १ ।)

इस अशनाया का प्रभव मन है । मन की प्रतिष्ठा हृदय है । हृदय सीमाभाव पर निर्भर है । यह सीमाभाव मातरिश्वा पर निर्भर है । मातरिश्वा ही उस शुक्र को स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध प्रथम पुण्डरीकरूप में परिणत करता है । इसी सीमा से स्वयम्भू 'वृत्तौजा' (गोलाकार) बनता है—देखिए मनु० १ अ० । ६ श्लो०) “स एष वायुः प्रजापतिः (मातरिश्वाख्यो वराह-प्रजापतिः) अस्मिंस्त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षे समन्तं पर्यक्तः” (शत० ८ । ३ । ४ । १ । २ ।) के अनुसार यह मातरिश्वा ही मायासीमातक व्याप्त शुक्र के एक प्रदेश को चारों ओर से घेर कर इसे पुण्डरीर-स्वयम्भूरूप में परिणत करता है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है । यही स्वयम्भूभाव सीमाभाव से सकेन्द्र, अतएव समनस्क बनता हुआ अशनायारूप पाप्मा के उदय का कारण बनता है । एवं इस स्वयम्भूभाव के उदय का कारण मातरिश्वा है, अतः ताच्छब्दन्याय से हम इसे भी स्वयम्भू शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं । इस प्रकार अपने कवि-मनीषी-परिभू-स्वयम्भू इन चार स्वरूपधर्मों से युक्त यह मातरिश्वा, प्रथमावस्थापन अतएव अक्राय-अव्रण अस्नाविर-अपापविद्ध, अतएव विशुद्ध शुक्र को क्रमशः काय-व्रण-स्नाविर-पापविद्ध बना डालता है । कविधर्म काय का, मनीषीधर्म व्रण का, परिभूधर्म स्नाविर का, एवं स्वयम्भूभाव पाप्मा का प्रवर्तक है । चतुर्धर्ममूर्ति मातरिश्वा शुक्र को उक्त चारों धर्मों से युक्त करने के पश्चात् ही, दूसरे शब्दों में कायत्वादि से युक्त शुक्र से ही वह वैकारिक विश्वनिर्माण में समर्थ होता है ।

सृष्टि एक प्रकार का व्यापार है, व्यापार क्रिया है। अर्थरूप शुक विश्व का उपादान बन-
ता हुआ भी जड़ है, क्रियाशून्य है। क्रिया सदागति मातरिखा वायु का ही धर्म है। अतः
'याथातथ्यतोः' इत्यादि रूप से श्रुतिने मातरिखा को ही सृष्टिकर्ता बतलाया है। मातरिखा
वायु ही अपने स्नेहनरूप कविभाव से शुक रूप अर्थ को कार्यरूप में परिणत करता हुआ, मन
से ज्ञानयुक्त बनकर कामना का अधिष्ठाता बनता हुआ, शुक को ब्रणरूप में परिणत करता हुआ,
परिभूभाव से शुक को स्नायुरूप में परिणत करता हुआ, स्वयम्भूभाव से अशनाया द्वारा शुक
को पाप्मविद्ध बनाता हुआ उक्त लक्षण अर्थमूर्ति शुक से सदा के लिए अर्थों का (विष्मपदार्थों
का) यथापूर्व निर्माण कर रहा है—“याथातथ्यतोऽयान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः”

सृष्टिकर्ता मातरिखा → → → → → सृष्ट्युपादानद्रव्यं—शुकम्



जैसा (यथा) आज आप देख रहे हैं, सृष्टि के प्रारम्भ में मातरिखा ने वैसा (यथा) ही
बनाया था, एवं 'यथापूर्वकल्पयत्' इस सिद्धान्त के अनुसार सदा के लिये (शाश्वतीभ्यः—
समाभ्यः) वह ऐसा ही बनाता रहेगा। उस मनीषी मातरिखा की निर्माण पद्धति सदा के लिए
निश्चित है। अग्नि का ऊर्ध्वगमन, पानी का अधोगमन, वायु का तिर्यग्गमन, भूपिण्ड का

कान्तिवृत्त पर नियत परिभ्रमण, आदि आदि पदार्थों के जो नियत भाव पहिले थे वे ही आज हैं, एवं भविष्य में भी ऐसे ही रहेंगे । जिस परिस्थिति के लिए लोकव्यवहार में—“वह काम तो सालों साल ऐसा ही होता रहता है—सदा एकसार होता रहता है” यह कहा जाता है, ठीक इसी व्यवहार को सूचित करने के लिए ‘याथातथ्यतो०’ इत्यादि कहा गया है । हम सृष्टिप्रक्रिया का प्रत्यक्ष कर रहे हैं । श्रुति को सृष्टिप्रक्रिया का स्वरूप बतलाना है । इसीलिए स्थूलारुन्धति न्याय से ‘तथा यथा’ यह क्रम न रखकर ‘यथा तथा’ यह क्रम रक्खा गया है । श्रुति कहती है कि जैसा तुम आज देख रहे हो, सदा के लिए मातरिश्वाणें वैसा ही बनाया है, वर्तमान में वैसा ही बना रहा है, एवं भविष्य में वैसा ही बनाता रहेगा । वर्तमान परिस्थिति तुम्हारे सामने है, इसी से तुम भूत—भविष्यत्—स्थिति का अनुमान लग सकते हो ।

मातरिश्वावच्छिन्न शुक्र अधिदैवत में ‘परमेष्ठी’ कहलाता है, अध्यात्म में यही ‘महानात्मा’ नाम से प्रसिद्ध है । इसमें प्रकृतिरूप सत्य ब्रह्माक्षर की अप्कला की प्रधानता है । ब्रह्मसत्य के सम्बन्ध से ही हमने इसे प्रकरण विभाग में ‘ब्रह्मसत्याक्षर महान्’ नाम से व्यवहृत किया है । भूषण्ड के दर्शपूर्णमास से इस महान् में आकृतिभाव का उदय होता है, चान्द्र दर्शपूर्ण-से प्रकृतिभाव का, सौर दर्शपूर्णमास से अहेकृतिभाव का उदय होता है । पार्थिवभाग महत् के तमोगुण का प्रवर्तक है, सौरभाग रजोगुण का प्रवर्तक है, एवं स्वायम्भुवभाग सत्वगुण का प्रवर्तक है । ज्ञानप्रधान स्वयम्भू ब्रह्मा सत्वमूर्ति है, क्रियाप्रधान सौरविष्णु रजोमूर्ति है, अर्थप्रधान पार्थिव भूतेशशिव तमोमूर्ति है । इस त्रिमूर्ति के सम्बन्ध से महद्ब्रह्म त्रैगुण्य से युक्त होजाता है, जैसा कि ‘उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका’ के ‘क्या उपनिषद् वेद है’

१ यही महान् ८४०००००० योनेयों का प्रवर्तक है । यही श्राद्ध का एकमात्र अन्यतम अधिकारी है । अभी इस विषय में बहुत कुछ वक्तव्य है । परन्तु विस्तारभय से उपेक्षा की जाती है । आगे की उपनिषदों में, एवं विशेषतः आखाविज्ञान में इन विषयों का विशद विवेचन हुआ है ।

इस प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है । महान् को हमने आपोमय कहा है । यह आपतत्व-आप-वायु-सोम-अग्नि-वायु-आदित्य भेद से षट्कल है । इनमें आप के साथ आकृतिभाव का, वायु (भार्गववायु) के साथ प्रकृतिभाव का, सोम के साथ अहंकृतिभाव का, अग्नि के साथ तमोगुण का, वायु (रुद्रवायु) के साथ रजोगुण का, एवं आदित्य के साथ सत्वगुण का सम्बन्ध है । इस प्रकार यह षट्कल महान्-षड्गुण बनकर षाट्कौशिक विश्व का प्रभव-प्रतिष्ठा परायण बन रहा है ।

१-१-पार्थिवदर्शपूर्णमासाभ्यां	—	आकृतिभावोदयः
२-२-चान्द्रदर्शपूर्णमासाभ्यां	—	प्रकृतिभावोदयः
३-३-सौरदर्शपूर्णमासाभ्यां	—	अहंकृतिभावोदयः
	—०—	
४-१-स्वायम्भुवज्जानमूर्त्तिब्रह्मणा	—	सत्वगुणोदयः
५-२-सौरक्रियामूर्त्तिर्विष्णुना	—	रजोगुणोदयः
६-३-पार्थिवार्थमूर्त्तिपशुपतिना	—	तमोगुणोदयः

षड्गुणको महान्

आपोमयो महानात्मा

भृगुः	{	१-१-आपः	—	आकृतिमयः
		२-२-वायुः	—	प्रकृतिमयः
		३-३-सोमः	—	अहंकृतिमयः
			—०—	
अङ्गिराः	{	४-१-अग्निः	—	तमोमयः
		५-२-वायुः	—	रजोमयः
		६-३-आदित्यः	—	सत्वमयः

“आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो-
भृग्वङ्गिरोमयम्”

प्रत्येक सृष्टि में योनि-रेत-रेतोधा तीन भावों का सम्बन्ध नित्य अपेक्षित है । सुप्र-
सिद्ध प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद-इन पांचों प्रकृतियों का स्मरण कीजिए । यही पांचों क्रमशः
स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन पांचों पर्वों के 'रेत' हैं । व्यापक प्राण योनि
था, व्यापक प्राण रेत था, व्यापक मातरिश्वा रेतोधा था, इससे व्यापक स्वयम्भू का उदय
हुआ । परिच्छिन्नप्राण योनि था, परिच्छिन्नप्राण रेत था, परिच्छिन्न मातरिश्वा रेतोधा
था, इससे परिच्छिन्न पुण्डीर स्वयम्भू का जन्म हुआ । प्राणमय पुण्डीर स्वयम्भू योनि बना,
आपतत्त्व रेत बना, मातरिश्वा रेतोधा बना, इससे परमेष्ठी का उदय हुआ । अब आपोमय
परमेष्ठी योनि बनेगा, तीसरा वाक्तत्त्व रेत बनेगा, मातरिश्वा रेतोधा रहेगा, इससे सूर्य उत्पन्न
होगा । वाङ्मय सूर्य योनि बनेगा, मातरिश्वा रेतोधा रहेगा, इससे भूषिण्ड उत्पन्न होगा ।
अन्नादमय भूषिण्ड योनि बनेगा, अन्न रेत बनेगा, एवं वही मातरिश्वा रेतोधा बनेगा । इस
से चन्द्रमा उत्पन्न होगा । यहां आकर सृष्टिक्रम समाप्त होजायगा । इस प्रकार सृष्टिक्रम में
रेतोधा सर्वत्र मातरिश्वा ही रहता है । हां सृष्टिपूर्वभेदों से उसके नाम रूप अवश्य ही बदल
जाते हैं, जैसा कि पूर्वाधिकरण में वराहस्वरूपनिर्वाचन में बतलाया जा चुका है । पूर्व पूर्व प्रकृति
(प्राणादि) उत्तर उत्तर की प्रकृति (अन्नादि) की योनि बनती है, उत्तर—उत्तर की प्रकृतिएं
(अन्नादि) पूर्व पूर्व प्रकृतियों (प्राणादि) के रेत बनते हैं । अव्यक्तात्माधिकरण में व्यापक
स्वयम्भू का निरूपण हुआ, इस प्रकृत महदात्माधिकरण में पुण्डीरस्वयम्भू, एवं परमेष्ठी की
उत्पत्ति बतलाई गई है । इस आपोमय महान् को योनि (ममयोनिर्महद्ब्रह्म) समझिए, तीसरे
वाक्तत्त्व को रेत समझिए, यज्ञवराहमूर्ति मातरिश्वा को रेतोधा समझिए । इस वाग्रेत के
महद्योनि में आधान होने से विज्ञानघन, अतएव विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध सहस्रांशु भगवान्
सूर्यनारायण का जन्म होगा । आगे का अधिकरण इसी जन्मोत्सव के लिए हमारे विज्ञा-
नात्मा (बुद्धि) को प्रेरित कर रहा है ।

इति-प्राकृतात्माधिकरणो

शुक्रात्मानिरूपणम्

प्राकृत-आत्माधिकरणे—
महदात्माधिकरणं समाप्तम्

२



पूर्णमदः →→→→→

पूर्णमिदम्

३-सूर्यः →→→→→

विज्ञानवैभव

१-विज्ञानात्मा

अधिदैवतम् →→→→→

अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षरः—

विद्या-अविद्यामयः प्राकृतात्मा सूर्यः

विज्ञानात्मा

३

सूर्यः ← ——— ←←← वाक् →→→————→ विज्ञानात्मा

(प्राकृतात्माधिकरणे विज्ञानात्माधिकरणं तृतीयम्)

गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्नः—विद्या-अविद्यामयात्मा

विश्वात्मा

१—अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां स्ताः ॥

२—अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदेवाहुरविद्यया ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥

३—विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

(ईशोपनिषद् ६, १०, ११, मन्त्र)





विज्ञानात्मस्वरूपनिदर्शन

- १— एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (खे० ६।१५) ।
- २— स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविधः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिवन्धहेतुः ॥ (खेता० ६।१६) ।
- ३— स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ (खेता० ६।१७) ।
- ४— यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ (खेता० ४।१८) ।
हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
- ५— स दाधार पृथिवीं द्यामुत्तेमां करमै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजुः) ।
यज्ञैर्यवा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।
- ६— आगा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥ (ऋक्. १।८३।५) ।
("तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्")
यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम्
- ७— अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥ (ऋ० १।३२।) ।
विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
- ८— तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ॥ (प्र० ४।११) ।
एतेषु यश्चरते आजमानेषु यथा कालं चाहृतयो ह्याददायन् ।
- ९— तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ (मुण्ड० १।३।५) ।
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽग्ने हृदयं सन्निधाय ।
- १०— तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ (मु० २।२।७) ।
हिरण्ये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ (मु० २।२।६) ।
- ११— इंसं शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्गोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्वयोमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ (क० २।५।२) ।

॥ श्रीः ॥

तमेव धीरो विज्ञाय भर्ता कुर्वीत ब्राह्मणः ।

नानुध्यायाद्बहुञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तव ॥

नीहारहारधनसारसुधाकराभां कल्पाणदां कनकचम्पकदामभूषाप् ।

उत्तङ्गपीनकुचकुम्भमनोहराङ्गीं वार्णीं नमामि मनसा वचसा विभूषै ॥



व्यक्त प्राण से स्वयम्भू प्रकट हुए, स्वयम्भूस्वरूप योनि में सुब्रह्म रूप आप रेत का आदिवराहमातरिश्वा नाम के रेतोधा द्वारा आधान होने से प्राजापत्य परमेष्ठी उत्पन्न हुए । अव्यक्त स्वयम्भू वेदाग्नि प्रधान होने से सत्य था, व्यक्त परमेष्ठी अप्रप्रधान होने से ऋत है—“ऋतमेव परमेष्ठी” । ऋत-रूप यही महद्ब्रह्म ‘अहं’ भाव की प्रतिष्ठा है, इसी आधार पर—‘अहमस्मि

प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यः’ यह कहा जाता है । इस ऋतरूप महद्योनि में तीसरे वाक् नाम के रेत की यज्ञवराहमातरिश्वा नाम के रेतोधा द्वारा आधान हुआ । इस वाक् रेत के आधान से संवत्सर का जन्म हुआ । यही संवत्सराग्नि आगे जाकर ‘सूर्य’ रूप में परिणत हुआ । संवत्सरात्मक सूर्य आपोमय परमेष्ठी समुद्र में (जो कि पारमेष्ठ्य समुद्र ‘सरस्वान्’ नाम से प्रसिद्ध है) विचरण करने वाला एक सुपर्ण (सुनहरे पंखवाला पक्षी) है । दक्षिणायन इस का दक्षिणपक्ष है, उत्तरायण इसका उत्तरपक्ष है, विषुवद्वृत्त इसका आत्मा है । चन्द्रमा, पृथिवी, चान्द्रजीव, पार्थिवजीव यह चारों सुपर्ण इस संवत्सर सुपर्ण के उदर में प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव इसे ‘महासुपर्ण’ कहा जाता है । निखिल संवत्सरात्मक इसी महासुपर्ण का निरूपण करते हुए वेदपुरुष कहते हैं—

“अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव यत् संवत्सरः । तस्य यान्युत्तरस्ताद्विषुवनः षण्मासानुपयन्ति—सोऽन्यतरः पक्षः, अथ यान् षडुपरिष्ठाव सोऽन्यतरः, आत्मा विषुवान्” (शत० ब्रा० १२।२।३।७) ।

महासुपर्णात्मक (संवत्सरात्मक) वाग्रेतोमय यह सूर्य पञ्चपर्वा विश्व के मध्य में प्रतिष्ठित है। मध्यभाग 'हृदय' (केन्द्र) कहलाता है। जिस प्रकार सर्वज्ञशरीर की प्रतिष्ठा 'हृदय' है, एवमेव पञ्चपर्वा विश्वशरीरात्मक ईश्वर के इस महाशरीर की प्रतिष्ठा हृदयरूप सूर्य ही है—
 "आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्"। यह सूर्य सावित्राग्निमय है, अग्नि को हिरण्यरेता कहा जाता है। अतएव इस सूर्यप्रजापति को 'हिरण्यगर्भप्रजापति' कहा जाता है। यही सौर पुरुष उपनिषदों में 'हिरण्यमयपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। जिस महर्षिनें सब से पहिले इस हिरण्यगर्भविज्ञान को पहिचाना, वह द्रष्टा महर्षि भी हिरण्यगर्भप्रजापति नाम से प्रसिद्ध हुए। हिरण्यगर्भ ऋषि का मत है कि सम्पूर्ण विश्व की मूल प्रतिष्ठा हिरण्यगर्भ (सूर्य) ही है। विश्व में सब से पहिले हिरण्यगर्भ का ही विकास होता है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, चन्द्रमा, पृथिवी यह चारों पर्व हिरण्यगर्भ के पश्चात् प्रकट हुए हैं। इन की आश्रयभूमि, स्वरूप संपादक एकमात्र विश्वाधिष्ठाता हिरण्यगर्भ प्रजापति ही है। उधर विश्वकर्मा स्वयम्भू के द्रष्टा, अतएव विश्वकर्मा नाम से ही प्रसिद्ध महर्षि का कहना है कि सर्वप्रथम विश्व में अव्यक्त स्वयम्भू ही सब को व्यक्त करता हुआ प्रकट होता है—
 "ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्"। परमेष्ठी—सूर्य—चन्द्रमा—पृथिवी चारों पर्व स्वयम्भू के पश्चात् प्रकट हुए हैं। इन चारों की आश्रयभूमि, स्वरूप संपादक एकमात्र विश्वाधिष्ठाता स्वयम्भू प्रजापति ही है। प्रणवविद्या के प्रथम द्रष्टा महर्षियों का कहना है कि पृथिवी ही सब की मूल प्रतिष्ठा है। सर्व प्रथम विश्व में पृथिवी ही प्रकट हुई है। पहिले भूः है, अनन्तर भुवः—स्वः (सूर्य) आदि लोकों का विकास हुआ है। स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य—चन्द्रमा यह चारों पर्व पृथिवी के पश्चात् प्रकट हुए हैं। इन चारों की आश्रयभूमि, स्वरूप संपादक एकमात्र विश्वाधिष्ठाता पार्थिवप्रजापति ही है। इस प्रकार श्रुतियों में सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में परस्पर में सर्वथा विरुद्ध तीन मत उपलब्ध होते हैं। स्वयम्भूमूलासृष्टि प्रथम मत है, सूर्यमूलासृष्टि द्वितीय मत है, पृथिवीमूलासृष्टि तृतीय मत है। स्वयं ईशोपनिषत् ने स्वयम्भूमूलासृष्टि को ही प्रधानता दी है। संहिता में तीनों ही सृष्टियों के समर्थक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट होजाता है।

१—स्वयम्भूमूलासृष्टिः प्रथमा—

१—य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदधिर्होता न्यषीदत् पिता नः ।

स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश ॥

२—किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ।

यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्गोन्महिना विश्वचक्षाः ॥

३—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुस्त विश्वतस्पात् ।

सं बाहुभ्यां धमति संपतन्नेधार्वा भूमिं जनयन् देव एकः ॥

४—या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।

शिक्षा सखिभ्यो हविषे स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥

(यजुःसं० १७अ० । १७-१८-१९-२०-२१-२२-२३-२४-मन्त्र) ।

—०:४:०—

२—सूर्यमूलासृष्टिर्द्वितीया—

१—हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजुः १३।४) ।

२—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणास्याग्रेः ।

आप्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ (यजुः १३।४६) ।

३—येन द्यौरुग्रा पृथिवी च हव्यहा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।

यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

४—प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।

यत् कामास्ते जुहुवस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

(ऋक् सं० १० मं० १२१ सू०) ।

—०:४:०—



३—पृथिवीमूलासृष्टिस्तृतीया—

१—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादः ।

स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठदशाङ्गुलम् ॥ (यजुः ३१।१।) ।

२—अदितिर्द्यौरतिरितरिन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ (ऋ. १।८६।१०)

३—“इयं वै देव्यदितिर्विश्वरूपी” (तै० ब्रा० १।७।६।७) ।

४—“इयं उ वाऽएषां लोकानां प्रथमासृज्यत” (शत० ६।५।३।१) ।

५—“इयं वै जगती, अस्यां हीदं सर्वं जगत्” (शत० ६।२।१।२६) ।

६—“पृथिव्यामिमे लोकाः (प्रतिष्ठिताः)” (ज० उ० १।१०।३) ।

—०.०.०—

इन तीनों सृष्टिविद्याओं का उपनिषदों में क्रमशः ओङ्कारविद्या (स्व० विद्या), उद्गीथ-विद्या (सूर्यविद्या), प्रणवविद्या (पृ० विद्या) इन नामों से निरूपण हुआ है। स्वयम्भू से आरम्भ मानकर पृथिवी पर अवसान मानना ओङ्कारविद्या है, सूर्य को आरम्भ स्थान मानकर उधर परमेष्ठी स्वयम्भू पर, इधर चन्द्रमा एवं पृथिवी पर पर्यवसान मानना उद्गीथविद्या है, पृथिवी को मूल मानकर स्वयम्भू पर अवसान मानना प्रणवविद्या है। स्वयम्भू विराट्पुरुष का मस्तक है, अतएव इस विद्या को ‘शिरोमूलाविद्या’ कहना चाहिए। सूर्य विराट्पुरुष का हृदय है, अतः इसे ‘हृदयमूलाविद्या’ समझना चाहिए। एवं पृथिवी पाद स्थानीया है, अतः इसे ‘पादमूलासृष्टिविद्या’ कहना चाहिए।

पुराणों में भी इसी तरह का आधार मान कर तीन प्रकार से सृष्टिविद्या का उपबृंहण किया है। “ब्रह्मा से सारे विश्व का आरम्भ हुआ है, सारा विश्व ब्राह्म है” यह पुराण

* शतपथब्राह्मण के चयनप्रकरण में पृथिवी से ही सृष्टि का आरम्भ माना गया है—(देखिए—शत० ब्रा० ६ का० ११ प्र० ११ ब्रा०) ।

का एक मत है। “विष्णु से सारे विश्व का निर्माण हुआ है, सम्पूर्ण विश्व वैष्णव है” यह दूसरा मत है। एवं—“महेश्वर (महादेव) से ही विश्व का जन्म स्थिति भंग हुआ है, सारा विश्व महेश्वर है” यह तीसरा मत है। आप ब्रह्मपुराण को अथ से इति तक देख जाइए, वहाँ विष्णु महेश्वर आदि इतर सम्पूर्ण देवताओं को गौण बतलाया गया है, ब्रह्मा को सब का आदिप्रवर्तक बतलाया गया है। इसी प्रकार विष्णुपुराण ने अथ से इति तक सब देवताओं की अपेक्षा विष्णु की प्रधानता का ही निरूपण किया है। शिवपुराण एकमात्र महेश्वर को प्रधान देवता मान रहा है। सृष्टिवाद के रहस्य को न समझने के कारण ही आज उक्त भिन्न भिन्न पुराणों के प्रमाणों को उपन्यस्त करते हुए शैव-वैष्णव मुष्टामुष्टि को ही परम पुरुषार्थ समझ रहे हैं। स्वाध्भुव ब्रह्मा ज्ञानमूर्ति है, सौर विष्णु क्रियामूर्ति है, पार्थिव शिव अर्थमूर्ति है। एक ही विराट् पुरुष के तीन अवयव हैं। त्रिमूर्ति की समष्टि ही प्रधान है।

इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त तीनों मतों में से किसे सच्चा कहा जाय ? सत्य एक हो सकता है। उधर तीनों ही मत वेदाभिमत होने से मान्य हैं। परन्तु मान्य होते हुए भी संदेह के जनक अवर्य हैं। इस संदेह की निवृत्ति के लिए आपको उपवेदभूत आयुर्वेद की शरण में जाना चाहिए। संदेहरूप प्राणान्तकज्वर को निवृत्त करना चिकित्सा-शास्त्र का ही कार्य है।

रज-शुक्र के मिथुनभाव से गर्भस्थिति होती है। आगे जाकर गर्भ क्रमशः पुष्ट होता हुआ १० मास में सर्वावषव संपन्न बन जाता है। गर्भ के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जासकता है कि गर्भ में पहिले दस्तक बनता है ? अथवा पहिले हृदय का विकास होता है ? अथवा पहिले नाभि का उदय होता है ? किंवा पहिले पकाशयगुद का आविर्भाव होता है ? इन प्रश्नों के सम्बन्ध में भिषग्वरों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुमारशिराभरद्वाज के मतानुसार पहिले कुक्षिरथ गर्भ का शिर बनता है, अनन्तर अन्य अवयवों का विकास होता है। “हृदय ही (हृदयस्थ प्रज्ञान मन ही) सब इन्द्रियों का आस्रग्वन है। जब तक हृदय का विकास नहीं होता,

१—“संशयात्मा विनश्यति” (गीता)।

तत्र तत्र चक्षुः, श्रोत्र, घ्राणादि इन्द्रियों का विकास कथमपि संभव नहीं है” इस कारण कौ आगे रखते हुए काङ्कायन बाल्हीक नाम के वैद्य मर्म में सर्वप्रथम हृदय का विकास मानते हैं। मद्रकाप्य के मतानुसार नाभि पहिला भाव है। नाभि द्वारा ही मातृभुक्त रस से मर्म की पुष्टि होती है। मद्रासनक के मतानुसार आहार के आगमन का साधन बनता हुआ पकाशयगुद ही पहिले विकसित होता है। बडिश के मतानुसार पहिले हाथ पैरों का विकास होता है। वैदेह जनक के मतानुसार पहिले इन्द्रियों का विकास होता है। मरीचि महर्षि के पुत्र अतएव मारीचि, किं वा मारीच नाम से प्रसिद्ध महर्षि कश्यप का कहना है कि यह सब परोक्ष विषय है। गर्भ का कौनसा अङ्ग पहिले बनता है ? यह इन्द्रियातीत विषय है, अतः इसके सम्बन्ध में—“इदमित्थमेव” इस प्रकार निश्चयरूप से कुछ नहीं कहा जासता। इस प्रकार इनके मतानुसार यह विषय ही अचिन्त्य है। भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं—सारे अङ्ग एक साथ बनते हैं। सभी अवयव परस्पर में अन्योऽन्याश्रित हैं। अतः इनका युगपत् ही सम्भव (उत्पत्ति) मानना ठीक होता है। इसी मत को सिद्धान्त पक्ष मानती हुई चरकसहिता कहती है—

“सर्वाङ्गनिर्घृतिर्युगपत्—इति धन्वन्तरिः। तदुपपन्नं—सिद्धत्वात्। न च तस्मात् पूर्वाभिनिर्घृतिरेषाम्। तस्माद्धृदयपूर्वाणां सर्वाङ्गानां तुल्यकालाभिनिर्घृतिः। सर्वभावा ह्यन्योऽन्यपतिवद्धाः, तस्माद्यथाभूतं दर्शनं साधु” (चरक सं० शरीर-स्थान ६ शरीरविचयाध्याय—१६ खं०)

इस प्रकार आयुर्वेद के मतानुसार आध्यात्मिकपुरुषोत्पत्ति में सभी अवयव एक साथ उत्पन्न होते हैं, तथापि सूक्ष्मक्रमानुसार कुमारशिराभरद्वाज के मतानुसार पहिले मस्तक का ही विकास मानना पड़ता है। बीजरूप से सभी अवयव समानकालीन होते हुए भी अंकुरदशा में पहिले मस्तक की ही प्रधानता है। इसी प्रकार शार्कराक्ष्य महर्षि पहिले उदर का, अरुण के पुत्र पहिले हृदय का विकास मानते हैं (ऐ० आ० २।१।४१)। इस प्रकार श्रुतियों में भी मत-वाद है। तथापि वहां सृष्टिविकासक्रममूलक मस्तकोत्पत्ति के प्राथम्य को ही प्रधान माना गया है, जैसा कि श्रुति कहती है—

“शिरो वा अपे सम्भवतः सम्भवति । चतुर्धा विहितं-

वै शिरः—प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं वाक्” (तां० ब्रा० २२।६।४।) ।

“शिरो हि प्रथमं जायमानस्य जायते” (शत० ८।२।४।१८) ।

विकास भी सबसे पहिले मस्तक का ही होता है, एवं “शीर्षतो वाऽग्रे जायमानो जायते” (शत० ३।४।१।१६) के अनुसार प्रसवकाल में भी पहिले मस्तक ही अग्रणी बनता है । शिर सचमुच सृष्टिक्रम में अग्रणी है । तभी तो जग का प्रकोप सबसे पहिले मस्तक पर ही होता है—“यस्माच्छीर्षण्येवाग्रे पलितो भवति” (शत० १।१।४।१।६।) । इसी प्रथमभाव के कारण प्रथमश्रेणि के उत्कृष्ट मनुष्य को शिरस्थानीय (मुख्य) माना जाता है । गर्भ की स्थिति हृदय से ही रहती है, हृदय ही जीवन की प्रतिष्ठा है । दृष्टिक्रम में पैरों की प्रधानता है । यही क्रम अधिदैवत में समझिए । बीजरूप से प्राण-आप वागादि पाचों प्रकृतिएं समकालीन हैं । परन्तु सृष्टि (उत्पत्ति) क्रमानुसार पहिले शिरस्थानीय स्वयम्भू का विकास होता है । इस सृष्टि-क्रम की अपेक्षा से स्वायम्भुव ब्रह्मा का ही सर्वप्रधानत्व है । ब्रह्मा ज्ञानप्रधान है । ज्ञान-अर्थ-क्रिया तीनों अन्वयोऽन्याश्रित हैं, तथापि प्राथम्य ज्ञान का ही मानना पड़ता है । विश्व की स्थिति सूर्य पर निर्भर है । सूर्य से ही महद्ब्रह्म में त्रैगुण्य भाव का उदय होता है । त्रिगुण-भावापन्न महत् जबतक है, जबतक सृष्टि है, जब तक सूर्य है, तभी तक गुणोदय है । फलतः सूर्य का विश्वस्थितिस्थापकत्व भलीभांति सिद्ध होजाता है । इस स्थितिक्रम के अनुसार सारे विश्व में सौर विश्व का ही साम्राज्य है । हमारी दृष्टि पहिले पृथिवी पर पड़ती है, अनन्तर सूर्य-चन्द्रमा-परमेष्ठी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है । इस दृष्टिक्रम के अनुसार सारे विश्व में पार्थिव महेश्वर का ही साम्राज्य है । ज्ञानप्रधान सृष्टिक्रम, कर्मप्रधान स्थितिक्रम, अर्थप्रधान दृष्टिक्रम की अपेक्षा से उक्त तीनों सृष्टिविधाओं में कोई विरोध नहीं है ।

- १-स्वयम्भूमूलसृष्टिः—शिरोमूला—सृष्टिक्रमप्रधाना ब्रह्मविद्या (उत्पत्तिमूला ओङ्कारविद्या)
- २-सूर्यमूलसृष्टिः—हृदयमूला—स्थितिक्रमप्रधाना निष्णुविद्या (स्थितिमूला—उद्गीथविद्या)
- ३-पृथिवीमूलसृष्टिः—पादमूला—दृष्टिक्रमप्रधाना महेशविद्या (नाशमूला—प्रणवविद्या)



प्रकृत प्रकरण उक्त तीनों सृष्टिधाराओं में से हिरण्यगर्भ विद्या नाम से व्यवहृत किए जाने योग्य सूर्यविद्या का ही निरूपण करता है। उसी का उपबृंहण करना प्रकृत प्रकरणार्थ है। विद्याकर्ममय अव्यय पुरुष विश्व के पांचों पर्वों में व्याप्त है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि विश्व के सभी पदार्थों में ज्ञान एवं क्रिया (कर्म) की उपलब्धि होती है, जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में विस्तार से बतजाया जा चुका है। अव्यय का विद्याभाग पदार्थों में ज्ञानरूप से प्रतिष्ठित है, कर्मभाग क्रियारूप से प्रतिष्ठित है। विश्वोपहित विद्या-कर्मभाग को 'ब्रह्म' 'कर्म' शब्दों से व्यवहृत किया जाता है, यही इसके दिव्यरूप हैं—'ब्रह्म कर्म च मे दिव्यम्'। सोपाधिक वही ब्रह्म-कर्म ज्ञान-क्रिया नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार यद्यपि स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी विश्व के इन पांचों पर्वों में (प्रत्येक में) ज्ञान-क्रियारूप से अव्यय के विद्या-कर्म-दोनों भाग प्रतिष्ठित हैं, तथापि इन दोनों की पूर्ण विकासभूमि मःयस्थ सूर्य ही माना जाता है। सूर्य विश्व का केन्द्र है, इतर पर्व परिधिस्थानीय हैं। केन्द्र में सब शक्तियों का पूर्ण विकास रहता है। सुतरां केन्द्रस्थानीय सूर्य में अव्यय के ज्ञानरूप विद्याभाग का, एवं कर्मरूप अविद्याभाग का पूर्ण विकास सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि विश्व के और किसी पर्व के लिए 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' यह न कह कर केवल सूर्य को ही विद्या-अविद्यात्मक माना गया है।

अपि च 'सहयज्ञाः प्रजासृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' (गीता ३।१०) इस सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ से ही विश्वप्रजा का निर्माण होता है। यह यज्ञ 'सुखा' 'चिन्ता' भेद से दो भागों में विभक्त है। यही दोनों यज्ञ सवन-चयन नामों से प्रसिद्ध हैं। सुखायज्ञ सोमप्रधान है, सोम का ही सवन होता है। चिन्तायज्ञ अग्निप्रधान है, अग्नि का ही चयन होता है। अग्नि में सोम की आहुति होने से अहोरात्ररूप अग्निहोत्र, कृष्ण-शुक्लपत्तरूप दशपौर्णस, ग्रीष्म-वर्षा-शीतर्तु^१रूप चातुर्मास्य, उत्तरायण-दक्षिणायनरूप पञ्चबन्ध, संवत्सररूप ज्योतिष्टोम (सोमयाग-किंवाग्रहयाग) इस क्रम से सोमयज्ञ पांचभागों में विभक्त हो जाता

है । इन पांच अवयवों के कारण ही सुत्यायज्ञ को 'पाङ्को वै यज्ञः' (शत. १।१।३।६) के अनुसार पाङ्क (पञ्चावयव) कहा जाता है । अग्नि में सोम की आहुति होने से आयतन वृद्धि नहीं होती, अपि तु स्थिति की रक्षामात्र होती है । इस प्रकार अग्नि में सोम की आहुति होने से पाङ्क सुत्यायज्ञ संपन्न होता है । निगरण किंवा विलयन इस सोमाहुतिरूप सुत्यायज्ञ किंवा सवन-यज्ञ का स्वाभाविक धर्म है । अग्नि में सोम डाल दीजिए, अग्नि उसे 'जिगत्सु' जाय्यम्, पी जा-यगा, हुत सोम का अग्नि में विलयन होजायगा, अब सोम कहीं टूटे से भी नहीं मिलेगा । दूसरा है चित्वायज्ञ । अग्नि में अग्नि की आहुति होने से इस अग्नियज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है । अग्नि अग्नि का निगरण (इज्जम) नहीं कर सकता । अतएव इस यज्ञ में आयतन की वृद्धि होती है । यह अग्नियज्ञ भी अग्नि-वायु-आदित्य-दो साध्य प्राणाग्नि के भेद से पांच ही भागों में विभक्त है । अग्निचिति से पृथिवी का, वायुचिति से अन्तरिक्ष का, आदित्यचिति से द्युलोक का स्वरूप निष्पन्न होता है । पृथिवी-अन्तरिक्ष की सन्धि में, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक की सन्धि में दो अग्नि और चित रहते हैं । इस प्रकार एक ही अग्नि अवस्था भेद से पञ्चचि-तिक बन जाता है । इस चितियज्ञ से तो वस्तु का स्वरूप निर्माण होता है, एवं उत्पन्न वस्तु की स्वरूप सत्ता सुत्यायज्ञ से होती है । प्रकारान्तर से यों समझिए कि उत्पत्ति सोमयज्ञ से होती है, पुष्टि अग्नियज्ञ से होती है, स्थिति सोमयज्ञ से होती है । आद्यन्त में सोम है, मध्य में अग्नि है । सूर्य अग्निमय है, इसके उस ओर परमेश्वर सोम है, इस ओर चान्द्र सोम है । अध्यात्मसंस्था में इस स्थिति का प्रत्यक्ष कीजिए । शुक्ल (रेत) सोम है, शोणित (येनिरूप-आर्त्तव-रज) अग्नि है । इस रजरूप योनि में वीर्यरूप सोम की आहुति होने से गर्भ का उदय होता है । इसप्रकार उत्पत्तिकाल में सोमयज्ञ की प्रधानता है । आगे जाकर क्रमशः गर्भावयव बढ़ने लगते हैं, यही अग्निचिति है । अस्थि-मांसादि की चिति ही अग्निचिति है, यही वृद्धि का कारण है । अन्नरूप सोमाहुति से इस चित्वाग्निमय शरीर पिण्ड की स्थिति रहती है । प्रातः-सायं होने वाले अनाहुतिरूप इसी दैनिक सोमयज्ञ से शरीर स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है । इसी चयन-रहस्य को लक्ष्य में रख कर वाजिभुति कहती है—

“तद्यत् पञ्च चितीश्चिनोति, एताभिरेवैनं तत्तनूभिश्चिनोति, यश्चिनोति-
तस्माच्चितयः” (शत० ६।१।२।१७)। “पञ्चतन्वो व्यसृजन्त-
लोम, त्वङ्, मांस, मस्ति, मज्जा । ता एवैताः पञ्च चितयः” (शत०-
६।१।२।१७)। “पञ्च ह्येते अग्नयो यदेताश्चितयः” (शत० ६।-
२।१।१६।१)।

उक्त दोनों यज्ञों में सुत्या, किंवा सोमयज्ञ का अधिष्ठाता आपोमय परमेष्ठी है, एवं चित्या किंवा चयनयज्ञ का अधिष्ठाता वाङ्मय सूर्य है। परमेष्ठी सोमप्रधान है, सूर्य अग्नि-प्रधान है। सुत्या सोमप्रधान है, चित्या अग्निप्रधान है। उत्पत्ति का मूल आश्रय जहां परमेष्ठी-यज्ञ (सोमयज्ञ) है, वहां विकास का मूलप्रवर्तक सूर्ययज्ञ (अग्नियज्ञ) है। जब तक उत्पन्न वस्तु चित्यरूप में परिणत नहीं होजाती, तबतक उस की उत्पत्ति अनुत्पत्ति के समान है। परमेष्ठी की उत्पादकशक्ति का विकासस्थान सूर्य है। महत्परमेष्ठी ही गर्भधारण करने वाली योनि है, परन्तु इस गर्भ का प्रजननरूप से विकास सौरसंस्था में ही होता है। इस से यह मान लेना पड़ता है कि सूर्य से ऊपर उत्पादक योनिरूप महद्ब्रह्म के रहने पर भी चित्याग्नियज्ञ के अभाव से प्रजनन कर्म का नितान्त अभाव है। भौतिक-मर्त्य प्रजा की उत्पत्ति का मूल उपक्रम सूर्य ही है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर चयनश्रुति कहती है—

“द्यौर्वाऽउत्तमाः स्वयमानृणः, आदित्य उत्तमा विश्वज्योतिः।
अर्धाचीनं तावदिवश्चादित्याच्च-ऋतुन् दधाति, तस्मादर्वाचीमेवात ऋतु
वः-अथो प्रजननम् । एतदर्वाचीनं तावदिवश्चादित्याच्च प्रजननं
दधाति, तस्मादर्वाचीनमेवातः प्रजायते । स्थितं (समाप्तं) ह्येवातः
पराक प्रजननम् । यावन्नो ह्येव सनामे देवास्तावन्तो देवाः”

(शत० ब्रा० ८ कां. । ७ अ. । १ ब्रा. ६ कं.)।

प्रजासृष्टि की उत्पत्ति समय (मौसम) पर होती है। समय का ही नाम ऋतु है। तत्तद् ऋतु विशेषों में ही तत्तद्विशेष पदार्थ उत्पन्न होते हैं। ऋतुसमष्टि ही संवत्सर है। संवत्सर

की मूलप्रतिष्ठा सूर्य है। सुतरां संवत्सरात्मक सूर्य से ही प्रजोत्पत्तिक्रम का आरम्भ सिद्ध होजाता है। चतुर्दशविध भूतसर्ग की प्रवृत्ति का आरम्भ स्थान सूर्य ही है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। सूर्य से ऊपर ऋतुओं का अभाव है, अतएव ऋतुमूलक प्रजनन कर्म का भी वहां अभाव है। जिसप्रकार सूर्य से नीचे नवीन नवीन पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं, पुराने पदार्थ नष्ट होते रहते हैं, वैसे सूर्य से ऊपर यह जन्म-मरणचक्र नहीं है। वहां तो सृष्टि के आरम्भ में जिन मौलिक साध्य देवादि का विकास हुआ था, वही विकास आज तक उसी रूप से विद्यमान है। दूसरे शब्दों में वहां परिवर्तन का अभाव है, यही बतलाने के लिए श्रुतिने—‘यावन्तो ह्येव स-नाग्रे देवास्तावन्तो देवाः (शत. ८।७।१।१) यह कहा है।

महद्ब्रह्म जिस चिदात्मा (अव्यय) को अपने गर्भ में धारण करता है, उस का पूर्ण वि-कास चितिधर्मा सूर्य में ही आकर होता है। सूर्य से ऊपर परमेष्ठी में चिदात्मा आता है, परन्तु विलयनधर्मा सोमयज्ञ के प्रभाव से वह विलीन हो जाता है, वहां केवल गर्भसत्ता है। महद्ब्रह्म के गर्भ में रहने वाले उस षोडशीपुरुष का विकास तो सूर्य में ही होता है। चिदात्मा की गर्भभूमि महद्ब्रह्म (परमेष्ठी) है, प्रजननभूमि सूर्य है। यही कारण है कि ब्रह्मा प्रकृतिक स्वयम्भू, विष्णु प्रकृतिक परमेष्ठी, सोम प्रकृतिक चन्द्रमा, अग्नि प्रकृतिक भूः, इन्द्र प्रकृतिक सूर्य इन पांचों में से इन्द्रप्रकृतिक सूर्य को ही ‘षोडशी’ कहा जाता है। क्योंकि षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध चिदात्मा का पूर्ण विकास केवल इन्द्रात्मक सूर्य में ही होता है—“असौ वै षोडशी योऽसौ (सूर्यः) तपति” (कौ.ब्रा.१७।१।)। इसी चिदात्मा के सम्बन्ध से इन्द्रतत्त्व इतर प्रकृतियों की अपेक्षा षोडशी प्रजापति की ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ सन्तान कहलाती है। पिता का वही पुत्र ज्येष्ठ-एवं श्रेष्ठ (सुपूत) कहलाता है, जो पिता के यश को द्विगुणित करता है। जिस पुत्र से पिता का यश संसार में फैलता है, वही पुत्र श्रेष्ठ माना जाता है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम भेद से षोडशी प्रजापति के पांच पुत्र हैं। इन पांचों में सर्वज्येष्ठ ब्रह्मा है, सर्वकनिष्ठ सोम है, विचला पुत्र इन्द्र (सूर्य) है, इसी पुत्रने चिदात्मारूप पिता का यश सर्वत्रिक्षोकी में फैलाया है। सूर्य के द्वारा ही विश्व में आत्मज्योति का प्रसार

हुआ है—“सूर्य आत्मा जगत्तत्पुष्यम्” । इसी सुपुत्री के कारण प्रजापतिने विश्व के सबसे ऊँचे आसन पर (हृदय सबसे ऊर्ध्व कहलाता है, एवं विश्व के हृदय में ही सूर्य प्रतिष्ठित है) प्रतिष्ठित किया है । यही इन्द्र पुत्र का सर्वज्येष्ठत्व, एवं सर्वश्रेष्ठत्व है इसी अभिप्राय से महाब्राह्मण श्रुति कहती है—

“सः (षोडशीप्रजापतिश्चिदात्मा) ऽकामयतेन्द्रो मे प्रजायां श्रेष्ठः स्यादिति । तामस्मै सृजं (विजयमान्तां) प्रसमुञ्चत् । ततो वा इन्द्राय प्रजाः श्रैष्ठ्यायातिष्ठन्त-तच्छिल्पं पश्यन्तः” (ता० ब्रा० १६।४।३।। “इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो, बलिष्ठः, सहिष्ठः, सत्तमः, पारयिष्णुतमः” (ऐ० ब्रा० ७।१६।) । सर्व वाऽ-इदमिन्द्राय तत्स्थानमास यदिदं किञ्च” (शत. ३।६।४।४) । “हृदयमेवेन्द्रः” (शत० १।२।६।१।१५) ।

त्रैलोक्य क्या है, किसी चतुर शिल्पी का सर्वोत्कृष्ट शिल्प (कारीगरी) है । वह शिल्पी वही इन्द्र है । अपने इन्द्रपुत्र के इस उत्कृष्ट शिल्प पर प्रसन्न होकर ही तो प्रजापतिने इसके गले में विजयमाल डाली है । इसके इसी शिल्प से प्रभावित होकर (इसका लोहा मानते हुए) ही तो प्रजाने इसे श्रेष्ठ माना है—“प्रजाः श्रैष्ठ्यायातिष्ठन्त तच्छिल्पं पश्यन्तः” । (१६।४।३।) । सचमुच इन्द्र ऐसी ही वस्तु है । सारा विश्व इन्द्र से पूर्ण है । त्रैलोक्य में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ ‘शुन’ नाम से प्रसिद्ध इन्द्र का साम्राज्य न हो । जिसने मय्यक्विन्दु को पहिचान लिया, उसने सब कुछ समझ लिया । इसी लिए काशिराजप्रतर्दन को इन्द्र के अभिमानी देवताने कहा है—“एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात्” (मैं मनुष्य के लिए यही परम हित समझता हूँ जो कि वह मुझे (इन्द्र को) समझ जाय) (कौ.उ.३।१) । इन्द्र की इसी सर्व-व्यापकता, एवं सर्वोत्कृष्टता का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

१—यद्यपि इन्द्र शतं ते शतं भूमिरुत स्युः ।

न त्वा वञ्चिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ (ऋक्० ८।७०।५।) ।

२—सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्वा मत्सरासः प्रमुपः साकमीरते ।

तन्तुं तत् परिसर्गास आशरो नेन्द्रादृते पवते वाम किञ्चन ॥ (ऋ. ६।६।६)

३—इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इव पर्वतानाम् ।

इन्द्रो वृषामिन्द्र इमेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ॥ (ऋ. १०।८६।१०।)

४—नकिरेन्द्र तादुत्तरो न ज्यायां अस्ति वृत्रहन् ।

नकिरेव यथा त्वम् (ऋ० ४।३०।१।) ।

प्रकारान्तर से इन्द्र की श्रेष्ठता का विचार कीजिए । अव्यय-अक्षर-क्षर की समष्टि षोडशीपुरुष है । इनमें अव्यय ज्ञानप्रधान है, अक्षर क्रियाप्रधान है, क्षर अर्थप्रधान है । ज्ञान-प्रधान अव्यय, अर्थप्रधान क्षर दोनों का मध्यपतित क्रियाप्रधान अक्षर के साथ समन्वय है । अतः अक्षर ज्ञान-क्रिया-अर्थ तीनों विभूतियों से युक्त होजाता है । पर नाम से प्रसिद्ध अव्यय केवल ज्ञानप्रधान ही है, ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध क्षर केवल अर्थप्रधान ही है, परन्तु मध्यस्थ अक्षर ज्ञान—अर्थ के संदश में पतित होता हुआ त्रिमूर्तिप्रधान है, जैसा कि कठश्रुति कहती है—

एतद्व्येवाक्षरं ब्रह्म (क्षरः) एतद्व्येवाक्षरं परम् (अव्ययः) ।

एतद्व्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ (कठ० १।२।१६) ।

स्वयम्भू परमेष्ठी अव्ययप्रधान हैं, चन्द्रमा पृथिवी क्षरप्रधान हैं, किन्तु मध्यस्थ सूर्य अक्षरप्रधान बनता हुआ परमधाम में प्रतिष्ठित अव्यय, अव्ययधाम में प्रतिष्ठित क्षर दोनों का संग्राहक बनता हुआ षोडशी बन रहा है । केवल अव्यय की दृष्टि से विचार कीजिए । अव्यय का विद्याभाग अस्मृत है, सूर्य के ऊपर इस की प्रधानता है । कर्मभाग मृत्यु है, सूर्य से नीचे इस की प्रधानता है । परन्तु मध्यस्थ सूर्य में दोनों का समन्वय है । विद्या-अविद्या दोनों के यदि आपको एक साथ दर्शन करने हैं तो इसके लिए विज्ञानधन सूर्य की ही शरण में जाना पड़ेगा । सौर कर्मभाग ही आगे जाकर आवरणरूप में परिणत होता हुआ धाप-

च्छेद बनकर 'अर्थ' नाम से व्यवहृत होने लगता है । इस प्रकार सूर्य में ज्ञान (विद्या), क्रिया (कर्म), अर्थ तीनों की सत्ता सिद्ध होजाती है । तीनों शक्तियों का सूर्य में पूर्ण विकास है । ज्ञानशक्तिमय होने से—'धियो यो नः प्रचोदयात्' (यजु. २२।१) यह कहा जाता है । क्रिया-शक्तिमय होने से—'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' (प्र. उ. १।८) यह कहा जाता है । एवं अर्थशक्तिमय होने से इस के लिए—'नूनं जनाः सूर्येण प्रमृताः अयन्नर्थानि कृण्वन्नर्पांसि' (ऋ., ७६।३।४) यह कहा जाता है । इन तीनों में अर्थ का कर्म में अन्तर्भाव है, अतः परमार्थ में ज्ञान-कर्म भेद से दो भाग ही रह जाते हैं । संसार के जितने भी कर्म हैं, सब सूर्य के कर्म भाग से सम्बन्ध रखते हैं । एवं संसार में जिनकी भी ज्ञानशक्ति है, वे सब सौरज्ज्ञान के आश्रय से सञ्चालित हैं । इस प्रकार त्रैलोक्य विधाता, सहस्रांशु, विद्या-अविद्यात्मक सूर्य भगवान् विश्व के मध्य में प्रतिष्ठित होकर प्रजापति का यश फैला रहे हैं । जिस दिन इन का लय होजायगा, उस दिन सब कुछ अनुपास्त्यतम के गर्भ में विलीन होजायगा । सूर्याभावकाल रात्र्यागम (प्रलयागम) है, सूर्यसत्ता अहरागम (सृष्ट्यागम) है । यही प्रजापति का पुत्राह है । सर्वशास्ता सूर्य उत्पन्न कैसे हुआ ? यह प्रश्न बच जाता है । इस के समाधान के लिए निम्न लिखित संवत्सरविद्या प्रकरण पर दृष्टि डालनी चाहिए ।

स्मरण कीजिए उस स्थिति का, जब कि न पृथिवी थी, न चन्द्रमा था, न सूर्य था । उस समय यदि था तो क्या था ? इस प्रश्न का समाधान करती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

“आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास । ता अकामयन्त—कथं नु प्रजायेमहीति । ता अश्राम्येस्तास्तपोऽतप्यन्त । तामु तपस्तप्यमानामु हिरण्यमाण्डं सम्बभूव । अजातो ह तर्हि संवत्सर आस । तदिदं हिरण्यमाण्डं यावत् संवत्सरस्य वेला, तावत् पर्यप्लवत । ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत् । + + + । स इदं हिरण्यमाण्डं व्यरुजत् । नाह तर्हि काचन प्रतिष्ठा-आस । तदेनमिदमेव हिरण्यमाण्डं यावत् संवत्सरस्य वेलासीत्तावदभिभूत् पर्यप्लवत । तानि वा पतन्ति ।

पश्चात्तराणि तान् पञ्चर्तनकुरुत, तऽइम पञ्चर्तवः । स एवमिमालोकान् जातान् संवत्सरे प्रजापतिरभ्युदतिष्ठत् । स सहस्रायुर्जज्ञे । + + + । स आत्मन्येव प्रजा-
तिमवत्त । + + + । स ऐक्षत प्रजापतिः—सर्वं वाऽअत्सारिषं—य इमा देवता
अष्टक्षीति—स सर्वत्सरोऽभवत् । सर्वत्सरो इ वै नामैतत्—यत् संवत्सर इति”

(शत० ११ कां० १।६) ।

“पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्यादि की उत्पत्ति से पहिले सलिल (नाम से प्रसिद्ध) पानी ही था । पानियों ने इच्छा की कि अपन कैसे उत्पन्न होंगे । इच्छानुसार उन पानियों ने तप किया, श्रम किया । इस तप-श्रम से तप्यमान पानियों में सुनहरी अण्डा उत्पन्न हुआ । उस समय तक संवत्सर उत्पन्न न हुआ था । उस समय वह हिरण्ययाण्ड वहां तक व्याप्त, जहां तक कि आज संवत्सरचक्र की सीमा है । एक वर्ष में वह (पुरभाव से युक्त होता हुआ) पुरुष बन गया । उस (आपोमय प्रजापति) ने हिरण्ययाण्ड की ओर दृष्टि डाली । उस समय (उस अण्ड में) कोई प्रतिष्ठा न थी । केवल संवत्सर की सीमा तक प्रजापति उस हिरण्ययाण्ड को लिए हुए फिरता रहा । आगे जाकर पांच अक्षरों से ऋतुएं उत्पन्न कीं । इन ऋतुओं के सहारे आपोमय प्रजापति एक वर्ष में उठ खड़ा हुआ । आगे जाकर उसने अपनी आयु के हजार वर्ष तक यज्ञ किया । (इस से प्रजा उत्पन्न हुई) प्रजाति नाम से प्रसिद्ध उस प्रजा को प्रजापति ने अपने ही शरीर पर प्रतिष्ठित किया । आगे जाकर प्रजापति ने विचार किया कि अरे ! इस प्रजनन कर्म में) अपन तो अपना सब कुछ खो बैठे । प्रजा-पति के इसी भावनमय मण्डल का नाम “सर्वत्सर” हुआ । यह सर्वत्सर ही आज “संवत्सर” नाम से प्रसिद्ध है” ।

सर्वत्र आपोमय पानी का सांभ्राज्य है । रस को “इरा” कहा जाता है । यह इरा नाम का रस ही अग्नि सम्बन्ध से घन बन जाता है । अभी प्रतिष्ठापि उत्पन्न नहीं हुआ है, केवल

प्राणमूर्ति ब्रह्माग्नि का साम्राज्य है। उस समय पानी का रस भाग सर्वथा प्रवहणशील है, घनप्रतिष्ठा का अभाव है। अतएव “सरिद्भावमयी-(प्रवहणशीला) इरा -(रसभागः) यस्याः” इस निर्वचन से पानी की वह प्राथमिक अवस्था “सरिर” नाम से प्रसिद्ध थी। पानी उस समय “सलिल” था, इसका तात्पर्य यही है कि उस समय पानी का रस भाग सरिर था। सरिर ही सलिल का द्योतक है। इधर उधर बहते रहना, यह ऋततत्त्व का स्वाभाविक धर्म है। आपोमय परमेष्ठो स्वयं ऋतरूप है, अतः इसे न्यायतः सलिल ही माना जा सकता है। अभी “वह आप सर्वथा ऋत है, सख (पिण्ड)-भाव का उदय अभी नहीं हुआ है” यही बतलाने के लिए—“आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास” यह कहा गया है। इस आपोमय महद्ब्रह्म के गर्भ में मनप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्यय गर्भी बन रहा रहा है। कामना इस का नित्यधर्म है। इसी की कामना से मातरिश्वा की कृपा से वायुरूप पानी में संघर्ष होता है। बात यह है कि ऋत परमेष्ठो का पानी वायुरूप है। यह चलवायु स्थिर मातरिश्वा-वायु से घिरा हुआ है। इस स्थिर वेष्टन के भीतर गतिधर्मी वायु अपना व्यापार करता रहता है। मातरिश्वा की सीमा तक जाकर वह वापस लौटना है। यदि सीमा न होती तो वायु को इधर-उधर निकल जाने के लिए पर्याप्त धरातल मिल जाता। उस समय संघर्ष का अवसर न आता। परन्तु पिण्डस्वरूपसमर्पक मातरिश्वा के वेष्टन से वायु को निकलने का अवसर नहीं मिलता। वह अपने गतिस्वभाव से परस्पर में टकरा जाता है। वायु के इसी संघर्ष से आग्नेयपरमाणु उत्पन्न होजाते हैं। वायु का संघर्षरूप बलप्रयोग ही—‘सहोजा’ नाम से प्रसिद्ध है। यह अग्नि इसी बल से उत्पन्न हुआ है, अतएव इसे ‘सहोजा’ कहा जाता है। इसी सहोजा अग्नि की बीजावस्था ‘वाक्’ नाम की तीसरी प्रकृति है। यह वाक्त्व वही आपका सुपरिचित, सूर्यस्वरूप-समर्पक गायत्रीमात्रिकवेद है। इसी वाग्भूत की उस आपोयोन में आहुति होने से उक्त सहोजा अग्नि उत्पन्न हुआ है। ‘अप एव ससर्जदौ ताम्र बीजमवावृजत्’ इत्यादिरूप से मनुनें जिस बीज का उल्लेख किया है, वह यही वाग्ब्रह्म है। बीजावस्थापन वाग्भूत आप में आहुत होकर संघर्ष से अग्निरूप से विकसित हुआ। सारे पामेष्ठ्य समुद्र में अग्नि परमाणुरूप

से व्याप्त होगया । मातरिश्वा द्वारा अण्ड का स्वरूप बन चुका था । इस आपोमय अण्ड में चारों ओर अग्नि ऋतरूप से भरगया । अभी पिण्ड नहीं बना, वेदल अग्निपरमाणुओं का उदब हुआ, यही हिरण्यमाण्ड कहलाया । यही अग्निपुञ्ज 'धूमकेतु' नाम से प्रसिद्ध हैं । यही धूमकेतु सूर्यपिण्ड के जनक हैं । इसी धूमकेतु का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

(१)—हरयो धूमकेतवो वातजूता उप दवि ।

यतन्ते वृथगग्नयः ॥ (ऋक् सं० ८।४३।४) ।

(२)—एतेत्ये वृथगग्नय इद्धासः सदृक्षत ।

उपसापिव केतवः ॥ (ऋक्सं ८।४३।५) ।

(३)—अप्सवग्ने साधिष्टव सौषधीरनुह्यसे ।

गर्भे सञ्जायसे पुनः ॥ (ऋक्सं० ८।४३।६) ।

(४)—यदग्ने दिविजा अग्नि, अप्सुजा सहस्रकृत ।

तं त्वा गीर्भिर्हवामहे ॥ (ऋक् सं० ८।४३।२८) ।

(५)—स नो मह्यं अग्निमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः ।

धिये वाजाय हिन्वतु ॥ (ऋक् सं० १।७।११) ।

(६)—यदयुकथा अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः ।

आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाग्ने सरुथे मा रिरषामा वयं तव ॥ (ऋ. १।६।४।११) ।

● (१)—वायु से प्रेरित धूमकेतुरूप अग्नि अन्तरिक्ष में पृथक् पृथक् मार्ग से जा रहे हैं ।

(२)—पृथक् पृथक् विचरण करने वाले वह (धूमकेतुरूप) अग्निपं होतारों द्वारा समिद्ध बनकर (यज्ञ में) प्रकट हो रहे हैं ।

(३)—हे अग्ने ! आप का निवासस्थान पानी में है । ऐसे आप ओषधियों पर अनुग्रह कर उनके गर्भ में प्रविष्ट होकर (ओषधिरूप से) उत्पन्न होते हैं ।

(४)—हे अग्ने ! आप दुलोक में, एवं पानियों में उत्पन्न होने वाले हैं । सहोन्नल से आप (नित्य) युक्त हैं । ऐसे आप की हम वाणी से स्तुति कर रहे हैं ।

(५)—(पिण्डात्मक न होने से अग्निमान-परिष्कृत-रहित-ऋतरूप-इतस्ततः व्याप्त), चन्द्रकान्ति के समान प्रकाशित वह धूमकेतु नाम का अग्नि हमारी बुद्धि एवं कर्म (ज्ञान-कर्म) के लिए प्रसन्न बनें ।

वैदिक वैज्ञानिक तत्वों का बड़ी ही प्रसाद भाषा में स्पष्टीकरण करने वाले, अपान्तरतमा महर्षि के अवतार भगवान् कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) ने अपने सुप्रसिद्ध महाभारत ग्रन्थ में उक्त धूमकेतुओं की उत्पत्ति का बड़ा स्पष्ट प्रतिपादन किया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

पुराहित मितमाकाशमनंतमचलोपमम् ॥
 नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव संबभौ ॥१॥
 ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीत्रापरं तमः ॥
 तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः ॥२॥
 यथा भाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते ॥
 तच्चाग्मसापूर्वमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः ॥३॥
 तथा सलिलसंरुद्धे नभसोऽन्ते निरन्तरे ॥
 मित्रार्थवतलं वायुः समुत्पतति क्षेपवान् ॥४॥
 स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः ॥
 आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति ॥५॥
 तस्मिन् वाय्वम्बुसंघर्षे दीप्ततेजा महाबलः ॥
 प्रादुरभूद्ध्यर्धशिखः कृत्वा निश्चिन्तितं नभः ॥६॥

(६)—हे अग्नि ! जिस समय आप वायुवर्ग सम (वायुरूप ही) घोंघों से युक्त रथ पर सवार होकर वनों को जलते हुए निकलते हैं, उस समय आप का शब्द एक महा बलिष्ठ वृषभ गर्जन जैसा हो जाता है । अनन्तर आप वनान्तर्गत सारे पदार्थों में (वृक्षादि में) अपने धूमकेतु नाम से व्याप्त हो जाते हैं । हे अग्नि ! आप के साथ मिश्रता होजाने पर हम कभी दुःख न पावें । 'हम सदा आप के हैं' (आप को ऐसी दृष्टि रख कर सदा हमारी रक्षा करनी चाहिए) ।

१-धूमकेतु का लोकभाषा में पुच्छल (पृच्छवाला) कहा जाता है । इसी का ऊर्ध्वशिखा कहा है । यह ज्योति-पुञ्ज आकाश में उदित होकर हुआ अत्यन्त ज्योतिष्मान् रहता है । इसी अभिप्राय से "कृत्वा निश्चिन्तितं नभः" यह कहा है ।

अग्निः पवनसंयुक्तः खं सभाक्षिपते जलम् ॥

सोऽग्निर्मोहतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ॥१॥

तस्याकाशं निपतितः स्नेहस्तिष्ठति यो परः ॥

स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥२॥

रसानां सर्वगन्धानां स्नेहानां प्राणिनां तथा ॥

भूमिर्योनिरिह ज्ञेया यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥३॥

(महा० शान्तिप० मोक्षध० १८३ अ०।१२लो -१७२लो.पर्यन्त)

उक्त मन्त्रवर्णन एवं व्यासवचन से पाठकों को विदित होगा कि आपोमय (वायुमय) महासमुद्र में इतस्ततः दोलायमान प्रदीप्त, सौरप्रकाशवत् प्रकाशमान ऋताग्निपुञ्ज ही धूमकेतु है । 'धूमकेतूनामेकसहस्रसंख्येति-शशिवद्भासमानास्तीव्राः' के अनुसार धूमकेतु संख्या में एकसहस्र माने जाते हैं । यही सहस्र धूमकेतु पूर्वश्रुत्युक्त-'स सहस्रायुर्जज्ञे' प्रजापति की आशु के सहस्र विभाग हैं । यही अग्निपुञ्ज सूर्यपिण्ड के उत्पादक हैं । कोई एकसा धूमकेतु (राशिमूल अग्नि) क्रमशः केन्द्र में संघातभाव को प्राप्त होता हुआ सूर्यपिण्डरूप में परिणत होगया है । वह अग्निपुञ्ज परिभ्रमणशील था, अतएव तदुत्पन्न सूर्य भी स्वस्थान पर घूमता हुआ अपने प्रभव परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है, एवं इतर धूमकेतु सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं । उच्चावच स्थान भेद से इन की परिक्रमा का काल अनन्तवर्षों में विभक्त है । घूमते घूमते धूमकेतु जब सूर्य के समीप जाता है, तभी वह हमारे दृष्टिपथ में आता है । यही इस का उदय काल माना जाता है । परिभ्रमणशील धूमकेतु से उत्पन्न सूर्य के परिभ्रमण से ही प्रवर्णशों से आगे जाकर शनि-मंगल-बृहस्पति-देवसेना-पृथिवी-बुध-मा-उर-कपिल-दशद-आदि पृथक् पृथक् अनेक अग्निगोल उत्पन्न हुए हैं । यह सब सूर्य के

हैं । सूर्य पानी के गर्भ में उत्पन्न हुआ है, अतएव इन गोलों में केन्द्र में अग्नि है, नाहर

पानी है। केन्द्रस्थ अग्नि प्रजापति है। यह अस्मदादि प्रजा निर्माण में क्रमशः विस्तृत (खर्च) होता हुआ कम हो रहा है। जिस दिन अग्नि निःशेष होजायगा, इन गोलों का आयु समाप्त होजायगा। इसी क्रम से एक दिन सूर्य भी नष्ट होजायगा, रह जायगा वही सलिलावस्थापन केवल आपोमय समुद्र। धूमकेतु उत्पन्न होगा, फिर नया सूर्य, नया विश्व बनेगा। विश्वेश्वर के इस विश्वचक्र के अनाद्यनन्त प्रवाह को कौन जानसकता है।

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्य जगतने “तेजोमेघविचार” (Nebular Hypothesis.) को प्रधानता दी है। इस सिद्धान्त के आविष्कर्ता केन्ट और लालाप्स का कहना है कि “किसी समय साग विश्व उष्ण वायुमय था। उस समय वायु-रूप विश्व चक्र की तरह चारों ओर घूम रहा था। आगे जाकर क्रमशः मध्य-भाग में घनभाव का उदय होने लगा। बाहर के भाग के सम्बन्ध बिच्छेद होजाने के कारण ज्योतिर्गोल टूट टूट कर पृथक् पृथक् होगए। ये तप्त गोले जैसे जैसे ठंडे होते गए, वैसे वैसे पिघलने गए, आगे जाकर यह घन बन गए। इनका बाह्यभाग तो कठिन होगया, एवं भीतर का भाग उष्णावस्था में रहा। इस प्रकार अन्तरिक्ष में भूगोलों की उत्पत्ति हुई”।

तुलना कीजिए पूर्व—पश्चिम विज्ञान की। दोनों में से कौन यथार्थ में प्रथम द्रष्टा है। “पहिले वायु था, वह पिण्ड बना, पिण्ड पिघल गया, फिर कठिन होगया” इस रहस्य का क्रमिक विरलेषण किसने सब से पहिले संसार के सामने रखा? उन्हीं वेद-महर्षियों ने। आकाश से वायु, वायु से घन अग्नि, घन अग्नि से तरल पानी, तरल पानी से पुनः घन (पृथिवी) भाव—इस क्रम के (तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अपद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नं, अन्नात् पुरुषः) प्रथम आविष्कर्ता हैं, हम कुपूतों के पिता पितामह। जिन की कि सन्तानें वेद का तिरस्कार कर आज के विज्ञान युग में उन विज्ञानामिमानियों से पद-दक्षित हो रही हैं। व्याकरण—न्याय—आप का उद्धार नहीं कर सकते, उद्धारक है—एक मात्र वेद ! वैदिक विज्ञान !! “वेद एव द्विजस्तीनां निःश्रेयसकरः परः”।

प्रकृत का अनुसरण कीजिए । आपोमय (वायुमय) प्रजापति के गर्भ में धूमकेतुरूप हिरण्यगण्ड से आगे जाकर पिण्डात्मक सूर्य का जन्म हुआ, ऋतुओं का विकास हुआ, प्रजापति प्रजानिर्माण में युक्त होकर 'संवत्सर' रूप संवत्सररूप में परिणत हो गए । गायत्रीमात्रिक-वेदघन, प्रकृतिवाक्य, इन्द्राक्षरमय संवत्सराभिधृता यही सूर्य सत्य का अवतार है । पिण्डात्मिक-मय होने से ही यह सत्य है । आपोमय परमेष्ठी सर्वप्रथम इसी सत्य को अपने गर्भ में धारण करता है । सूर्य पानी की गहराई में प्रतिष्ठित है—“अपां गमन्त्सीद्” (शत० ७।५।१।८) । इसी सत्य सूर्य का निरूपण करते हुए निम्न लिखित श्रौतवचन हमारे सामने आते हैं—

१.—“तद्यत् तत् सत्त्वं त्रयी सा विद्या” (शत० ६।५।१।१८) ।

२.—“तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म” (शत० २।१।४।१०) ।

३.—“सत्यमेष य एष तपति” (शत० १।४।१।२) ।

४.—“आपो वै (सौर)-देवानां प्रियं धाम” (तै० ब्रा० ३।२।४।२) ।

उत्पन्न होकर यह हिरण्यगण्ड चारों ओर समुद्र में घूमने लगा । आगे क्या हुआ ? सुनिष्ट । आजदिन 'संवत्सर' शब्द को कालवाचक समझा जा रहा है । यदि किसी विद्वान् से 'संवत्सर' शब्द अर्थ पूछा जाता है तो वह उत्तर में ३६० दिन के वाचक 'वर्ष' शब्द को प्रश्नकर्ता के सामने रख देता है । वस्तुतः संवत्सर शब्द काल का वाचक नहीं है, अपि तु अग्नि का वाचक है । इस संवत्सराग्नि के ही पञ्चैतरेण पांच विवर्त हैं । जिस मार्ग पर पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है, वह मार्ग क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है । इस क्रान्ति-मण्डल में व्याप्त जो सौर अग्नि है, उसी का नाम संवत्सर है । यह क्रान्तिवृत्त ही संवत्सर की बेला (परिधि—तट—अन्तिम सीमा) है । सूर्य से पृथिवी उत्पन्न होती है । उत्पन्न होकर सूर्य के चारों ओर घूमने लगती है । ऐसी परिस्थिति में अग्नि उत्पन्न हो तब तो सूर्य का स्वरूप सम्पन्न हो, सूर्य हो तब पृथिवी बनें, पृथिवी हो तब संवत्सराग्नि की सीमा हो । इसी अभिप्राय से सूर्योत्पत्तिकाल की स्थिति को लक्ष्य में रखकर पूर्वश्रुति ने “उस समय संवत्सर न था,

आज जो तुम संवत्सर की वेलों देख रहे हो, वहाँ तक केवल अग्नि भरा हुआ था, एवं वह बड़े वेग से घूम रहा था” यह कहा है। पृथिवी एक वर्ष में इस अग्न्यात्मक संवत्सर के चारों ओर घूम आती है, इसलिए संवत्सर शब्द वर्ष का वाचक समझा हुआ काल का वाचक बन गया है। अस्तुतः संवत्सर अग्नि का ही वाचक है।

सूर्य का जन्म हुआ, विद्या—कर्ममय चिदात्मा का विकास हुआ। सारा विश्व आलोकित एवं पुलकित होगया। सूर्य में जो इन्द्रभाग है वह तो कर्म है, एवं चेतना भाग विद्या है। सौर इन्द्र रूपज्योति का (प्रकाश का) अधिष्ठाता है। इसी ज्योति को भूतज्योति कहते हैं। विद्याभाग ज्ञानज्योति है। दोनों में अनुग्राह्य—अनुग्राहक सम्बन्ध है। भूतज्योति ज्ञानज्योति पर प्रतिष्ठित है, ज्ञानज्योति भूतज्योति के आधार पर विकसित है।

हमारी बुद्धि जैसे अध्यात्मसंस्था को प्रकाशित करने वाला मूर्ख है, एवमेव वह सूर्य आधिदैविकसंस्था को प्रकाशित करने वाली (ईश्वर की) बुद्धि है। इसमें अविद्या—विद्या दोनों भावों का साम्राज्य है, अत एव इसमें ज्योति और तम का उदय होजाता है। दोनों भाव (प्रत्येक) चार चार भागों में विभक्त हैं। ज्योतिर्लक्षण विद्या भाग धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, इन चार भागों में विभक्त है, एवं तमोलक्षण अविद्याभाग अशर्म—अज्ञान—आसक्ति—अनैश्वर्य इन चार भागों में विभक्त है। यही सांख्यमिमत ‘अष्टौ बुद्धयः’ है। विद्या का चतुर्धा विभक्त ज्योतिर्भाग अव्यय के विद्याभाग का, एवं अविद्या का चतुर्धा विभक्त तमोभाग अव्यय के अविद्याभाग का अनुग्राहक है।

प्राकृतिक नित्य नियमसंघ का ही नाम धर्म है, जैसा कि पुरुषात्माधिकरण में विस्तार से बताया जा चुका है—(देखिए ई० वि० भा० पृ०) प्राकृतिक विश्व को प्रकाशित रखने वाली चेतना ज्ञान है। उस विज्योति का सारे भूतों के गर्भ में प्रविष्ट रहते हुए भी भूतलोप से असङ्ग है, यही वैराग्य है। सर्वत्र आतिरूप से निक्षिप्त रहने वाली नाम-रूप

* इस विषय का विषद विवेचन ‘गीताविज्ञानभाष्य’ में देखना चाहिए।

की समष्टि 'ऐश्वर्य' है। नियनर्धर्म को आवृत करने वाला पाप्मा 'अयर्म' है। ज्ञानज्योति को आवृत करने वाला पाप्मा अज्ञान है। पदार्थों में ग्रन्थिवन्धन डालने वाला, रागद्वेष उत्पन्न करने वाला पाप्मा आसक्ति है। आत्मज्योति को आवृत कर उसे जड़रूप में परिणत कर देने वाला पाप्मा 'अनैश्वर्य' है। ईश्वर के शरीर में (सूर्य के सम्बन्ध से) दोनों का सम्बन्ध है। सूर्य अपने प्राङ्प्राण से विद्याचतुष्टयीरूप दैवीसम्पत् का प्रवर्तक बनता है, एवं अवाङ्प्राण से अविद्याचतुष्टयीरूप आसुरीसंपत् का जनक बनता है, जैसा कि वाजसनेय श्रुति कहती है-

“स आस्येनैव (मुख्यप्राणात्मकप्राङ्प्राणेनैव) देवान् सृजन । ते देवा दिवमभि-
पद्य-असृज्यन्त, तद्देवानां देवत्वं-यदिवमभिपद्यासृज्यन्त । तस्मै सृजमानाय
दिवेवास । + + + + । अथ योऽयमवाङ्प्राणः-तेनासुरान्सृज्यत । त इमा
मेव पृथिवीमभिपद्यासृज्यन्त । तस्मै सृजमानाय तम इवा स” । + + + + ।
तस्मादेतद्दृष्टिणाऽभ्यनृक्तं—

‘न त्वं युयुत्से कतमच्च नाहर्नतेऽमित्रो मयान् कश्च नास्ति ।

मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाच्च शत्रुं न नु पुरा युयुत्से ॥”

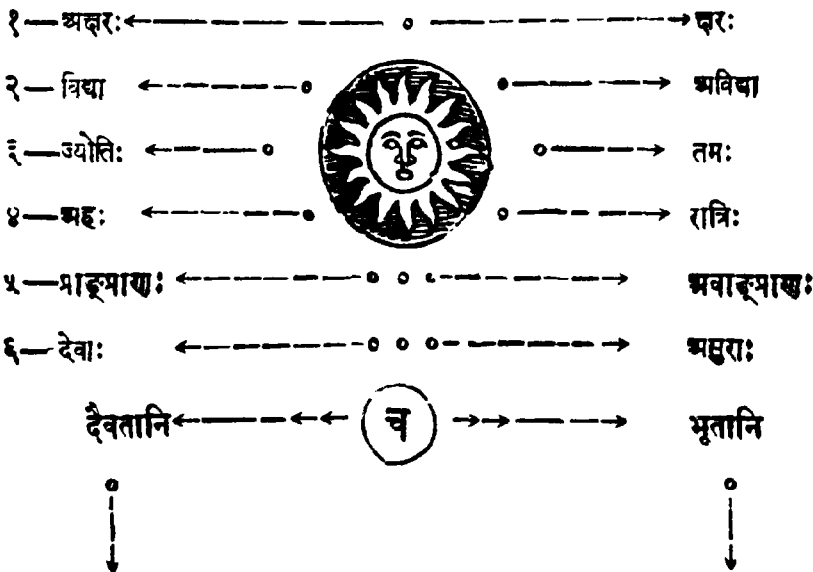
(शत० ११ कां० । १।६।७-८) ।

उक्त श्रुति इन्द्रात्मक सूर्य प्रजापति से ही देव-असुर सृष्टि की प्रवृत्ति बतला रही है। “देवता और असुर दोनों सूर्य (इन्द्र) की सन्तान हैं। ऐसी अवस्था में जो इन्द्र का असुरों के साथ युद्ध बतलाया जाता है, वह असंगत है” उक्त मन्त्रश्रुतिने इसी अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। पृथिवी के सम्बन्ध से सूर्य में अहोरात्रभाव का उदय होता है। अहःकाल में सौर प्राण नामक प्राण की प्रधानता रहती है, रात्रि में पार्थिव अपानप्राण की प्रधानता रहती है, इसी को अवाङ्प्राण कहा जाता है। पृथिवी सूर्य का ही उपग्रह है, अतः पार्थिव अवाङ्प्राण को

१—इस विषय का विशद विवेचन शतपथवेदान्तभाष्य के अध्या० ४ भूदेवता निरूपण प्रकरण के सौ-
रदेवताप्रकरण में देखना चाहिए।

सूर्य का ही अवाङ्प्राण मान लिया जाता है। पृथिवी में अविद्यारूप क्षरभाग की प्रधानता है, यह पार्थिवभाग क्षरप्रधान बनता हुआ भूतप्रधान है। सूर्य में विद्यारूप अक्षरभाग की प्रधानता है। यह सौरभाग अक्षरप्रधान बनता हुआ प्राणप्रधान है। भूतमयी पृथिवी की परिक्रमा से प्राणप्रधान सूर्य तमोमय आसुरीविभूति का आरम्भक बनता है। संवत्सरात्मक ज्योतिर्मय प्राङ्-प्राण से वही सूर्य दैवीविभूति का स्वरूप समर्पक बनता है। दिन में सूर्य की दैवीविभूति का, एवं रात्रि में आसुरीविभूति का साम्राज्य है, जैसा कि श्रुतिने—“स यदस्मै देवान् ससृजानाय दिवेवास, तदहरकुरुत । अथ यदस्मा असुरान् ससृजानाय तम इवास, तां रात्रिमकुरुत । तेऽअहोरात्रे” इत्यादि रूप से आगे जाकर स्पष्ट कर दिया है।

सम्पत्परिलेखः—



दैवीसम्पत् विद्याचतुष्टयी	देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः	आसुरीसम्पत् अविद्याचतुष्टयी

सूर्यगत विद्या (ज्ञान)-भाग स्वस्वरूप से एकरूप ही है । केवल पार्थिवभूत के सम्बन्ध से ही इसके चार विवर्त होजाते हैं । पार्थिवभूत पाप्मारूप होने से अविद्याप्रधान है । यह भूतभाग ही आत्मा को नियति से च्युत करता हुआ अधर्म का कारण बनता है। वही चिज्योति का आवरक बनता हुआ अज्ञान का, राग-द्वेष का मूल बनता हुआ आसक्ति का, एवं आत्मविकास का प्रतिद्वन्द्वी होता हुआ अनैश्वर्य का प्रवर्तक बनता है । संसार में जितने अधर्म होते हैं, जितना अज्ञान है, जितनी आसक्ति है, जितना विकासाभाव है, उन सब की जड़ सांसारिक अर्थसम्पत्ति ही है । इन चार उपाधियों के कारण स्वस्वरूप से सर्वथा निरुपाधिक वह विद्याभाग भी चार भागों में विभक्त होजाता है । इस प्रकार केवल भूत की कृपा से एक ही बुद्धि आठ स्वरूप धारण कर लेती है ।

विद्याबुद्ध्यः

अविद्याबुद्ध्यः

- १—धर्म → → → १ अधर्म
 २—ज्ञान → → → २ अज्ञान
 ३—वैराग्य → → → ३ आसक्ति
 ४—ऐश्वर्य → → → ४ अनैश्वर्य



चार अविद्या विपर्ययो के मूल पांच हैं । अभिनिवेश से अधर्म का उदय होता है । जिसे हठ-दुराग्रह कहा जाता है, वही अभिनिवेश है । “गुरुपदेश-शास्त्र-लोकमर्यादा-आदि कुछ नहीं है । जो कुछ हम समझते हैं, वही ठीक है । हम भी मनुष्य हैं । हम अपना अच्छा बुरा स्वयं समझ सकते हैं” । इस प्रकार अपने आपको सर्वे सर्वा समझ कर कल्पित सिद्धान्त बनाकर उत्पन्न गमन काना अभिनिवेश है । संसार में और सब रोगों की चिकित्सा संभव है, परन्तु ‘हम नहीं मानते’ कहने वालों की चिकित्सा स्वयं ब्रह्मा भी नहीं कर सकते- ‘न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्’ । अर्द्धज्ञान ही अभिनिवेश का जनक है ।

सर्वार्थ मूर्ख को समझाया जा सकता है, विद्वान् सरलता से युक्तिसंगत बात को मान लेता है । परन्तु अर्द्धशिक्षितों का अनुरञ्जन असंभव है । ज्ञानलवदुर्विदग्ध अचिकित्स्य हैं । आज भारतवर्ष में इसी अभिनिवेश का साम्राज्य है । सभी शिक्षित माने जाते हैं, परन्तु सभी पूर्ण अभिनिविष्ट हैं । शास्त्र की मर्यादा भी यही समझते हैं । शास्त्रों में क्या है ? इस के निर्णायक भी यही हैं, फिर चाहे संस्कृतवाङ्मय शास्त्र में इनका चञ्चुप्रवेश भी न हो । युगधर्म के रहस्य वेत्ता भी यही हैं । तभी तो देश क्रमशः उन्नति करता जा रहा है । कहना यह है कि अभिनिवेश अधर्मबुद्धि का जनक है, अधर्म नाश का कारण है । शिक्षा का अभाव अज्ञान का कारण है । बिना शास्त्राध्ययन के ज्ञान का आवरण नहीं हटता । रागद्वेष आसक्ति के जनक हैं, अस्मिता अनैश्वर्य की माता है । जो व्यक्ति निरन्तर 'हमारे पास कुछ नहीं है'—'कुछ नहीं है' करता रहता है, वह शीघ्र ही सारी विभूति खो बैठता है । विकास स्मित- (खिलना) भाव है । अपने आत्मा में सब कुछ विभूति समझना स्मितलक्षण ऐश्वर्य का कारण है । प्रत्येक दशा में अल्पता का अनुभव करना अस्मिता लक्षण अनैश्वर्य है ।

१—अभिनिवेश से—अधर्म

२—अविद्या से —अज्ञान

३—रागद्वेष से —आसक्ति

४—अस्मिता से —अनैश्वर्य

पूर्व कथनानुसार ईश्वर के शरीर में पूर्वोक्त आठ विवर्त हैं । उस में दैवीसंपत् भी है, आसुरीसंपत् भी है । तद्यपि वह स्वरूप से सदा विकसित रहता है । कारण इस का यही है कि वह समत्वयोग का अधिष्ठाता बना हुआ है । उसमें अविद्या है अवरय, अन्यथा अविद्यामूलक संसार कैसे किससे उत्पन्न होता । परन्तु समत्वयोग के प्रभाव से वह कर्ममय विश्व में लिप्त होता हुआ भी अलिप्त है । अविद्यायुक्त होता हुआ भी अविद्या से अपरामृष्ट (असंग) है—“केशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः” (पातञ्जल-योगदर्शन) ।

“सप्त वै देवस्वर्गाः” के अनुसार देवस्वर्ग सात भागों में विभक्त हैं। इन सातों देवस्वर्गों की प्रतिष्ठा सूर्य ही है, अतएव सूर्य के लिए—“मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः” (शत. ६।७।४।-११) “स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमम्” (यजु. सं. २०।२१-शत. १।२।१२६) इत्यादि कहा जाता है। इन सात देवस्वर्गों के अतिरिक्त तीन विष्टपस्वर्ग और हैं। यह तीनों क्रमशः ब्रह्मविष्टप, विष्णुविष्टप, इन्द्रविष्टप नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों की समष्टि ‘त्रिविष्टपस्वर्ग’ है। पृथ्वी के १७ वें अर्हर्ण से आरम्भ कर २५ वें अर्हर्ण तक जो एक प्राकृतिक यज्ञ हो रहा है, वही नवाहयज्ञ (१-७-८-९-१०-११-१२-१३-१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१-२२-२३-२४-२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१-३२-३३-३४-३५-३६-३७-३८-३९-४०-४१-४२-४३-४४-४५-४६-४७-४८-४९-५०-५१-५२-५३-५४-५५-५६-५७-५८-५९-६०-६१-६२-६३-६४-६५-६६-६७-६८-६९-७०-७१-७२-७३-७४-७५-७६-७७-७८-७९-८०-८१-८२-८३-८४-८५-८६-८७-८८-८९-९०-९१-९२-९३-९४-९५-९६-९७-९८-९९-१००-१०१-१०२-१०३-१०४-१०५-१०६-१०७-१०८-१०९-११०-१११-११२-११३-११४-११५-११६-११७-११८-११९-१२०-१२१-१२२-१२३-१२४-१२५-१२६-१२७-१२८-१२९-१३०-१३१-१३२-१३३-१३४-१३५-१३६-१३७-१३८-१३९-१४०-१४१-१४२-१४३-१४४-१४५-१४६-१४७-१४८-१४९-१५०-१५१-१५२-१५३-१५४-१५५-१५६-१५७-१५८-१५९-१६०-१६१-१६२-१६३-१६४-१६५-१६६-१६७-१६८-१६९-१७०-१७१-१७२-१७३-१७४-१७५-१७६-१७७-१७८-१७९-१८०-१८१-१८२-१८३-१८४-१८५-१८६-१८७-१८८-१८९-१९०-१९१-१९२-१९३-१९४-१९५-१९६-१९७-१९८-१९९-२००-२०१-२०२-२०३-२०४-२०५-२०६-२०७-२०८-२०९-२१०-२११-२१२-२१३-२१४-२१५-२१६-२१७-२१८-२१९-२२०-२२१-२२२-२२३-२२४-२२५-२२६-२२७-२२८-२२९-२३०-२३१-२३२-२३३-२३४-२३५-२३६-२३७-२३८-२३९-२४०-२४१-२४२-२४३-२४४-२४५-२४६-२४७-२४८-२४९-२५०-२५१-२५२-२५३-२५४-२५५-२५६-२५७-२५८-२५९-२६०-२६१-२६२-२६३-२६४-२६५-२६६-२६७-२६८-२६९-२७०-२७१-२७२-२७३-२७४-२७५-२७६-२७७-२७८-२७९-२८०-२८१-२८२-२८३-२८४-२८५-२८६-२८७-२८८-२८९-२९०-२९१-२९२-२९३-२९४-२९५-२९६-२९७-२९८-२९९-३००-३०१-३०२-३०३-३०४-३०५-३०६-३०७-३०८-३०९-३१०-३११-३१२-३१३-३१४-३१५-३१६-३१७-३१८-३१९-३२०-३२१-३२२-३२३-३२४-३२५-३२६-३२७-३२८-३२९-३३०-३३१-३३२-३३३-३३४-३३५-३३६-३३७-३३८-३३९-३४०-३४१-३४२-३४३-३४४-३४५-३४६-३४७-३४८-३४९-३५०-३५१-३५२-३५३-३५४-३५५-३५६-३५७-३५८-३५९-३६०-३६१-३६२-३६३-३६४-३६५-३६६-३६७-३६८-३६९-३७०-३७१-३७२-३७३-३७४-३७५-३७६-३७७-३७८-३७९-३८०-३८१-३८२-३८३-३८४-३८५-३८६-३८७-३८८-३८९-३९०-३९१-३९२-३९३-३९४-३९५-३९६-३९७-३९८-३९९-४००-४०१-४०२-४०३-४०४-४०५-४०६-४०७-४०८-४०९-४१०-४११-४१२-४१३-४१४-४१५-४१६-४१७-४१८-४१९-४२०-४२१-४२२-४२३-४२४-४२५-४२६-४२७-४२८-४२९-४३०-४३१-४३२-४३३-४३४-४३५-४३६-४३७-४३८-४३९-४४०-४४१-४४२-४४३-४४४-४४५-४४६-४४७-४४८-४४९-४५०-४५१-४५२-४५३-४५४-४५५-४५६-४५७-४५८-४५९-४६०-४६१-४६२-४६३-४६४-४६५-४६६-४६७-४६८-४६९-४७०-४७१-४७२-४७३-४७४-४७५-४७६-४७७-४७८-४७९-४८०-४८१-४८२-४८३-४८४-४८५-४८६-४८७-४८८-४८९-४९०-४९१-४९२-४९३-४९४-४९५-४९६-४९७-४९८-४९९-५००-५०१-५०२-५०३-५०४-५०५-५०६-५०७-५०८-५०९-५१०-५११-५१२-५१३-५१४-५१५-५१६-५१७-५१८-५१९-५२०-५२१-५२२-५२३-५२४-५२५-५२६-५२७-५२८-५२९-५३०-५३१-५३२-५३३-५३४-५३५-५३६-५३७-५३८-५३९-५४०-५४१-५४२-५४३-५४४-५४५-५४६-५४७-५४८-५४९-५५०-५५१-५५२-५५३-५५४-५५५-५५६-५५७-५५८-५५९-५६०-५६१-५६२-५६३-५६४-५६५-५६६-५६७-५६८-५६९-५७०-५७१-५७२-५७३-५७४-५७५-५७६-५७७-५७८-५७९-५८०-५८१-५८२-५८३-५८४-५८५-५८६-५८७-५८८-५८९-५९०-५९१-५९२-५९३-५९४-५९५-५९६-५९७-५९८-५९९-६००-६०१-६०२-६०३-६०४-६०५-६०६-६०७-६०८-६०९-६१०-६११-६१२-६१३-६१४-६१५-६१६-६१७-६१८-६१९-६२०-६२१-६२२-६२३-६२४-६२५-६२६-६२७-६२८-६२९-६३०-६३१-६३२-६३३-६३४-६३५-६३६-६३७-६३८-६३९-६४०-६४१-६४२-६४३-६४४-६४५-६४६-६४७-६४८-६४९-६५०-६५१-६५२-६५३-६५४-६५५-६५६-६५७-६५८-६५९-६६०-६६१-६६२-६६३-६६४-६६५-६६६-६६७-६६८-६६९-६७०-६७१-६७२-६७३-६७४-६७५-६७६-६७७-६७८-६७९-६८०-६८१-६८२-६८३-६८४-६८५-६८६-६८७-६८८-६८९-६९०-६९१-६९२-६९३-६९४-६९५-६९६-६९७-६९८-६९९-७००-७०१-७०२-७०३-७०४-७०५-७०६-७०७-७०८-७०९-७१०-७११-७१२-७१३-७१४-७१५-७१६-७१७-७१८-७१९-७२०-७२१-७२२-७२३-७२४-७२५-७२६-७२७-७२८-७२९-७३०-७३१-७३२-७३३-७३४-७३५-७३६-७३७-७३८-७३९-७४०-७४१-७४२-७४३-७४४-७४५-७४६-७४७-७४८-७४९-७५०-७५१-७५२-७५३-७५४-७५५-७५६-७५७-७५८-७५९-७६०-७६१-७६२-७६३-७६४-७६५-७६६-७६७-७६८-७६९-७७०-७७१-७७२-७७३-७७४-७७५-७७६-७७७-७७८-७७९-७८०-७८१-७८२-७८३-७८४-७८५-७८६-७८७-७८८-७८९-७९०-७९१-७९२-७९३-७९४-७९५-७९६-७९७-७९८-७९९-८००-८०१-८०२-८०३-८०४-८०५-८०६-८०७-८०८-८०९-८१०-८११-८१२-८१३-८१४-८१५-८१६-८१७-८१८-८१९-८२०-८२१-८२२-८२३-८२४-८२५-८२६-८२७-८२८-८२९-८३०-८३१-८३२-८३३-८३४-८३५-८३६-८३७-८३८-८३९-८४०-८४१-८४२-८४३-८४४-८४५-८४६-८४७-८४८-८४९-८५०-८५१-८५२-८५३-८५४-८५५-८५६-८५७-८५८-८५९-८६०-८६१-८६२-८६३-८६४-८६५-८६६-८६७-८६८-८६९-८७०-८७१-८७२-८७३-८७४-८७५-८७६-८७७-८७८-८७९-८८०-८८१-८८२-८८३-८८४-८८५-८८६-८८७-८८८-८८९-८९०-८९१-८९२-८९३-८९४-८९५-८९६-८९७-८९८-८९९-९००-९०१-९०२-९०३-९०४-९०५-९०६-९०७-९०८-९०९-९१०-९११-९१२-९१३-९१४-९१५-९१६-९१७-९१८-९१९-९२०-९२१-९२२-९२३-९२४-९२५-९२६-९२७-९२८-९२९-९३०-९३१-९३२-९३३-९३४-९३५-९३६-९३७-९३८-९३९-९४०-९४१-९४२-९४३-९४४-९४५-९४६-९४७-९४८-९४९-९५०-९५१-९५२-९५३-९५४-९५५-९५६-९५७-९५८-९५९-९६०-९६१-९६२-९६३-९६४-९६५-९६६-९६७-९६८-९६९-९७०-९७१-९७२-९७३-९७४-९७५-९७६-९७७-९७८-९७९-९८०-९८१-९८२-९८३-९८४-९८५-९८६-९८७-९८८-९८९-९९०-९९१-९९२-९९३-९९४-९९५-९९६-९९७-९९८-९९९-१०००) इन अर्हर्णों की समष्टिरूप) नाम से प्रसिद्ध है। इस नवाहयज्ञ के केन्द्र में (२१ वें अर्हर्ण में) नवाहयज्ञाधिष्ठाता सूर्य प्रतिष्ठित है। पृथिवी के ३३ अर्हर्णों में से किस अर्हर्ण पर सूर्य प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१—“एकविंशो वै स्वर्गो लोकः” (शत० १०।५।४।६)।

२—“एकविंशो वै इतः स्वर्गो लोकः” (तै० ब्रा० ३।१।२।५।७)

३—“एष एवकविंशो य एष (सूर्यः) तपति” (शत० ५।५।३।४)।

संवत्सरात्मक सूर्य की प्रतिष्ठा यही नवाहयज्ञ है। १७ तक पृथिवी का अपना प्राण है, १७-से २५ तक सौर संवत्सर का साम्राज्य है, इसी आधार पर—“नवाहो वै संवत्सरस्य प्रतिमा” (षड्विं. ब्रा. ३।१२।) यह कहा जाता है। ४ अर्हर्ण सूर्य से नीचे हैं, एवं ४ अर्हर्ण सूर्य से ऊपर हैं। इन दोनों चतुष्टोमों की प्रतिष्ठा एकविंशस्तोमात्मक सूर्य ही है—“एकविंशो वै चतुष्टोमः स्तोमानां परमः” (कौ० ब्रा० १।१।६) “प्रतिष्ठा वा एकविंशः स्तोमानाम्” (तां० ब्रा० ३।७।२)। इन में १७ वां स्तोम ब्रह्मविष्टप कहलाता है। यहां तक पाथिव अग्निप्रजापति की प्रधानता रहती है। वही सप्तदशस्तोमस्थ अग्नि—‘प्रजापतिः सप्तदशः’ (ऐ० ब्रा० ८।४) के अनुसार प्रजापति कहलाता है। यही अग्नि ‘ग्राहवनीय’ नाम से प्रसिद्ध है—(देखिए ऐ० ब्रा० ४।२४-२६)। सप्तदशस्तोमस्थ इस ग्राहवनीय अग्नि में सोम-

की आहुति होती है । इस आहुति से यह अग्नि प्रज्वलित होकर २१ एकविंश स्तोम तक व्याप्त होजाता है । इसी सोमाहुति के प्रभाव से पार्थिव यज्ञ की एकविंश तक व्याप्ति मानी जाती है । इस यज्ञात्मक विष्णु के-विष्टु (६), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१) यह तीन विक्रम हैं । इन्हीं तीनों विक्रमों से (अक्रमणों से) वामनविष्णु ६-१५-२१ रूप पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ इन तीनों लोकों में व्याप्त हो जाते हैं । २१ पर विष्णु की व्याप्ति समान है । यही २१ वां स्थान 'विष्णुविष्टप' कहलाता है—“तान् विष्णुरेकविंशेन स्तोमेनाप्नोत्” (तै० ब्रा०-२।७।१४।२) । इसी विष्णुविष्टप को ब्रध्नयविष्टप् स्वाराज्ययज्ञ आदि नामों से भी व्यवहृत किया जाता है—(देखिए तै० ब्रा० ३।८।१८।३) । यही स्वर्ग-नाकस्वर्ग नाम से भी प्रसिद्ध है । २१ से २५ तक इन्द्र विद्युत् का साम्राज्य है । इसी को सौम्यविद्युत् कहा जाता है । यही सौम्यविद्युत् उपनिषदों में—‘अमानवपुरुष’ नाम से प्रसिद्ध है । यही तीसरा इन्द्रविष्टप है । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि २५ से २१ तक इन्द्र की प्रधानता है, २१ से १७ तक विष्णु की प्रधानता है, एवं १७ से १ तक पार्थिव ब्रह्मा की प्रधानता है । पार्थिव ब्रह्मा की मूलप्रतिष्ठा १७ वां स्तोम है, विष्णु की मूलप्रतिष्ठा २१ वां स्तोम है, एवं सौम्यविद्युत् रूप इन्द्र की प्रतिष्ठा पञ्चविंशस्तोम है । इस प्रकार १७ से २५ तक के स्तोमों में से—१७-२१-२५ तीन तो विष्टपस्वर्गों में समाविष्ट हो जाते हैं । शेष रह जाते हैं— $\frac{1}{2}, \frac{1}{4}, \frac{1}{8}, \frac{1}{16}, \frac{1}{32}, \frac{1}{64}$ यह ६ स्तोम । इन के साथ में २१ वें का सम्बन्ध माना जाता है । यह २१ वां भिन्न है, विष्णुविष्टप वाला २५वां भिन्न है । इस भिन्नता का कारण अग्नि और विष्णु है । १८ से २४ तक रुद्रग्याग्नि नाम से प्रसिद्ध नाचिकेताग्नि का साम्राज्य है । सुनरां मध्यपतित २१ वें स्तोम में भी नाचिकेताग्नि की सत्ता सिद्ध होजाती है । इस नाचिकेताग्नि के सम्बन्ध से २१ वां ऋहर्गण देवस्वर्गकोटि में प्रविष्ट है । उधर २१ पर विष्णु का भी प्रभुत्व है । विष्णु के सम्बन्ध से वह २१ वां विष्टप स्वर्गकोटि में भी प्रविष्ट है । इस प्रकार २१ के दो स्वरूप हो जाते हैं । यही सात देवस्वर्गों की मूलप्रतिष्ठा है । १८-१९-२० यह तीन देवस्वर्ग २१ से ऊपर हैं, २२-२३-२४ यह तीन देवस्वर्ग २१ से ऊपर हैं, स्वयं २१ वां सातवें देवस्वर्ग है । यही तीन-तीन स्तोम सामविद्या के

अनुसार 'स्वरसाम' नाम से प्रसिद्ध हैं । इन्हीं के कारण सूर्यग्रहण होता है, जैसा कि अन्य ग्रहों में स्पष्ट है । यही सप्त स्वर्गसमष्टि 'त्रिणाचिकेतस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध है । यह सातों स्वर्ग क्रमशः अपोदक्, ऋतधामा, अपराजित, नाक, अभिद्यौ, प्रद्यौ, रोचन, इन नामों से प्रसिद्ध हैं । १८ से २४ तक व्याप्त रहने वाले एक ही अग्नि की सात भिन्न भिन्न अवस्थाएं हो जाती हैं । अग्नि की वे ही सातों अवस्थाएं क्रमशः—अग्नि, वायु, इन्द्र, आदित्य, वरुण, मृत्यु, ब्रह्मा, इन नामों से प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार सप्तदेवस्वर्ग—तीन विष्टप स्वर्ग—इन सब की समष्टिरूप नवाहयज्ञ की प्रतिमारूप सौराग्निमय संवत्सर अचलरूप से खड़ा हुआ है । इस संवत्सर में सभी स्वर्गों का समावेश है । दूसरे शब्दों में यहां स्वर्गों का टीला (पर्वत) है । अतएव इसे स्वर्गधरुण कहा जाता है । मिट्टी-पाषाण आदि का जो एक उन्नत समूह होता है, उसे प्रान्तीय भाषा में टीला कहा जाता है । इसी के लिए वेद भाषा में 'धरुण' शब्द प्रयुक्त हुआ है । संवत्सर क्या है, स्वर्ग का धरुण है । प्रतिष्ठातृत्व को ही धरुण कहा जाता है । सौर संवत्सर ही त्रैलोक्य की प्रतिष्ठा है । इस प्रतिष्ठा की भी मूलप्रतिष्ठा एकविंशस्थ आदित्य है, अतएव इसे भी 'धरुण' शब्द से व्यवहृत किया जाता है, जैसा कि वाजिश्रुति कहती है—

“असावेवादिद्यौ धरुण एकविंशः । तद्यत्तमाह धरुणमिति, यदाहोवैषो-
ऽस्तमेति—अथेदं सर्वं ध्रियते” (शत० ८।४।१।१२) । “प्रतिष्ठा वै
धरुणम्” (शत० ७।४।१।५) ।

संवत्सर स्वरूप धरुण (प्रतिष्ठा) है, इसलिए भी इसे स्वर्गधरुण कहा जा सकता है । यही स्वर्गधरुण अथर्ववेद में 'स्कम्भ' (धम्बा) नाम से व्यवहृत हुआ है—“स्कम्भे सर्वं प्रति-
ष्ठितः” (अथर्वसं० १०।४।७।३०) । यह अग्निस्कम्भ (संवत्सर) अविचाली रूप से खड़ा है । यही बाबा-पृथिवी का आत्मन्य है । इस स्कम्भरूप स्वर्गधरुण के ऊपर (केन्द्र में) स्थिररूप से सूर्य तप रहा है । संवत्सरचक्र आग्नेय है । यही एकचक्रात्मक (एक पहिए वाला) अग्निमय-

मण्डल सूर्य का सुनहरी रय है । गायत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप्-बृहती-पङ्क्ति-त्रिष्टुप्-ज-गती नाम से प्रसिद्ध सात छन्द (सात पूर्वापरवृत्त, किंवा अहोरात्रवृत्त) रय के सात घोड़े हैं । इन घोड़ों पर सूर्य सवार है । इस प्रकार नीचे स्वर्गधरुणरूप स्तम्भ, उस पर घोड़े, उस पर सूर्य प्रतिष्ठित है । इसी सूर्य को-‘अशमापृश्नि’ कहा जाता है ॥ अशमा नाम के ध्रुव सोम की आहुति से ही सूर्य ज्योतिर्मय बन रहा है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

महत्तत् सोमो महिषश्चकारापां यदग्भोऽवृणीत देवान् ।

अदधादिन्द्रे पवमानि ओजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥

(ऋक् सं० ११७।४१) ।

इसी सोमाहुति से सूर्य में सप्तवर्णात्मिका रश्मियों का उदय होता है । सप्तवर्ण समष्टि ही (चित्र विचित्र वर्णों का समुच्चय ही) पृश्नि है । इसी अशमा और पृश्नि भाव के कारण सूर्य को ‘अशमापृश्नि’ कहा जाता है । अपि च जिस प्रकार एक अशमा (पत्थर) स्थिर होता है, इसी प्रकार सूर्य स्वरूप से अशमाखण (पाषाणलोष्ठ) की तरह स्थिर है, सूर्य का रश्मि-मण्डल पृश्नि है । पिण्डापेक्षया सूर्य अशमा है, मण्डलापेक्षया पृश्नि है । इस अशमापृश्नि सौरमण्डल के साथ उत्ता, समुद्र, अरुष, सुपर्ण इन चार भागों का सम्बन्ध है । उत्ता शब्द वृषभ (बैल) का वाचक है, समुद्र शब्द पानी का वाचक है, अरुष शब्द पुरुष का वाचक है, एवं सुपर्ण शब्द पक्षी का वाचक है । सूर्य साक्षात् वृषभ है—‘वृषभो रोरवीति’ । रस-उपरस-धातु-उपधातु-विष-उपविषादि की वृद्धि सूर्य से ही होती है, इसी वर्षण कर्म से इसे ‘वृषभ’ कहा जाता है । अपि च यही गौप्राण गौपशु का आरम्भक है । तात्पर्य यह है कि केवल वर्षणशील होने से ही सूर्य वृषभ नहीं है, अपि तु गौप्राणवच्छेदेन सचमुच वृषभ (गौ) रूप है । सौर रश्मियों के संवर्ष से मरीचि नाम का पानी उत्पन्न होता है । सारा रौदसी त्रैलोक्य इस पानी से व्याप्त है । जैसे परमेश्वर समुद्र सरस्वान् कहलाता है, तथैव संक्रान्तराशिवाला वह सौर रौदसी समुद्र अर्णव नाम से प्रसिद्ध है—‘ततः समुद्रो अर्णवः समुद्रोदकेष्वधिसेव-

त्सरे अजायत' (ऋक्सं. १०।१६०।१-२)। अपि च वर्षा का अधिष्ठाता होने से भी आदित्य समुद्रा-
त्मक है। सूर्य ही एकमात्र वृष्टि का अधिष्ठाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।

त आवृष्टवन्तसदनादनस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥

(ऋक् सं० ११६४ अश्वामीम सूत्र ४७ मं०)

‘यदा खल्वसावादित्यो न्यङ् ररिमभिः पर्यावर्तने—अथ वर्षति’ इत्यादि ब्राह्मणश्रुति, एवं
‘आदित्याज्जायते वृष्टिः’ इत्यादि स्मृति भी उक्त अर्थ का ही स्पष्टीकरण करती है। पुरुष
शब्द षोडशी आत्मा का वाचक है। पूर्व में बतलाया जा चुका है कि विश्वकेन्द्रभूत सूर्य में ही
पुरुष का विकास होता है। इसी आत्मपुरुष को लक्ष्य में रखकर ‘योऽसावादित्ये पुरुषः
सोऽहम्’ यह कहा जाता है। त्रैलोक्य में जितना भी पुरुष (आत्म) विवर्त है, सब का
अधिष्ठाता पुरुषावच्छिन्न सूर्य ही है। गरुड़ पक्षी का जैसा आकार होता है, ठीक वैसा ही
आकार सौर सक्तर का है। अतएव पूर्व में संक्तर को—‘महामुपर्ण’ (त्रैलोक्य व्याप्त गरुड़
पक्षी) कहा गया है। आत्मा इसी सुपर्ण का अंश है, अतएव प्रयाणकाल में आत्मा भी
सुपर्ण नाम से ही व्यवहृत होता है। यह प्रेतरूप सुपर्ण (जीवात्मा) लोकान्तर में पञ्चिव
संचरण करता है। सुमसिद्ध गरुड़पुराण इसी आत्मगति रहस्य का निरूपण करता है। इस
प्रकार उच्चा—(वृषभ), समुद्र (अर्णव), अरुष (पुरुष), सुपर्ण—(संक्तर) इन चार भावों
से नित्य आक्रान्त वह अरमापृश्नि सूर्य ब्रुलोक में उसी प्रकार खड़ा हुआ है, जैसे कि आकाश
में निराधार (किन्तु स्वशक्ति से आधारयुक्त) विमान (वायुयान) खड़ा रहता है। रोदसी
त्रैलोक्य में व्याप्त इसी विमान का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

विमान एष दिवो मध्य आस्ते आ प्रविशन् रोदसी अन्तरिक्षम् ।

स विश्वाचीरभिचेष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम् ॥ (यजुः सं० १७।५६)।

उच्चा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योमि पितुराविवेश ।

मध्ये दिवो निहितः पृथिरश्मा विचक्रमे रजसस्थात्यन्तौ ॥ (ऋक्० ५।४७।१)।

“असौ वा आदित्योऽश्मा पृथ्विः । रश्मिभिर्हि भण्डलं पृथ्विः । एष इमौ लोका-
वन्तरेण तपति । स्थिरो वा अश्मा पृथ्विः, अन्तरेमं च लोकममुंच । विक्रम-
माणो वा एष एषां लोकानामन्तात् पाति” (शत० ६।२।१७) ।

उपर्युक्त आधिदैविक स्वर्गधरुण केवल ज्ञानगम्य है, मन से उपास्य है । चर्मचक्षु से अश्मापृथ्विरूप सूर्य के अतिरिक्त आप स्वर्गधरुण के और किसी अवयव को नहीं देख सकते । जिस समय भूमण्डल पर देवयुग का साम्राज्य था, उस समय देवताओं ने (मनुष्यविध भौम-देवताओं ने—जिनकी कि सत्ता आज सर्वथा उच्छिन्न हो चुकी है) भौमस्वर्ग प्रदेश में उस प्राकृतिक (आधिदैविक) स्वर्गधरुण की नकल में ठीक वैसा ही एक स्वर्गधरुण बनाया था । इसी प्रकार विज्ञानतरङ्गों की परीक्षा के लिए सिन्धु नद के उस पार सरस्वती नदी के समीप के टीले पर (जहां पर कि वसिष्ठ महर्षि का आश्रम था) एक विज्ञानभवन बनाया था । यही विज्ञानभवन ‘सूर्यसदन’ नाम से प्रसिद्ध हुआ है । ‘द्वेते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः’ (ऋक्० १०।८५।१६) इत्यादि रूपसे ऋग्वेद संहिता में इसका बड़ा विशद निरूपण है । यह भी प्रकृति की नकल पर ही बनाया गया था । विस्तारभय से इस का निरूपण प्रकृत में अनपेक्षित है । इस प्रकार उस समय की कलाओं में स्वर्गधरुण और सूर्यसदन को सर्वोच्च स्थान दिया जाता था । दुष्टबुद्धि असुरों की कृपा से आज भूमण्डल उक्त दोनों विभूतियों से वञ्चित हो गया है । योड़े से शब्दों में स्वर्गधरुण की भी गाथा सुन लीजिए ।

जिस प्रकार प्रकृति में विष्टपादि स्वर्ग बतलाए गए हैं, इसी प्रकार भौम ब्रह्मा द्वारा इस भूपिण्ड पर विष्टपादि स्वर्ग व्यवस्था व्यवस्थित हुई थी । इशानक्रोण में सौवीरराष्ट्र के अधि-ष्ठाता भौम इन्द्र का साम्राज्य था । जो भाग आज साइबीरिया (Siberia) नाम से प्रसिद्ध है, जिस भाग में आज तुषार वर्षण का (बर्फ का) साम्राज्य है, जहां नरदिसक नितान्त असम्य कुछ एक जंगली मनुष्य, एवं कुछ एक बर्फीले पशु पक्षियों को छोड़कर कुछ नहीं है, वही का मध्य भाग किसी समय ‘अयरावती’ नाम से प्रसिद्ध था । यही देवाधिपति इन्द्र अपनी

मुधर्मासभा में निर्णय किया करते थे । यहीं मेरुशृङ्ग नाम का दो मस्तक, एक ग्रीवा वाला अद्भुत स्वर्गीय पक्षी था, यहीं सवाह्यः हाथ वाले 'शेमाथ' नाम के हाथी होते थे । इस प्रकार देवयुग में उक्त स्थान मानव सभ्यता का सर्वोच्चतम स्थान बना हुआ था । ओर ओर सब देव स्थानों पर अधिकार कर लेने पर भी अमर इस दिशा में आक्रमण न कर सके । अतः यह 'अपराजितादिक्' नाम से प्रसिद्ध हुई । यही ऐन्द्रधाम पुराण में 'इन्द्रविष्टप' था । प्राग्मेरु (पामीर) पर कान्तिमतीसभा युक्त प्राग्ज्योतिष नगर में ब्रह्मविष्टप था । एवं उत्तर दिशा में इन्द्रः ब्रह्मः के मध्य में ध्रुव से नीचे के प्रदेश में भद्रगिरि-चन्द्रगिरि नाम से प्रसिद्ध दोनों पर्वतों के मध्य में विष्णुविष्टप था । इन तीनों की समष्टि ही उस समय 'त्रिविष्टपस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध थी । इनमें ब्रह्म और विष्णुविष्टप के मध्य में मेरु से उत्तर १७ अंश पर चौथा ब्रह्मस्यविष्टप था । यही देवताओं की देवयजन भूमि थी । देवता यहीं यज्ञ किया करते थे । उत्तर रूस में जो भील आज के भुवनकोप (भूगोल) में 'बालकश' नाम से प्रसिद्ध है, वही देवयुग में 'प्राची सरस्वती' नाम से प्रसिद्ध थी । देवतालोग इसी नदी में अवमृत्स्नान (यज्ञान्तस्नान) किया करते थे, यही स्थान ब्रह्मस्यविष्टप था, यहीं स्वर्गधरुण था । यही स्वर्ग का परिचायक था । यहां से चारों ओर रास्ता जाता था । ईशान की ओर इन्द्रविष्टप का मार्ग, उत्तर की ओर विष्णुविष्टप का मार्ग, पश्चिम की ओर ब्रह्मविष्टप का मार्ग, एवं दक्षिण की ओर पितृमार्ग था । जिसे आज 'मंगोलिया' कहा जाता है, वही हमारा 'प्रद्यौ' नाम का पितृलोक था । इस प्रकार चारों ओर गमन के मार्गों से युक्त इसी (चतुष्पथ-चौराहा) में स्वर्गधरुण खड़ा था । चतुष्पथ के ठीक बीच में एक चोकोर ऊंचा चबूतरा बनाया गया, इस पर बड़े शिल्प से (नीचे से बड़ा, ऊपर से क्रमशः छोटा) एक पत्थर का स्तम्भ खड़ा किया गया, यही अग्निमा था । इस अग्निमा के सर्वोच्च धरातल पर प्रकृतिवत् (एको अश्वो वहति सप्तनामा-ऋक् ० १ १६४।३।) धातु का एक अश्व बनाकर उसके सुवर्ण के सात मस्तक बनाए गए ।

इस सप्तमुख अश्व के पृष्ठ पर एक दण्ड खड़ा कर उस पर चमकता हुआ रश्मियुक्त सूर्य प्रतिष्ठित किया गया । रश्मिप्रसार के कारण ही इस का पृश्नि नाम रखा गया । यह बनावटी

सूर्य दिन-रात समान रूप से प्रकाशित रहता था। चारों मार्गों के पथिकों को मार्ग बतलाना इसका मुख्य काम था ! सब से नीचे चबूतरे के चारों ओर एक चतुर्भुज मण्डल बनाया गया था। इस मण्डल के चारों कोणों में क्रमशः उत्ता-समुद्र-अरुण-मुष्ण यह चार वस्तुएं प्रतिष्ठित की गई थीं। एक कोण में पाषाण का वृषभ (बैल) खड़ा किया गया था। दूसरे कोण में बैल से ठीक नीचे एक गरुड पक्षी था। इस की आकृति ऐसी बनाई गई थी, जैसे सोमापहरण के लिए यह ऋषाटा मार रहा हो। तीसरे कोणमें अरुण पर एक मनुष्य बनाया गया था। उसके हाथ में एक भाला था, और वह भाला भूगर्भ में प्रविष्ट था। जिस स्थान पर भाला गड़ा हुआ था, वहां से पानी निकल कर चौथे कोण में बने हुए समुद्र (सगेवर) में निरन्तर जाता रहता था। इसी पानी से वह तालाब सदा भरा रहता था। आश्चर्य यह था कि भाले से निकले हुए पानी के निरन्तर आने पर भी उस तालाब में से (और किसी मार्ग से पानी के बाहर निकलने का द्वार न होते हुए भी) पानी अपना नियत सीमा का उल्लंघन नहीं करता था। देवाधिपति इन्द्र के इस शिल्प से उस समय सास विष्व चकित था। आधिदैविक स्वर्गधरुण की इस प्रतिमा से इन्द्र का यश सर्वत्र व्याप्त होगया था। इसी प्रतिमारूप भौतिक धरुण का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

इन्द्रो दीर्घाय चतुर्से आसूर्य रोदयद्वि ।

वि गोभिरद्रिभैरयमत् । (ऋक्सं० १।७।३१) ।

इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्या विश्वा वेद सवना इन्ति शुष्णम् ।

महीं चिद्ग्रामननोत् सूर्येण चास्कम्भ चिक्कम्भनेन स्कम्भनीयान् ॥

(ऋक्सं० १०।१११।५१) ।

आगे के परिलेख से स्वर्गधरुण की प्रतिमा का उक्त स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इन्द्र के प्रतिमा शिल्प से तत्कालीन प्रजानें इन्हें सर्वश्रेष्ठ माना था, जैसा कि 'ततो वा इन्द्राय प्रजाः श्रेष्ठयायातिष्ठन्त-तच्छिल्पं पश्यन्त्यः' इत्यादि रूप से पूर्व में कहा जा चुका है।

विज्ञानधनसूर्यप्रकरण के सम्बन्ध से तत् सम्बन्धी संवत्सरात्मक स्वर्गधरुण का दिग्दर्शन

कराया गया, अब पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं। यद्यपि विश्व की योनि महद्ब्रह्म ही है, तथापि जब तक वाङ्मय सूर्य का इस के साथ सम्बन्ध नहीं हो जाता, तब तक यह सृष्टि करने में असमर्थ ही रहता है। कारण इसका यही है कि सृष्टि की प्रवृत्ति सत्त्व-रज-तम इन गुणों के आधार पर होती है। इन तीनों में भी सृष्टि का प्रधान मूल रजोगुण ही है। ज्ञानप्रधान सत्त्वगुण निष्क्रिय होने से, अर्थप्रधान तमोगुण जड़ होने से व्यापारमूला सक्रियसृष्टि में असमर्थ है। समर्थ है एकमात्र मध्यपतित क्रियाप्रधान रजोगुण। विश्व का मूल रज है। इस रज के साथ यदि सत्त्व की प्रधानता रहती है तो सात्त्विकी सृष्टि होती है, तम की प्रधानता से तामसी सृष्टि होती है, स्वयं रज की प्रधानता से रजोमयी सृष्टि होती है। ज्ञानतत्त्व ज्योतिर्मय होने से शुभ्र (शुक्ल) माना जाता है, तम आवरणरूप होने से कृष्ण माना जाता है, एवं मध्यपतित रज 'रक्त' है। यही सृष्टि में प्रधानरूप से अनुगृह्य है—'रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये'। महत् प्रकृति इन शुक्ल-रक्त-कृष्ण भावों से युक्त अज पुरुष की अजा है। दूसरे शब्दों में 'मम योनिर्पहद ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' के अनुसार स्वप्रकृतिभूत, अतएव 'अजा' नाम से प्रसिद्ध इस महत् प्रकृति से युक्त होकर ही अजपुरुष सृष्टि किया करता है। जैसा कि—'अजापेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानाः सरूपाः' (श्वेता० ४।५) इत्यादि से स्पष्ट है। बतलाना यह है कि सृष्टि महद्ब्रह्म के त्रैगुण्यभाव पर निर्भर है, एवं यह त्रिगुणता सूर्य के दर्शपूर्णमास यज्ञ से उत्पन्न होती है, जैसा कि पूर्व के महदात्मा-धिकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। सूर्य ज्ञान-क्रिया-अर्थ-मूर्ति है। यही तीनों भाव महद्ब्रह्म में सत्त्व-रज-तम रूप से विकसित होते हैं। सत्त्व-रज-तम तीनों ही गुण हैं, विषमावस्था में जाते हुए तीनों ही दोष हैं। सत्त्व ज्ञानभाग को विकसित करता है, इस से (ज्ञानोदय से) आनन्द आता है। सत्त्व का प्रवर्तक सूर्य ही है, अतएव—'सत्त्वादधि महानात्मा' इत्यादि रूप से बुद्धिरूप सूर्य को, किंवा सूर्यरूपा बुद्धि को 'सत्त्व' कहा जाता है—(देखिए कठोप० ६।७)। जिस जीवात्मा में सत्त्व की प्रधानता रहती है, उसमें ज्ञान और आनन्द (आत्मानन्द) कला का विकास रहता है। सत्त्व (विद्याभाग) अव्ययात्मा के विद्यारूप आनन्द

विज्ञान को विकसित करता है। जो धीर सदा प्रसन्न रहते हैं, विचारशील हैं, बुद्धिमान् हैं, उनमें सत्त्व की ही प्रधानता है। यह सदा ज्ञान से ही परिश्रम करते हैं। इनसे शरीरगयास नहीं हो सकता। जिस में कर्मप्रवणता अधिक है, काश्य कर्मों में, सांसारिक धर्मों में जो रात दिन प्रवृत्त रहता है, उस में रजोगुण की प्रधानता समझिए। एवं प्रमाद-भ्रान्त्य-अतिनिद्रा-अतिभोजन-निरर्थक कालयापन-यह सब तमोगुण का चमत्कार है। (देखिए गीता० १४-अ० १६, ७, ८ श्लो०)। इस प्रकार उक्त तीनों गुण प्रकृति से (सौर दर्शपूर्णमास द्वारा) उत्पन्न होकर देहस्थित जीवावयव को बंधन में डाल देते हैं, जैसाकि स्मृति कहती है—

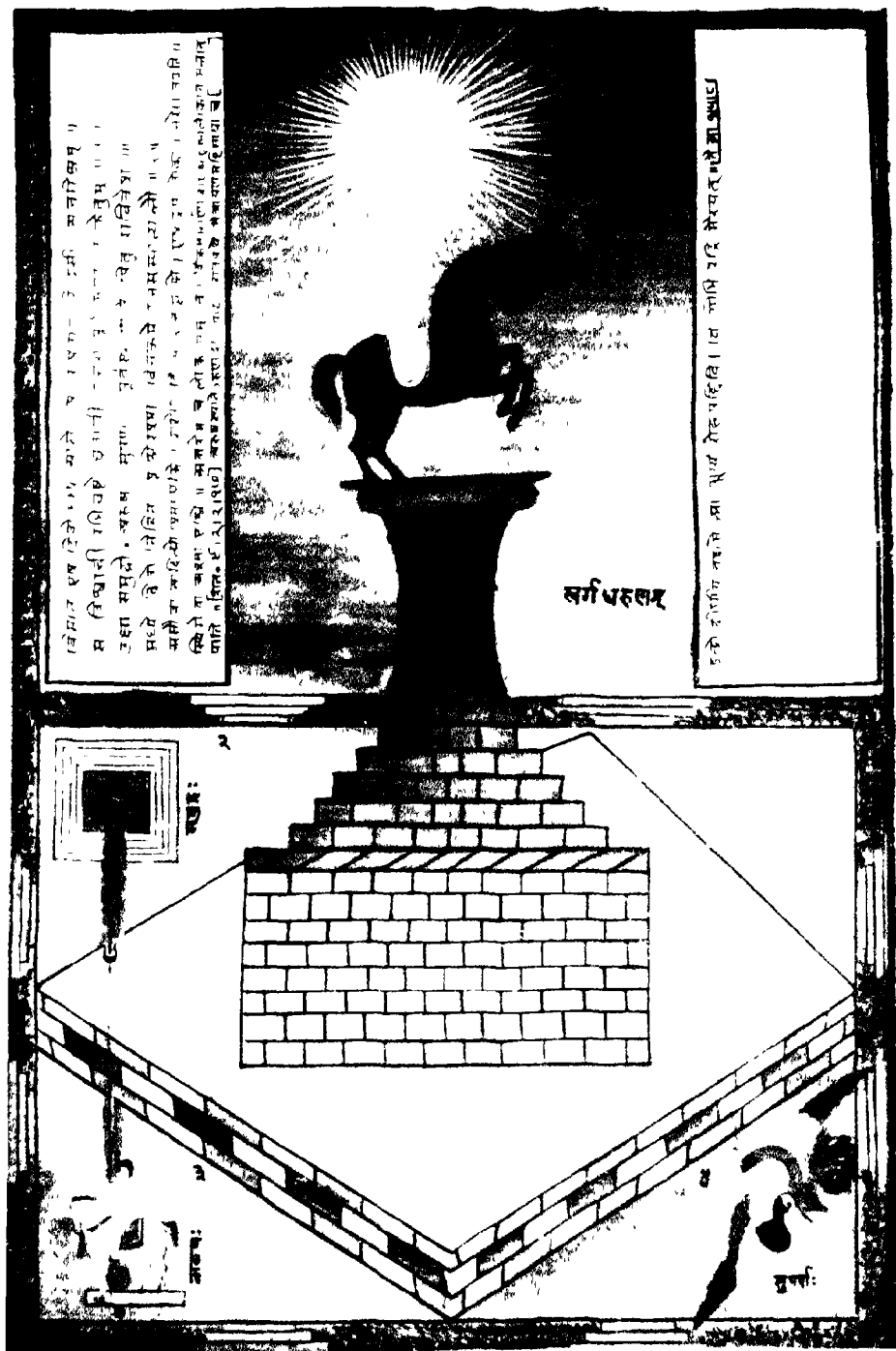
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।

निबन्धन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ (गीता० १४।५।)

इस प्रकार आपोयोनि में वाग्रेत से उत्पन्न, महद्ब्रह्म में त्रैगुण्य का उदय करने वाला, अक्षररूप, अव्यय-क्षर के विद्या-अविद्या से उभयरूप बने हुए लोकद्रष्टा सहस्रांशु भगवान् विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित हो रहे हैं। अध्यात्मसंस्था में आने वाला वही सौर भाग 'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। आधिदैविक विज्ञानात्मा (सूर्य) का निरूपण समाप्त हुआ, अब आध्यात्मिक सूर्य (विज्ञानात्मा) का दिग्दर्शन कराया जाता है।

विद्या-अविद्यात्मक यह सूर्य अध्यात्मजगत् में—'विज्ञानात्मा' 'बुद्धि' 'चानुपपुरुष' 'क्षेत्रज्ञात्मा' आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। प्रत्येक आत्मा के साथ प्रभव, प्रतिष्ठा, योनि, आशय, इन चार चार भावों का सम्बन्ध है। अध्यात्मसंस्था में जितने भी आत्मविवर्त्त हैं, सब के प्रभवादि भिन्न भिन्न हैं। आध्यात्मिक आत्माओं का उत्पत्तिस्थान प्रभव कहलाता है। जिस द्वार से यह शरीर में प्रविष्ट होने हैं, वह द्वार ही योनि है। आकर शरीर के जिस स्थान में यह उक्थरूप से प्रतिष्ठित होते हैं, वही प्रतिष्ठा है। एवं अर्क रूप से जहां तक यह व्याप्त रहते हैं, वही व्याप्ति स्थान आशय है। प्रसंगागत इन का भी दिग्दर्शन करा देना अप्राकृतिक न होगा। सब से पहिले आध्यात्मिक षोडशी पुरुष पर ही दृष्टि डालिए। आध्यात्मिक

ईशोपनिषत्--विज्ञानभाष्य



स्वर्गधरलक्ष्

षोडशी पुरुष का प्रभव सर्वव्यापक ईश्वर का षोडशी पुरुष (स्व. पर. सू. चं. पृ. इस त्रैलोक्य-रूप एक ब्रह्मा का अधिष्ठाता षोडशी पुरुष) है। यह उसी का अंश है। कहीं कहीं शुक्र को भी इस का प्रभव माना गया है। शुक्र का निरूपण पूर्व प्रकरण में विस्तार से किया जा चुका है। अतः इस सम्बन्ध में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि ब्रह्म सुब्रह्म की समष्टि-रूपा विद्या-काम-कर्ममयी अविद्या ही शुक्र है, यही वेद है। अध्यात्म में पहिले वेद का जन्म होता है, वेद से योगमाया प्रादुर्भूत होती है, योगमाया से जीवाव्यय प्रकट होता है। वेदमयी शुक्ररूपा योगमाया ही व्यापक षोडशी को परिच्छिन्न जीवषोडशी का प्रभव बनाने में समर्थ बनती है। ऐसी परिस्थिति में शुक्र-योगमाया ईश्वराव्यय तीनों को ही जीवषोडशी का प्रभव माना जा सकता है। महानात्मा इस की योनि है। महत्सोम के द्वारा ही यह अध्यात्म-संस्था में प्रविष्ट होता है। परमाकाश सर्वोपरि है, इस के भीतर पुराणाकाश, इस में बहिराकाश, इस में शरीराकाश, इस में हृदयाकाश, सर्वान्तरतम दहराकाश (दम्भाकाश) है। यही उक्थरूप से आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। अर्क रूप से यह लोम-नखाग्रों को छोड़कर सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त है। इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर इस का आशय है।

दूसरा है शान्तात्मा नाम से प्रसिद्ध 'अव्यक्तात्मा'। स्वयम्भू इस का प्रभव है, शिरोगुहा योनि है, प्रतिष्ठा हृदय है, आशय है सर्वाङ्गशरीर। तीसरा महानात्मा है। इस का प्रभव परमेष्ठी है, योनि शुक्र है, प्रतिष्ठा हृदय है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। चौथा विज्ञानात्मा है। इस का प्रभव सूर्य है, योनि केशान्त नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मरन्ध्र है। यही 'नान्दनद्वा' (नान्दनद्वार) नाम से प्रसिद्ध है। प्रतिष्ठा हृदय है। आशय सर्वाङ्गशरीर है। पांचवां प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रियमन) है। इस का प्रभव पार्थिवान्नगर्भित चान्द्र सोम है, योनि शुक्र है, प्रतिष्ठा हृदय है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। ६ ठा इन्द्रियवर्ग है। इस में वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन पांचों के क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्सोम, भास्वरसोम यह पांच देवता प्रभव हैं। प्रज्ञा-प्राणावच्छिन्न प्रज्ञानमन योनि है। मुखगोल-नासिकागोल-चक्षु-गोल-श्रोत्रगोल-ब्रह्मरन्ध्र यह पांच स्थान इन पांचों की प्रतिष्ठा हैं। एवं यही नियत स्थान

इन के आशय हैं । सातवां शरीर है । पञ्चभौतिक शरीर के पाँचों भूत प्रभव हैं, उत्पत्तिकाल में शुक्र-शोणित इन भूतों की योनि हैं । उत्पत्त्यनन्तर पञ्चभूतसमष्टिरूप पञ्चविध अन्न (अन्न-जल-गर्मी-वायु-शब्द) योनि हैं, इन्हीं के द्वारा भूतों का आगमन होता है । आशय सर्वाङ्गशरीर है । आठवां प्राणात्मा नाम से प्रसिद्ध कर्मात्मा है । इस की वैश्वानर तैजस प्राज्ञ यह तीन कलाएं हैं । इन में वैश्वानर का प्रभव त्रिवृतस्तोमस्थानीय पार्थिव चितेनि-धेयाम्नि है, योनि नाभि है, प्रतिष्ठा दक्षिणपार्श्व है, आशय सर्वाङ्गशरीर है । आन्तरि-क्ष्य पञ्चदशस्तोमस्थानीय वायु तैजसात्मा का प्रभव है, हृदय से निकल कर कण्ठ तक व्याप्त रहने वाली तेजोनाड़ी योनि है, हृदय प्रतिष्ठा है, आशय सर्वाङ्गशरीर है । एक-विंशस्तोमावच्छिन्न दिव्य आदि (इन्द्र) प्राज्ञ का प्रभव है, सुषुम्णानाड़ी योनि है, भ्रूसंधि प्रतिष्ठा है, आशय सर्वाङ्गशरीर है । इन सब में प्रतिष्ठा भिन्न भिन्न बतलाई गई है, परन्तु अन्न इन सब की सामान्य प्रतिष्ठा है—‘सर्वमेवे प्रनिष्ठितम्’ । कारण इस का यही है कि जब तक अनाहुति होती रहती है, तभी तक यज्ञसत्ता है, यज्ञसत्ता पर अथात्मजगत् की सत्ता है—“अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर” (गीता ८।४) ।

तदिदं—सर्वम्	षोडशीपुरुषः—पुरुषः—षोडशी	इन्द्रियेभ्यः परार्थो, अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ महत्तः परमव्यक्तं, अव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषाच्च परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः ॥ (कठोपनिषत् १ अ. १३ व. १०-११)
	१—अव्यक्तात्मा—अव्यक्तः—स्वयम्भू. २—महानात्मा—महान्—परमेष्ठी ३—विज्ञानात्मा—बुद्धिः—सूर्यः ४—प्रज्ञानात्मा—मनः—चन्द्रमाः ५— $\left\{ \begin{array}{l} \text{कर्मात्मा—भोक्तात्मा} \\ \text{इन्द्रियाणि—भोगसाधनानि} \\ \text{शरीरम्—भोगायतनम्} \end{array} \right\}$ —पृथिवी	

उक्त आत्मप्रपञ्चों में से प्रकृत में केवल विज्ञानात्मा के ही प्रमवादि का विचार अपेक्षित है। सूर्य इस का उत्पत्ति स्थान है, उत्पन्न होकर यह केशान्तद्वार से अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होता है। ब्रह्मरन्ध्र नाम से प्रसिद्ध केशान्तस्थान से सतत आते रहने वाले सौरदेवमय इसी विज्ञानप्राण को आसुरप्राणप्रधान लौहत्तुरिका से बचाने के लिए शिखा रखने का आदेश है। इस सुसूक्ष्मद्वार से विज्ञानशिव हृदयस्थ प्रज्ञानात्मा (मन) पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। वहां उत्त्तरूप से प्रतिष्ठित होकर, अर्करूप से विज्ञानप्रकाश सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त हो जाता है। हृदयबिन्दु से आरम्भ कर सूर्यकेन्द्र तक एक नियत मार्ग बना हुआ है। हृदय से नीचे पार्थिव अपानप्राण का साम्राज्य है, हृदय से आरम्भ कर ऊपर तक सौरप्राण की प्रधानता है। यह दोनों प्राण (पार्थिव अपानप्राण, सौर प्राणप्राण) क्रमशः पृथिवी और सूर्य केन्द्र से बढ़ हैं। यही स्थान क्रमशः अधःस्वस्तिक एवं स्वस्वस्तिक नाम से प्रसिद्ध हैं। खगोलीय सौर स्वस्तिक स्वस्वस्तिक है, भूगोलीय पार्थिव स्वस्तिक अधःस्वस्तिक है। इन दोनों स्वस्तिकों से उभयतः परिच्छिन्न बना हुआ यह अमूलपुरुष इतस्ततः विचरण किया करता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

“अन्तरिक्षं वाऽग्निरुत्तश्चरति-अमूलमुभयतः परिच्छिन्नम् ।

यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति” ॥

(शत० ब्रा० १।१।२।४।।)

इस स्वस्तिक का दिग्दर्शन पुरुषात्माधिकरण में कराया जा चुका है—(देखिए ई. वि-भा. १४० पृ.)। प्रत्येक व्यक्ति के उक्त दोनों स्वस्तिक भिन्न भिन्न हैं। यही दोनों स्वस्तिक हमारे जीवन की प्रतिष्ठा हैं। सौर-पार्थिव रस से ही हम उत्पन्न हुए हैं, एवं इन्हीं रसों से जीवित हैं। जब तक वैयक्तिक स्वस्तिक शान्त रहता है, तभी तक उस व्यक्ति की स्वस्ति (शिव-कल्याण) है। स्वस्तिभाव की प्रवृत्ति के कारण ही इन्हें ‘स्वस्तिक’ कहा जाता है। यह स्वस्तिकवृत्त वृत्त के सम्बन्ध से चतुर्भुज बन जाता है। सृष्टिरहस्यवेत्ता जानते हैं कि प्रत्येक

प्राणी का खगोल एवं भूगोल नियत है। उन नियत भागों के रसों से ही तत्तत् प्राणियों के प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी स्वरितकामना के लिए भारतीय देशधर्म में स्वस्तिक का पूजन किया जाता है। स्वस्तिक एक नहीं, दो बनाए जाते हैं। द्वार के दक्षिणोत्तर पार्श्वों में दोनों स्वस्तिक चित्र स्थापित किए जाते हैं। इनमें दक्षिण स्वस्तिक अधःस्वरितक की, एवं उत्तर स्वस्तिक खस्वस्तिक की प्रतिमा है। इस से कहना यही है कि हृदय से नीचे रहने वाला, ब्रह्मप्रन्थि (मूलद्वार) से प्रविष्ट होने वाला पार्थिव अपानप्राण अधःस्वरितक की प्रतिष्ठाभूत भूकेन्द्र से नित्य बद्ध रहता है। एवमेव हृदय से ऊपर रहने वाला, ब्रह्मरन्ध से प्रविष्ट होने वाला सौरप्राण (विज्ञानात्मा) खस्वस्तिक की प्रतिष्ठाभूत सूर्यकेन्द्र से नित्य बद्ध रहता है। जैसे नियत स्थान पर जाने के लिए नियत मार्ग बना रहता है, एवमेव प्रत्येक प्राणी के हृदय से आरम्भकर सूर्य-केन्द्र तक खस्वस्तिकरूप स्वतन्त्र मार्ग बने हुए हैं। यही मार्ग उपनिषदों में 'महापथ' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रत्येक प्राणी का विज्ञानात्मा अपने अपने खस्वस्तिकरूप नियत महापथों से प्रतिक्षण सूर्य में जाया करता है, एवं आया करता है। एक निमेष (पलक) में यह विद्युन्मय विज्ञानप्राण सूर्य में तीन बार जाकर लौट आता है। इस महापथ में विविधवर्णयुक्त सौर रश्मिएं व्याप्त रहती हैं। दूसरे शब्दों में इस मार्ग का स्वरूप सूर्यरश्मिएं ही हैं। व्यक्तिभेद से सर्वथा विभक्त इसी सुसूक्ष्म महापथ का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

“अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टो अनुवित्तो मयैव ।

तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥ १ ॥

तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च ।

एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तन्तेनैति ब्रह्मविद पुण्यकृत् तैजसश्च ॥ २ ॥

(शत. १४।७।१) ।

हृत्प्रतिष्ठ प्रज्ञान (मन) को आध्यात्मिक चन्द्रमा समझिए, तत्प्रतिष्ठ विज्ञान (बुद्धि) को सूर्य समझिए। विज्ञानात्मा की प्रतिष्ठा हृदयस्य प्रज्ञान मन ही है। जिस प्रकार प्रकृति में

१ प्रभव-योनि-प्रतिष्ठा-आशय-परितोषः

१	१-प्रभवः-(उत्पत्तिस्थानम्)-ईश्वरात्मा, शुक्रं-योगमायाच	"पुरुषात् परं किञ्चित्, सा- काष्ठा सा परा गतिः" षोडशीपुरुषः → अमृतात्मा (अव्यक्तात् पुरुषः परः)
	२-योनिः-(प्रवेशद्वारम्)-महानात्मा (महत्सोमः)	
	३-प्रतिष्ठा-(स्थितिस्थानम्)-सर्वान्तरतमो दहराकाशः	
	४-आशयः-(व्याप्तिस्थानम्)-शरीरम्	

२	१-प्रभवः-स्वयम्भूः	अव्यक्तात्मा-(प्राकृतात्मा) १-अव्यक्तम् ब्रह्मसत्त्वात्मा (महतः परं → ↗)
	२-योनिः-शिरोगुहा	
	३-प्रतिष्ठा-हृदयम्	
	४-आशयः-शरीरम्	

३	१-प्रभवः-परमेष्ठी	महानात्मा (प्राकृतात्मा) २-महान् ब्रह्मसत्त्वात्मा (बुद्धेरात्मा (परः) → ↗)
	२-योनिः-शुक्रम्	
	३-प्रतिष्ठा-हृदयम्	
	४-आशयः-शरीरम्	

४	१-प्रभवः-सूर्यः	विज्ञानात्मा (प्राकृतात्मा) ३-बुद्धिः ब्रह्मसत्त्वात्मा (मनसस्तु परा → ↗)
	२-योनिः-नान्दनम्	
	३-प्रतिष्ठा-हृदयम्	
	४-आशयः-शरीरम्	

५	१-प्रभवः-चन्द्रमाः (अन्नम्)	प्रज्ञानात्मा (प्राकृतात्मा) ४-मनः ब्रह्मसत्त्वात्मा (इन्द्रियेभ्यः परं → ↗)
	२-योनिः-शुक्रम्	
	३-प्रतिष्ठा-हृदयम्	
	४-आशयः-शरीरम्	

१-प्रभवः—भास्वरसोमः	} (इन्द्रियाणि (कर्मावच्छिन्न- शरीरतः) पराण्याहुः) संकल्पविकल्पात्मकमिन्द्रियं-	} मनः-१
६ २-योनिः—प्रज्ञानम्		
३-प्रतिष्ठा—ब्रह्मरन्ध्रम्		
४-आशयः—पञ्चेन्द्रियाणि		

—०—

१-प्रभवः—दिक्सोमः	} श्रोत्रे २
२-योनिः—प्रज्ञानम्	
७ ३-प्रतिष्ठा—श्रोत्रविवरे	
४-आशयः—मनः (प्रज्ञानम्)	

—०—

१-प्रभवः—आदित्यः	} चक्षुषी ३
८ २-योनिः—प्रज्ञानम्	
३-प्रतिष्ठा—चक्षुविवरे	
४-आशयः—मनः (प्रज्ञानम्)	

—०—

१-प्रभवः—वायु	} नासिके (प्राणः) ४
२-योनिः—प्रज्ञानम्	
९ ३-प्रतिष्ठा—नासाविवरे	
४-आशयः—मनः (प्रज्ञानम्)	

—०—

१-प्रभवः—अग्निः	} वाक् ५
२-योनिः—प्रज्ञानम्	
१० ३-प्रतिष्ठा—जिह्वा	
४-आशयः—मनः (प्रज्ञानम्)	

शि.

या

न्द्रि

नि—इ

का

त्मा

वा

हे

ख

प

इन्द्रियाणि — पराण्याहुः

०३८

वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्तिः—

अग्निवाय्विन्द्रकृतात्मा प्राणात्मा वा

कर्मात्मा देवसत्यः

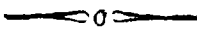
- ११ (१)
- | | |
|--------------------------|--|
| १—प्रभवः—एव विंश आदित्यः | } प्राज्ञात्मा-आदित्येन्द्रः-देवसत्यः-१ प्राज्ञः |
| २—योनिः—सुष्मणानाडी | |
| ३—प्रतिष्ठा—हृदयम् | |
| ४—आशयः—शरीरम् | |



- १२ (२)
- | | |
|------------------------|------------------------------------|
| १—प्रभवः—पञ्चदशो वायुः | } तैजसात्मा-वायु -देवसत्यः-२ तैजसः |
| २—योनिः—तेजोनाडी | |
| ३—प्रतिष्ठा—हृदयम् | |
| ४—आशयः—शरीरम् | |



- १३ (३)
- | | |
|----------------------------------|---|
| १—प्रभवः—त्रिवृदग्निश्चितेनिधेयः | } वैश्वानरात्मा-अग्निः-देवसत्यः-३ वैश्वानरः |
| २—योनिः—नाभिः | |
| ३—प्रतिष्ठा—जाठराग्निः | |
| ४—आशयः—शरीरम् | |



त्रिकलः—कर्मात्मा देवसत्यः

१-प्रभवः—पञ्चीकृता मृत्

२-योनिः—शुक्रशोणिते—अनञ्च

३-प्रतिष्ठा—अग्निश्चित्यः

४-आशयः—शरीरम्

अस्थिमांसादयो घनपदार्थाः १

—०—

१-प्रभवः—पार्थिवः पञ्चीकृताः

२-योनिः—शुक्रशोणिते—आपश्च

३-प्रतिष्ठा—आपः

४-आशयः—शरीरम्

असृग्मांसादयस्तरलपदार्थाः २

—०—

१-प्रभवः—पञ्चीकृतोऽग्निः पार्थिवः

२-योनिः—शुक्रशोणिते—तेजश्च

३-प्रतिष्ठा—तेजः

४-आशयः—शरीरम्

ऊष्मा ३

—०—

१-प्रभवः—पञ्चीकृतो वायुः पार्थिवः

२-योनिः—शुक्रशोणिते—वायुश्च

३-प्रतिष्ठा—वायुः

४-आशयः—शरीरम्

धमन्यो वायुवाहिन्यः ४

—०—

१-प्रभवः—पञ्चकृत आकाशः पार्थिवः

२-योनिः—शुक्रशोणिते—शब्दश्च

३-प्रतिष्ठा—आकाशः

४-आशयः—शरीरम्

सुविराणि ५

—०—

म

र

—

स

—

श

स

क

—

त

—

ब्र

—

प

शरीरं—मूलप्रतिष्ठा

—०—

चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित रहता है, एवं इसी प्रकाश के तारतम्य से जैसे वहां अमावास्या, पूर्णिमा, कृष्णाष्टमी, शुक्लाष्टमी आदि भाव उत्पन्न होते हैं, ठीक इसी तरह वह प्रज्ञानचन्द्र विज्ञानसूर्य से प्रकाशित रहता है, एवं प्रकृतिवत् अभ्यात्मसंस्था में भी अमा-पूर्णिमा आदि भावों का उदय होता है। अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि प्रकृति का मास (महिना) ३० दिन का होता है, एवं आध्यात्मिक मास एक अहोरात्र का है। अहःकाल शुक्लपक्ष है, रात्रि-काल कृष्णपक्ष है। प्रकृति में क्या होता है ? पहिले इसका विचार कीजिए। सूर्य विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। जब चन्द्रमा परिक्रमा लगाते लगाते पृथिवी के इस ओर आजाता है तो सूर्य का पूर्ण प्रकाश इस पर पड़ता है, इसी का नाम पूर्णिमा है। घूमते घूमते जब वह पृथिवी के उस ओर (सूर्य की ओर) चला जाता है तो चन्द्रमा का दृश्य भाग (पृथिवी की ओर का भाग) सौरप्रकाश से वञ्चित होजाता है। इस प्रकार सूर्य चन्द्रमा के संगम से दर्श (अमावास्या) का जन्म होता है—‘दर्शः सूर्येन्दुसङ्गमः’। पृथिवी के केन्द्र से काटते हुए दक्षिणोत्तर एक रेखा लेजाइए। इन रेखाओं के प्रान्तभाग में जब चन्द्रमा आता है तो क्रमशः शुक्लाष्टमी, कृष्णाष्टमी का जन्म होजाता है। शुक्लाष्टमी में सायंकाल आधा (चतुर्थ) चन्द्रमा प्रकाशित रहता है, एवं कृष्णाष्टमी में रात्रि के १२ बजे आधा चन्द्रमा प्रकाशित रहता है। पूर्णिमा में सारा चन्द्रमा प्रकाशित नहीं रहता, एवं न अमावास्या में पूरा चन्द्रमा काला रहता। अपि तु प्राकृतिक स्थिति के अनुसार आधा चन्द्रमा ही प्रकाशित-अप्रकाशित रहता है। पूर्णिमा में दृश्य आधा भाग प्रकाशित है, अदृश्य आधा भाग अप्रकाशित है। अमा में पृष्ठभाग प्रकाशित है, पृथिवी की ओर का आधा भाग अप्रकाशित है, अतएव यह नहीं दीखता। इस स्थिति के अनुसार अष्टमी में चतुर्थ भाग को ही प्रकाशित अप्रकाशित मानना पड़ता है। परन्तुस्तु सभी तिथियों में सदा ही आधा भाग प्रकाशित, एवं आधा भाग अप्रकाशित रहता है। हमारी दृश्यस्थिति के अनुसार हम एक कला-दो कला-तीन कला-इस प्रकार कलाविभाग मान-लेते हैं। यह है आधिदैविक जगत की परिस्थिति।

अत्र आध्यात्मिकसंस्था का विचार कीजिए । हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त त्रैलोक्य की सत्ता समझिए । इस त्रैलोक्य का अधिष्ठाता हृदयस्य विज्ञानसूर्य है । हृदय पर मनरूप चन्द्रमा प्रतिष्ठित है । हृदय बिन्दु से आरम्भ कर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सोमधरातल है । इसी को 'वायु' (स्थिर यष्टि) कहा जाता है—(देखिए प्रश्नोपनिषत् २ । २ ।) मुखस्थान अग्निप्रधान पृथिवीलोक है । नासिकास्थान वायुप्रधान अन्तरिक्षलोक है । चक्षुस्थान आदित्यप्रधान बुलोक है । श्रोत्रस्थान दिक्सोमप्रधान चौथा आपोलोक है । स्वयं ब्रह्मरन्ध्र मन की अन्तिम प्रतिष्ठा है । इस प्रकार इस सोमधरातल पर इन्द्रियरूप त्रैलोक्य, किंवा चारों लोक प्रतिष्ठित हैं । कण्ठस्थान में एक मांसपेशी अघर लटकी रहती है, इसी के लिए—'स्तन इवान्नलम्बे' यह कहा जाता है । यही गलस्तन लोकभाषा में 'कागली' नाम से प्रसिद्ध है । उपनिषद्भाषा में यही 'इन्द्रियोनि' नाम से व्यवहृत हुई है । इस की स्थिति वाक् (मुख) इन्द्रिय के समधरातल पर है । यही वास्तविक भूलोक है । ब्रह्मरन्ध्र से एक प्रादेश पर यह कण्ठबिन्दु है, कण्ठ से एक प्रादेश पर हृदय-बिन्दु है । यहाँ से मन ऊपर की ओर चलता है । चलते २ वाक्स्थान पृथिवी लोक को पार कर जब यह अपनी अन्तिम सीमारूप ब्रह्मरन्ध्र पर पहुँच जाता है तो ऐसी अवस्था में इस पर हृदयस्य विज्ञानमूर्त्य का पूर्ण प्रकाश पड़ता है । यही इस की पूर्णिमा है । इन्द्रिय इस समय प्रकाशित मन से नीचे हैं, अतएव मन के प्रकाश से सारी इन्द्रियें प्रकाशित हो पड़ती हैं । मानस प्रकाश को प्राप्त करते ही इन्द्रियें अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं । इसी पूर्णिमाकाल-का नाम 'जाग्रदवस्था' है । वहाँ से मन क्रमशः नीचे उतरता है । जब वाक्स्थान पर आता है तो ऊपर की इन्द्रियों में अन्धकार हो जाता है । श्रोत्र का श्रवणशक्ति, चक्षु का रूपदर्शन, रसना का स्वादग्रहण सब अवरुद्ध हो जाते हैं । हाँ मुख्य (नासा)-प्राण इस समय भी, इस समय भी क्या 'प्राणाग्रय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्रश्नोप० ४ । ३ ।) के अनुसार सदा ही जाग्रता रहता है । आस-प्रवास और सुषुप्तिकाल में भी यथावत् चलते रहते हैं । वाक् सन्धिस्थान है, यही अष्टमी है—'वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना' (शत० १४ । २ । ४ ।) यही मध्य की सन्धिस्थानीया 'स्वप्नावस्था' है । इस में और किसी इन्द्रिय पर तो प्रकाश नहीं रहता, परन्तु

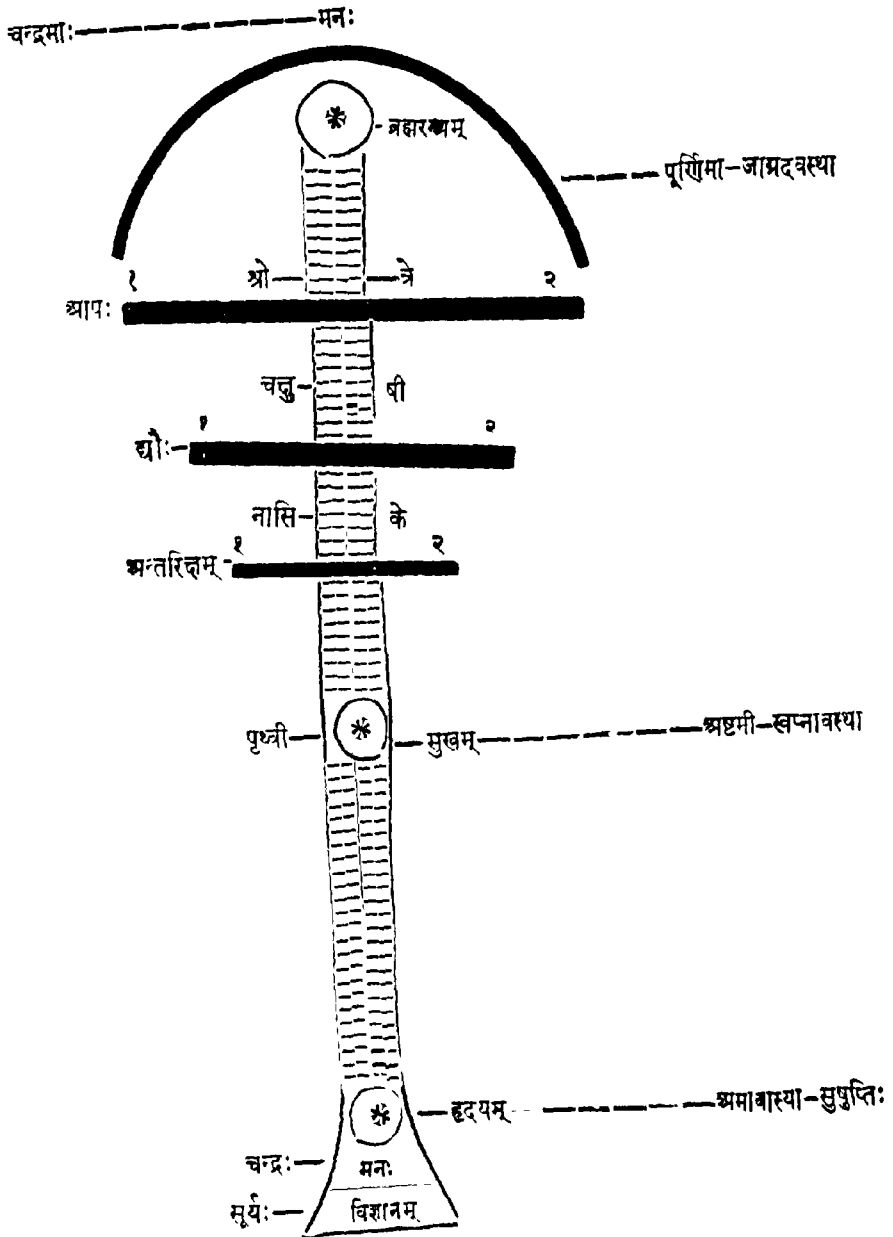
वाक् पर थोड़ा सा प्रकाश रहता है। यही कारण है कि स्वप्नावस्था में मनुष्य न देख सकता, न सुन सकता, न सूँघ सकता, न स्वाद ले सकता, परन्तु वाग्व्यापार करता रहता है। चूंकि पर्याप्त प्रकाश नहीं है, अतएव यह स्वप्नवाक् अनर्गल होती है “मुप्तोऽहं किल विललाप” (उदयनाचार्य कृत कुसुमाञ्जलि)। स्वप्नावस्था में मनुष्य व्यर्थ वाक् का प्रयोग करता हुआ देखा जाता है। मन क्रमशः नीचे उतरता हुआ जब हृदयस्थ विज्ञान सूर्य के समधरातल पर आजाता है तो ऊपर के त्रैलोक्य मण्डल में घोर अन्धकार हो जाता है। यही सूर्येन्दुसंगमलक्षणा अमावास्या है, यही ‘मुपुत्तिकाल’ है। यहां वाग्व्यापार भी बंद हो जाता है। घोर निद्रा में सारी इन्द्रिं (मुख्य प्राण को छोड़ कर) सर्वथा स्तब्ध बन जाती है। इस प्रकार चान्द्र मन की परिक्रमा से अध्यात्मजगत में भी दर्शादि का समन्वय सिद्ध हो जाता है।

उक्त प्रकरण से पाठकों को यह विदिन होगया होगा कि मन में जो प्रकाश है, वह विज्ञानसूर्य की ही महिमा है। साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि अन्नप्रधान आध्यात्मिक जगत् में प्रधानता ‘मन’ की ही रहती है। मन ही विज्ञान की प्रतिष्ठा है। जिस का मन मर-जाता है, उसकी बुद्धि भी नष्ट होजाती है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि मन पार्थिव अन्नाहुति से बनता है “अन्नमयं हि सोम्य मनः”। यदि दो चार दिन अन्न नहीं खाया जाता है तो मन निर्बल होजाता है, क्षीणकाय बन जाता है। उसी समय मन पर प्रतिष्ठित रहने वाला विज्ञान भी निर्बल होजाता है, विचार शक्ति नष्ट हो जाती है “बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्” * “स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति”। विज्ञान-प्रज्ञान दोनों संपरिपक्व (एक दूसरे से मिले हुए) रहते हैं। विज्ञानतत्त्व महद्गर्भित चिज्ज्योति (आत्मज्योति) से प्रकाशित है, प्रज्ञान चिद्धन विज्ञान से प्रकाशित है। इन्द्रिं विज्ञानज्योतिर्मय प्रज्ञानज्योति से प्रकाशित हैं। विषयज्ञात (भौतिक प्रपञ्च) प्रज्ञानज्योतिर्मय इन्द्रियज्योति से प्रकाशित हैं। इस प्रकार आत्मज्योति का भूतपदार्थों तक वितान करना विज्ञानयज्ञाधिष्ठाता एक मात्र विज्ञान का ही कार्य है।

उपनिषत् प्रेमियों को विज्ञानात्मा के सम्बन्ध में आज एक आश्चर्यमयी स्थिति बतलाते हैं। विज्ञानात्मा को उक्थरूप से जहां हमने स्थिर बतलाया है, वहां अर्करूप से उसे सर्वाङ्गशरीर

में व्याप्त बतलाया है। इस की व्याप्ति का पूर्ण विकास केवल दक्षिण चक्षु (दहिनी आंख) में ही होता है, क्या यह कम आश्चर्य है। हृदय से वित्त विज्ञान दक्षिण आंख पर आकर आंख से बाहर निकलता है। बाहर एक प्रादेश तक ही इस की गति होती है। दृष्टि के अनूक और प्रतीक यह दो भेद हैं। सीधी दृष्टि अनूकदृष्टि कहलाती है, तिरछी दृष्टि प्रतीकदृष्टि कहलाती है। आप प्रतीकदृष्टि से इस चातुष्पुरुष को देख सकते हैं। इस के विविध प्रकार के २१ रूप होते हैं। यह सूर्य का अंश है, सूर्य स्वयं एकविंश है, अत एव तदंशभूत विज्ञानात्मा के २१ ही रूप होजाते हैं। इस पर आप दृष्टि नहीं ठहरा सकते। दक्षिण आंख के प्रतीकभाव से आप ज्यों ज्यों इसे देखते जायेंगे, त्यों त्यों यह इधर उधर दौड़ता हुआ दिखाई देगा। इसे देखना विज्ञानात्मा की सर्वोत्कृष्ट उपासना है। यह इन्द्रात्मक है, पुरुष रूप है। दक्षिणाङ्ग पुरुष प्रधान है, अतएव दक्षिणचक्षु में ही इस का विकास होता है। वामचक्षु में भी प्रतीकदृष्टि से आपको एक बिन्दु के दर्शन होंगे, परन्तु यह इन्द्रपत्नी है। वामाङ्ग स्त्री प्रधान है, अतः इन्द्रपत्नी का विकास वामचक्षु में ही होता है। उक्त विज्ञान को आप सर्प (सरसों) के आकार में देखेंगे। मत्तिका (मक्खी) के पर में जैसा विचित्र वर्ण (रंग) है, इस का ठीक वैसा ही रंग है। परन्तु इतना ध्यान रखिए कि आप इसे सूर्यप्रकाश (धूप) में न देख सकेंगे। यह जब भी दीखेगा, पार्थिव तमोमय पृष्ठाप्राण के गर्भ में (छाया में) ही दीखेगा, जैसा कि आगे आने वाले 'हिरण्यमयेन पात्रेण'० इत्यादि मन्त्रभाष्य में स्पष्ट होने वाला है। इस का चक्षु से प्रादेश मात्र (१०॥ अङ्गुल) बाहर निकलना बतलाया गया है। वस्तुतः यह चक्षु से बाहर नहीं निकलता, केवल बाहर निकला हुआ दिखाई देता है। आदर्श (काच—आहना) में आप अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं। यदि आप आदर्श से दूर हटते जाते हैं तो आपको अपना प्रतिबिम्ब भी काच के भीतर पीछे हटता हुआ प्रतीत होता है, ज्यों ज्यों आप काच के समीप आते जाते हैं, त्यों त्यों ऐसा प्रतीत होता है, मानों आपका प्रतिबिम्ब समीप आता जाता है। वस्तुतः काच एक घन पदार्थ है, न उस में पीछे हटने के लिए स्थान है, न आगे आने के लिए स्थान है। प्रतिबिम्ब एक ही धरातल पर प्रतिष्ठित है। केवल काच की

आध्यात्मिक-अवस्थात्रयी-परिलेख



वीधता ही आगति-गतिभाव उत्पन्न कर देती है। ठीक यही स्थिति यहां समझिए। चक्षु-पटल एक प्रकार का काच है। इस पर हृदयस्थ विज्ञान का तेजोनाड़ी द्वारा प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह जब रश्मिरूप से कण्ठस्थान में स्थित स्वयोनि (इन्द्रयोनि) पर आता है तो चक्षु के बाहर एक प्रादेश हटा हुआ मालूम होता है, क्योंकि इन्द्रयोनि हृदय से एक प्रादेश पर है। स्व-स्थान पर लौट आने से केवल चक्षु पर ही प्रतिबिम्बित रहता है। इस प्रकार अनेक रूप धारण करने वाला, इन्द्रमूर्ति यह विज्ञानात्मा चक्षु सम्बन्ध से—‘चानुषपुरुष’, दक्षिणाक्षि सम्बन्ध से ‘दक्षिणाक्षिपुरुष’ नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। सौर विज्ञानपुरुष की उपनिषत् (प्रतिष्ठा) ‘अहः’ (प्रकाशमण्डल) है, इस चानुषपुरुष की उपनिषत् ‘अहम्’ (चिद्गर्भित महान्) है। दोनों का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदित्यपुरुष रश्मिरूप प्राणों से इसके साथ, विज्ञानपुरुष प्राणरूप रश्मियों के साथ उसी पूर्वोक्त महापथ में संयुक्त हो रहे हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

“तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यः। य एष एतमिन् मण्डले पुरुषः,

यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः, तावेतावन्योऽन्यमिन् प्रतिष्ठितौ।

रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः, प्राणैरयममुष्मिन् (प्रतिष्ठितः)”।

(बृहदा० उ० ५.४१) इति ।

इस की प्रतिष्ठाभूमि हृदयस्थ है। जिस प्रकार एक दीपशिखा स्थिररूप से प्रकाशित रहती है, एवमेव हृदय के अग्रभाग में दीपार्चिरूप विज्ञानप्रभु प्रकाशित हो रहा है, जैसा कि योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि ।

सितासिताः कर्षुरूपाः कपिला नीललोहिताः ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भिन्ना सूर्यमण्डलम् ।

ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम् ॥ २ ॥

(याज्ञ. स्मृ. प्रा. अ. यतिधर्मप्रकरण १६६-१६७ श्लो.) ।

यह चक्षुषपुरुष सौर होने से असंग है, उधर प्रज्ञानात्मा चान्द्र होने से ससंग है। सौर-अग्नि जहां तेजःप्रधान बनता हुआ असंगभाव का प्रवर्त्तक है, वहां चान्द्रसोम अनेक-प्रधान बनता हुआ ससंगभाव का प्रवर्त्तक है। चक्षुषपुरुष विद्या-अविद्यात्मक सूर्य का अंश है, फलतः इसमें भी विद्या-अविद्या दोनों भागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यदि यह विज्ञानात्मा प्रज्ञान-मन की ओर मुक्त जाता है तो इसका अविद्याभाग विकसित हो जाता है। कारण इसका यही है कि भौतिक विषय आवरणरूप हैं, जड़ हैं। इन विषयों में इन्द्रियों के द्वारा मन आसक्त रहता है। मन स्वभावतः विषयों की ओर अनुधावन करता रहता है—(दौड़ लगाता रहता है)। इस अनुधावन का कारण यही है कि मन की जीवनीय संपत्ति चिदानन्द है। विज्ञान द्वारा आया हुआ चिदानन्द (अव्ययानन्द) ही मन का स्वरूपनिर्माता है। एवं विज्ञानशुद्ध का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि जिस तत्व से जिस वस्तु का उदय होता है, वह वस्तु उस प्रभव के आगमन से ही जीवन धारण करने में समर्थ होती है। मन का स्वरूपसंपादक चूंकि आत्मानन्द है, अतः मन को स्वरूपसत्ता के लिए प्रत्येक दशा में आनन्द (सुख) अपेक्षित है। सुख की चाह करना, सुख प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना मन का स्वाभाविक धर्म है। मन की इसी सुखैषणा (सुखेच्छा) का नाम है—‘अशनाया’, यही बुभुक्षा है। इसे शान्त करने के लिए मन बाहर निकलता है। इस के निकलने के द्वारा इन्द्रियें हैं। इन्द्रियों की गति पराक् (बाहर की ओर—विषयों की ओर) है। प्रज्ञापति ने इन्द्रियों का रुख बाहर की ओर किया है। जो चक्षु बाहर के रूपों को देखा करता है, वह अपने ही स्वरूप देखने में असमर्थ है, फिर हृदयस्थ आत्मा पर उसका गमन कैसे संभव है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियें स्वरूप को देखने में असमर्थ होती हुई, आत्मदर्शन में नितान्त असमर्थ बनती हुई, केवल विषयभोग में लीन रहती हैं, जैसा कि निम्नलिखित श्रुति वचनों से स्पष्ट है—

“पराञ्चि खानि व्यवृणुस्त्वयम्भुस्तस्मात् पराक् पश्यति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद्दीरः प्रत्यगात्मानमैतदावृणुचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठोपनिषत् २।१।१)।

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विबो, न विजानीमो,

यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि" (केन० १।३।)।

विषयों में जो आनन्द है, वह इन्द्रियों से आया हुआ है। विषय आनन्द का कारण नहीं है, अपि तु इन्द्रिय आनन्द का कारण है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जबतक इन्द्रिय स्वस्थ रहती है, सबल रहती है, तभी तक विषय आनन्दमय मालुम होते हैं। इन्द्रियों के रुग्ण हो जाने पर, निर्वल होजाने पर, अथवा नष्ट होजाने पर वही विषय दुःखद बन जाते हैं। इन्द्रियों में जो विदानन्द का विकास है, वह भी इन्द्रियों की निजी संपत्ति नहीं है, अपि तु मन के द्वारा यह आनन्द इन में आया है। फलतः इन्द्रिय भी आनन्द का कारण नहीं है, अपि तु मन आनन्द का कारण है। जब तक मन स्वस्थ दशा में रहता है, तभी तक देखने, सुनने, खाने, पीने, बोलने में आनन्द आता है। यदि मन किसी कारण से व्याकुल होजाता है तो इन्द्रिय सर्वथा स्वस्थदशा में रहती हुई भी दुःख का कारण बन जाती है। उस समय कुछ अच्छा नहीं लगता। मन में जो आनन्द है, वह भी मन की प्रातिस्विक संपत्ति नहीं है। विज्ञानात्मा से ही इस में विदानन्द का आगमन हुआ है। अतएव जिसमें विज्ञान (बुद्धि) का विकास रहता है, वही विषयज्ञात से वास्तविक आनन्द उठा सकता है। बुद्धिमान् मनुष्य के लिए जहां चन्दनगंध आनन्द का कारण है, एक गर्दभ के लिए वह चन्दन सामान्य काष्ठ से अधिक मूल्य नहीं रखता—'यथा खरो चन्दनभारवाही, भारस्य वेत्ता न तु सौरभस्य'। विज्ञान में ही आनन्द है। बुद्धिनाश सर्वनाश का कारण है। जिस की अकल (अवल) मारी गई, वह क्या कर सकता है। इसी प्रकार विज्ञान का आनन्द भी खुद की संपत्ति नहीं है। अपि तु सत्त्व नाम से प्रसिद्ध, अहंभावप्रवर्त्तक महद्गर्भ में प्रतिष्ठित आत्मानन्द से ही विज्ञान आनन्दमय बना हुआ है। जब तक 'अहं' (आत्मा) है, तभी तक विज्ञान है। जब अहंभाव (आत्मा) मूर्च्छित हो जाता है, अथवा शरीर से उत्क्रान्त होजाता है तो सारी अध्यात्म-संस्था उच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार अन्ततो गत्वा आत्मानन्द को ही मुख्य आनन्द मानना पड़ता है। बात है भी ठीक—जो धन उधार लिया जाता है, उस से वास्तविक आनन्द

नहीं आसकता। आनन्द तो दूर रहा, अणुमस्त व्यक्ति तो उलटा चिन्ता में पड़ जाता है। आगन्तुक वस्तु यदि आई है तो—‘संयोगा विप्रयोगान्ताः’ इस सिद्धान्त के अनुसार वह कभी न कभी अवश्य वापस जायगी। विषय-इन्द्रियवर्ग-प्रज्ञान (मन)-विज्ञान (बुद्धि) इन सब में हम जो आनन्द मात्रा देखते हैं, वह आगन्तुक है—‘तस्यैव मात्रामुपादाय सर्वे उपजीवन्ति’। यह आगन्तुक आनन्द अस्थायी है, अतएव चिरशान्ति के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। साथ ही में विषयवद् इन्द्रियानन्द, इन्द्रियवद् मन का आनन्द, मन से वद् बुद्धानन्द सब हृदयस्थ आत्मानन्द से पराङ्मुख बने हुए हैं। अतएव बुद्धिमान्, मनस्वी, शास्त्रों का पारंगत कोई भी वहां नहीं पहुंच सकता। इसी स्थिति का बड़े सुन्दर शब्दों में निरूपण करती हुई उपनिष-च्छ्रुति कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेयया न बहुना श्रुतेन ।

यमेष वण्ते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तन् स्वाप् ॥

(कठोपनिषत् । १ । २ । २२ ।

‘सो जानें जेहि देहि जनाई’ महाम्ना तुलसीदास के इस सिद्धान्त के अनुसार जिस दिन आत्मा के ऊपर आया हुआ आवरण हट जाता है, उस दिन आदित्यवत् स्वतः एव वह प्रकाश हो जाता है। जिस प्रकार वायु प्रकाश उत्पन्न नहीं करता, केवल मेघावरण हटा देता है, पहिले से ही विद्यमान सौर प्रकाश अपने आप प्रकट हो जाता है, तथैव शास्त्रोपदेश-उपासना-ज्ञानयोगादि आत्मानन्द को उत्पन्न नहीं करते, अपि तु आवरण मात्र हटा देते हैं। आत्मा तो स्वतःप्रकाशरूप है, उस के लिए अन्यसाधन सर्वथा अनपेक्षित हैं।

उक्त कथन से यह भी भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि विज्ञान आत्मा के समीप है, अतः इस में मन-इन्द्रियादि की अपेक्षा आनन्द की अधिक मात्रा है। तभी तो ‘तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः’ यह कहा जाता है। इन्द्रियादि की अपेक्षा मन में अधिक आनन्द है, क्योंकि कि मन विज्ञान के समीप है। भौतिक विषयों की अपेक्षा इन्द्रियों में अधिक आनन्द है, क्योंकि

इन्द्रियें भौतिक विषयों की अपेक्षा मन के समीप हैं। इस प्रकार विषयों में जाकर आनन्द अत्यल्प मात्रा में रह जाता है। उपर आनन्द की खोज में मन इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकल कर विषयों पर जाता है। परन्तु होता क्या है—सुनिश्च! अग्नी मात्रा से अधिक आनन्द मिलने पर ही आनन्द आता है—“यो वै भूषा तत् सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमानमित्युपास्य” के अनुसार भूमा (बहुत्व)—भाव में आनन्द है। यदि एक लक्षाधिपति को कहीं से १० रुपये मिल जाय तो उसे आनन्द नहीं आसकता। दो लक्ष की प्राप्ति में ही वह आनन्द का अनुभव कर सकता है। जिस एक पैसे से २ वर्ष का बच्चा प्रसन्न हो जाता है, वही पैसा एक मनुष्य को आनन्द नहीं पहुंचा सकता। यही परिस्थिति यहां होती है। मन महोदय आनन्द की खोज में विषयों पर जाते हैं। परन्तु उन्हें यह मालुम नहीं है कि विषयों में जितनी सी आनन्द की मात्रा है, वह इन्द्रियों से आई है, इन्द्रियों में जो आनन्द आया है, वह मुझ से आया है। भूतापेक्षया इन्द्रियों में अधिक आनन्द है, इन्द्रियापेक्षा स्वयं मुझ में (मन में) अधिक आनन्द है। इस प्रकार विवेक बुद्धि से वञ्चित मन धोके से विषयों पर पहुंच जाता है। वहां जाकर उसे पकृताना पड़ता है। किसी भी विषय पर मन चिरकाल तक प्रतिष्ठित नहीं रह सकता—‘अतिपरिचयादवज्ञा’। थोड़े दिन रहता है, अभिलषित भूमानन्द मिलता नहीं, दूसरे विषय पर दौड़ता है। वहां भी आनन्द नहीं मिलता, तीसरे पर, चौथे पर, इस प्रकार विभिन्न विषयों में दौड़ लगाता रहता हुआ मन लुब्ध हो जाता है। यही मन का चाक्रत्य है, यही लोभ है, लोभ अशान्ति का कारण है—‘अशान्तस्य कुतः सुखम्’। “गए थे चौबेजी बनने, दुखे भी रहने में भी सन्देह होमया” ठीक यह लोकोक्ति विषयासक्त मन पर बाधन तोला पाव रत्ती चरितार्थ होती है। लेने गए थे आनन्द, मिला व्याकरणरूप दुःख, अशान्ति, लोभ। आनन्द की व्यर्थ लालसा से विषयासक्त इस अविवेकी मन को पुरस्कार में विषय संस्कार मिलते हैं। इन संस्कारों की कृपा से बजाय आनन्द के इसे मरकरूप महादुःखालासुष में निमग्न रहना पड़ता है। संस्कार भूतप्रधान होते हुए अकारप्रधान हैं। अकार अविद्या है। अतएव इस संस्कारराशि को ‘अविद्या’ कहा गया है। इस अविद्यारूप आवरण से अविद्यामक्त मन

के सेवक बने हुए विज्ञानात्मा का ज्योतिर् भाग (विद्या भाग) आवृत होजाता है, तमोमय भाग (अविद्या भाग) प्रबल बन जाता है। प्रवृद्ध अविद्याबुद्धि के योग से आत्मा का अविद्या भाग उपकृत होता हुआ आत्मा के विद्या भाग को आवृत कर लेता है। सर्वत्र अज्ञानान्धकार का साम्राज्य हो जाता है। यही मोह का जनक है—“अज्ञानेनाहृतं ज्ञानं तेन भुवन्ति जन्तवः” इस सिद्धान्त को कौन नहीं जानता।

इस प्रकार विषयासक्त मन से युक्त बुद्धि अपने अविद्या भाग की प्रबलता से मोह की जननी बन जाती है। इसी को ‘मोहककिला’ बुद्धि कहा जाता है। सारासाराविवेकता, अविमृश्यकारिता का नाम ही मोह है। ‘मनसो विषयाकाराकारित्वं वासनासंस्कारः’ के अनुसार मन का विषयकाररूप में परिणत होजाना ही वासना संस्कार है। मन चान्द्र है, चान्द्रसोम स्नेहधर्मा है। इसीलिए चन्द्रमा जिस नक्षत्र पर जाता है, वह उसी नक्षत्र का रूप धारण कर लेता है। भ्रूचक्र (खगोल) में सदा ही सभी नक्षत्र विद्यमान हैं। परन्तु व्यवहार होता है—आज अश्विनी है, आज भरणी है। इस का तात्पर्य यही है कि आज अश्विनी का चन्द्रमा है, आज भरणी का चन्द्रमा है। इस से कहना यह है कि चन्द्रमा का यह स्वभाव है कि वह जिसके साथ मिलता है, तदाकाराकारित बन जाता है। इसी का अंश हमारा मन है, अतएव यह भी जिस विषय से संयुक्त होता है, उसी का आकार धारण कर लेता है। विषयाकाराकारित मन वासनामय है। संस्काररूप आकार ही (यह आवरण ही) ‘वासयति—आच्छादयति—आत्मानम्’ के अनुसार ‘वासना’ है। यही संस्कार कालान्तर में उक्त्य बन जाता है। उक्त्य से तत्तद्वासनामय रश्मिसूत्र—(इच्छासूत्र) तत्तद्विषयों के लिए निकला करते हैं। दूसरे शब्दों में उक्त्यविनिर्गत इन अक्षों के द्वारा (कामनासूत्रों के द्वारा) मन बार २ उन विषयों की ओर दौड़ा करता है। ‘स्वजनितसंस्कारद्वारा विषयेषु मनसो बन्धनमासक्तिः’ के अनुसार विषयबन्धन का नाम ही आसक्ति है। वासना संस्कार ही आसक्ति का जनक है। आप मार्ग में चखते २ कोई सुन्दर दृश्य देख लेते हैं, तत्काल मन पर उस की छाप (संस्कार-वासना) खग जाती है। यही छाप आप के मन को उस दृश्य को पुनः २ देखने के लिए आकर्षित

करती है, यही आसक्ति है। एक बात और। यदि उक्त संस्कार दृढ़ नहीं होता तो आसक्ति भी नहीं होती। संस्कार दृढ़मूल बन कर ही आसक्ति का कारण बनता है। इन संस्कारों को दृढ़ करने वाला है—‘चिरकाल का अनुभव’। ‘मनसा-अनुभवजन्यसंस्काराधानेऽनुभवस्य चिर-कालिकत्वं हेतुः’ के अनुसार मन पर जो संस्कार आता है, यदि बार बार उसी की ओर लक्ष्य रक्खा जाता है तो—‘स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः’ (योगद० समाधिपाद, १४ सू०) के अनुसार उक्त चिरकाल के अनुध्यान से वह संस्कार दृढ़मूल बन जाता है। प्रथम-संस्कार आसक्ति का कारण नहीं बनता, अपि तु अनुभव द्वारा दृढ़ बना-हुआ संस्कार ही आसक्तिरूप ‘संग’ का कारण बनता है, जैसा कि ‘ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते’ (गीता २।१२) इत्यादि से स्पष्ट है। निष्कर्ष यही हुआ कि मन संस्कारों के चिरकालिक सम्बन्ध से विषयों के साथ बद्ध होजाता है। मन को हमने प्रज्ञान कहा है। प्रज्ञान में प्रज्ञा-प्राण यह दो तत्त्व हैं। प्रज्ञा सोमत्व है, प्राण इन्द्रित्व है। दोनों का तादात्म्य है। सोम ही चिदंश का ग्राहक बनकर ज्ञानमूर्ति बनता हुआ ‘प्रज्ञा’ नाम से व्यवहृत होने लगता है। मन में आप ज्ञान और क्रिया दोनों धर्म देखते हैं। साथ ही में यह मन रूप-रस-गंधादि भूतमात्राओं का भी अनुग्राहक है। सोम-चिदंश-प्राण यही तीनों क्रमशः भूतमात्रा-प्रज्ञामात्रा-प्राणमात्रा के अनुग्राहक हैं। सोम भूतों का प्रवर्तक है। चिदंश प्रज्ञाभाव का जनक है। प्राण इन्द्रियग्राम का उपकारक है। चिदंशयुक्त सोम प्रज्ञाभाग (ज्ञान) है, प्राण क्रिया भाग है। इस प्रकार प्रज्ञा-प्राण भेद से मन उभयात्मक बन जाता है—‘उभयात्मकं मनः’। प्रज्ञा-प्राण के इसी तादात्म्यभाव का निरूपण करते हुए महर्षि कौषीतकि कहते हैं—

“या वै प्रज्ञा स प्राणः, यः प्राणः सा प्रज्ञा। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः,
सहोषिष्ठतः। प्राज्ञोऽस्मि वा प्राणात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्व। × × ×।
तस्यैषेव दृष्टिः, एतद् विज्ञानम्” (कौषी० उप० ३।३)।

सोममयी प्रज्ञा के सम्बन्ध से ही प्रज्ञा-प्राणरूप इन्द्र 'श्लोकः सारी' बन जाता है। प्रज्ञान-मन जिस विषय पर जाता है, स्नेहगुणक सोम के प्रभाव से वह वही आसक्त हो जाता है। 'जिस घर पर (विषय पर) गए, वहीं के होगए' यही 'श्लोकः सार' है। श्लोक घर का वाचक है—“गृहा वा श्लोकः” (ऐ० ८।२६)। मन रूप प्राज्ञ इन्द्र का स्वाभाविक धर्म (सार) श्लोक (विषयों में आसक्त हो जाना) ही है, अतएव इसे 'श्लोकः सारी' कहना न्याय संगत होता है। प्राज्ञ इन्द्र के इसी आसक्ति भाव को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

‘श्लोकः सारी वा इन्द्रः, यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति-एव तत्रापरं गच्छति’ (ऐ. ब्रा. ६।१७।२२)।

जहाँ एक बार मन किसी विषय पर आसक्त हो जाता है, वसु वाह २. उसी विषय की ओर दौड़ा करता है। ऐसा धर्म एक मात्र प्राज्ञ इन्द्र का ही है। विशुद्ध रूप से प्राणवृत्ति इन्द्र असंग है, किन्तु सोम सम्बन्ध से इसे आसक्तिभाव से अन्तर्गत हो जाना पड़ता है।

मन के उक्त आसक्तिभाव के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। “संसार विषय-मत्तक मन को हमने पूर्व में चञ्चल बताया है, जैसा कि ‘चञ्चलं हि मनः कुरुष्व मया शिथिलं च दुर्दृष्टम्’ इत्यादि स्मार्ति वचनों से स्पष्ट है। प्रवृत्तान्तिमान् मनो मयः कात्स्न्यमधिक-धर्म-हेतु वह किसी एक विषय में चिरकाल तक प्रवृत्ति नहीं रह सकता। ऐसी परिस्थिति में मन की विषयों के साथ आसक्ति (चिरकालिक बन्धन) अनुभव हो सकती है। संसारों की चिरकालिक वस्था ही आसक्ति का मूल है एवं इसी मन में चिरकालिकत्व का अन्वय है। फिर मन को किन्ना प्रदेश को श्लोकः सारी (विषयसक्त) कैसे कहलाया जाय ?”। इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें चातुष्पुरुष की शरण में जाना पड़ेगा। विशुद्ध मन आसक्त नहीं रह सकता है, सदा चञ्चल है। परन्तु बुद्धि को साथ लेने से ही मन आसक्ति के चक्र में पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में बुद्धिसहकृत मन ही आसक्ति का कारण है। स्थिर सूर्य से उत्पन्न बुद्धि स्थिरा है। तत्सम्बन्ध से बुद्धि मन में स्थिरा का लक्षण होता है। सांसारिक ज्ञान अज्ञान का धर्म है, वहाँ चिरकालिकत्व बुद्धि का धर्म है। इसी दृष्टिकोण से कहें मन-विकलों में बद्ध हो जाता है।

यदि ऐसा है तो फिर एक प्रश्न उपस्थित होता है । सूर्यरूप विज्ञानात्मा (बुद्धि) को चन्द्ररूप प्रज्ञानात्मा पर (मन पर) प्रतिष्ठित बतलाया गया है । मन और बुद्धि दोनों परस्पर में अविनाभूत हैं । मन कभी बुद्धि से पृथक् नहीं हो सकता, एवं बुद्धि न मन से कभी पृथक् होती । दोनों नित्य सम्बद्ध हैं, जैसा कि श्रुति कहती है —

‘कतम आत्मेति ? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः ।’

(बृ. आ. उ. ४।३।७।) । ‘तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपम् ।

तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद-नान्तरं, एवमेवायं

पुरुषः (विज्ञानात्मा-चानुषपुरुषः) प्राज्ञेनात्मना सपरिष्वक्तः’

(बृ. आ. उ. ४।३।२१।) ।

ऐसी दशा में सदा ही सभी विषयों के साथ आसक्ति होनी चाहिए, क्योंकि संस्कारग्राहक मन, एवं दृढतोत्पादिका बुद्धि दोनों सदा ही सहकृत हैं । परन्तु हम देखते हैं कि कितने ही विषयों से मन घृणा करता है । उन के स्मरणमात्र से मन उद्विग्न हो पड़ता है । इस का क्या कारण ? आसक्तिभूता सामग्री के रहते हुए भी कहीं आसक्ति हो, कहीं न हो इस का क्या उत्तर ? ‘बुद्धिर्द्रैविध्यः’ । बुद्धितत्त्व अपेक्षा, उपेक्षा भाव से दो भावों से आक्रान्त रहता है । अपेक्षाबुद्धि से संस्कार दृढ़ होजाता है, उपेक्षाबुद्धि से संस्कार स्थिर नहीं होने पाता । मन को हमने क्षणिक बतलाया है । यदि मन प्रबल है तो स्थिर बुद्धि निर्बल होजाती है, ऐसी दशा में स्थिरभाव उत्पन्न नहीं होता, उपेक्षाभाव का उदय होजाता है । यदि बुद्धि प्रबल है तो मन की क्षणिकता निर्बल बन जाती है, उपेक्षा द्वारा स्थिरभाव उत्पन्न होजाता है । इसी को लोक में—‘ग़ौर करना’ कहा जाता है । ‘ग़ौर करो’ इसका अर्थ है बुद्धि से काम लो, बुद्धिबल बढ़ाओ । इससे संस्कार दृढ़ होगा, अन्यथा संस्कार निर्बल रहेगा । इस प्रकार इस अपेक्षा बुद्धि से संस्कार दृढ़मूल बन जाते हैं, यही आसक्ति का मूल है । ठीक इसके विपरीत उपेक्षाबुद्धि में संस्कारशैथिल्य है, यही अनासक्ति का मूल है । उदासीनभाव

ही उपेक्षाभाव है । 'मनसा गृहीतविषये बुद्धेर्भिरकालिकत्वमनुध्यानम्' के अनुसार मन इन्द्रियों के द्वारा जिन विषयों का संस्काररूप से ग्रहण करता है, यदि संस्काररूप से आगत विषयों में (अपेक्षाभाव की प्रधानता से) बुद्धि अधिक समय तक ठहर जाती है तो वही वृत्ति 'अनुध्यान' नाम से व्यवहृत होने लगती है । चिन्तन करना अनुध्यान है । इस ध्यानरूप बुद्धि के व्यापार से आगत विषय का मन के साथ चिरकालिक संयोग हो जाता है, यह संयोग ही संग है, संग ही आसक्ति है ।

'मनसः स्वगृहीतविषयस्य बहिर्धा परिजिघृक्षा कामः' के अनुसार संस्कारात्मक विषय-यावच्छिन्न मन का बहिःस्थित संस्कार जनक तत्तद् विषयों की ओर बार बार दोड़ना ही 'काम' है । संगरूपी आसक्ति ही काम की जननी है । यही काम आगे जाकर क्रोध का जनक बन जाता है । 'अनुकूलसंयोगलक्षणः सुखानुशयी संस्कारो रागः', के अनुसार अभिलषित, अतएव सुख के साधनभूत विषय के साथ ही काम का सम्बन्ध होता है, यही राग है । यह विषयपरिजिघृक्षा 'रागमूला' है । एवं 'प्रतिकूलसंयोगलक्षणो दुःखानुशयी संस्कारो द्वेषः' के अनुसार मन का अपने अवाञ्छित विषय के साथ (जो कि दुःख का प्रवर्तक है) झुकना द्वेष है । आसक्ति दोनों में है । राग सम्बन्ध से एक मित्र के स्नेहपाश में मन जितना बद्ध रहता है, उस से कहीं अधिक शत्रु के साथ मन बद्ध रहता है । रावण-कंस आदि असुर इसी द्वेष बुद्धि से मुक्त हुए हैं । काम से ही राग का उदय है, काम से ही द्वेष का उदय है । कामसमानाधिकरण काम ही क्रोध का मूल है । एक वस्तु को आप भी चाहते हैं, उसी को एक दूसरा व्यक्ति भी चाहता है । एक ही स्थान पर दो कामों का समन्वय हो रहा है । दोनों का अधिकरण एक है । इस समानाधिकरणरूप काम से तत्काल क्रोध का उदय हो जाता है । "अभीप्सितविषयेऽन्याक्रमणाशङ्कतायां तदप्राप्तिसंभावनायां शरीराप्राप्त्यर्थः क्षोभः क्रोधः" के अनुसार अपने अभिलषित पदार्थ को यदि अन्य व्यक्ति लेने की इच्छा करने लगता है तो उस व्यक्ति को उस की प्राप्ति में आशङ्का हो जाती है । इस से शरीर का अग्नि दग्ध हो पड़ता है । अग्नि का यह क्षोभ ही 'क्रोध' है । राग से ही काम का उदय हुआ है, राग से

ही क्रोध का उदय हुआ है। दूसरे शब्दों में कामप्रतिबन्धन ही क्रोध का मूल है, यही कामप्रतिबन्धन द्वेष का मूल है। काम एक भिन्न संस्कार है, क्रोध एक भिन्न संस्कार है। दोनों का मन में सम्मेलन होता है। इन दोनों विजातीय संस्कारों के संघर्ष से एक तीसरा अपूर्व-संस्कार उत्पन्न हो जाता है, वही 'संमोह' नाम से प्रसिद्ध है। अनुभवाहितसंस्कारजन्यज्ञान स्मृति है, स्मृति ही विज्ञान बल को बढ़ाती है। संमोह से (चित्तक्षोभ) से स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है। स्मृतिनाशसे बुद्धि (विचारशक्ति) नष्ट हो जाती है। बुद्धिभ्रंश ही विनाश का मुख्य कारण है। इसी क्रमिक मनोविज्ञान का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥१॥ (गी० २।५२)।

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥३॥

(गी० २।६२-६३) ।

उपर्युक्त मनोविज्ञान से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि यदि विज्ञानात्मा मन की ओर झुक जाता है तो वह मन पर आए हुए अविद्यामय भौतिक विषयसंस्कारों को दृढ़ बनाता हुआ आत्मस्वरूप को आवृत कर देता है। बुद्धि में जो विद्या-(ज्ञान)भाग है, वह मन के साथ युक्त होकर ज्ञानेन्द्रियों का उपकार करता है। इस ज्ञानीय संस्कार को ही 'अनुभवाहितसंस्कार' कहते हैं, यही 'भावना' नाम से प्रसिद्ध है। एवं बुद्धि का अविद्या-(कर्म) भाग मन द्वारा कर्मेन्द्रियों का उपकारक बनता है। यही कर्मजनित संस्कार 'वासना' नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञान-(विद्या) संस्कार, एवं कर्म-(अविद्या) संस्कार ही मन की ओर झुकी हुई उसी बुद्धि की

• इस विषय का विशद विवेचन 'मोहाविज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

कृपा से (अभिधान से) दृढमूल बनते हुए दुःखमूला आसक्ति के जनक बन जाते हैं । अविद्या कर्म है, जड़भाव है, दूसरे शब्दों में अज्ञान है । इस की उपासना करने वाले अन्धतम में प्रविष्ट होते हैं । परन्तु विद्या की ओर झुकने वाले उस से भी अधिक गहरे अंधकार में जाते हैं । कर्म उतना बुरा असर नहीं करता, जितना कि अर्धवृत्त 'समम्' से होता है । व्यर्थ की कल्पनाएं मनुष्य को पशु बना डालती हैं । निष्काम-बुद्धि से किया जाने वाला कर्म शुद्ध विद्यारूप में परिणत होजाता है, परन्तु सकाम-विद्या आवरक-प्रवृत्ति कर्म से भी कहीं अधिक भयङ्कर हो जाती है । क्योंकि कर्मजनित वासना संस्कार की अपेक्षा ज्ञानजनित भावना संस्कार अधिक दृढ होता है । चोर को उतना दण्ड नहीं मिलता, जितना कि चोरी की इच्छा रखने वाले को मिलता है । कर्म (कर्मजनित वासना संस्कार) तो नष्ट होसकता है, परन्तु ज्ञान (ज्ञानजनित भावना संस्कार) सहसा नष्ट नहीं होता । आप एक व्यक्ति को बुरे कर्म से शीघ्र रोक सकते हैं, परन्तु उस के बुरे विचार (भावना) सहसा नहीं बदले जासकते । स्थूल की चिकित्सा सहज है, सूक्ष्म की चिकित्सा कठिन है । इन्हीं सारे रहस्यों को लक्ष्य में रखता हुआ, विज्ञानात्मा का स्वरूपधर्म बतलाता हुआ प्रकृत विज्ञानात्माधिकरण पाठकों के सामने उपस्थित हुआ है ।

विज्ञानतत्त्वप्रतिपादिक तीनों मन्त्रों में उपलब्ध होने वाली ईशोपनिषत् में आजदिन "अन्धं तमः प्रविशन्ति"०- "अन्यदेवाहुर्विद्यया"० "विद्यां चाविद्यां च"० यह क्रम देखा जाता है । परन्तु हमारी दृष्टि से (विज्ञानदृष्टि से) इन तीनों मन्त्रों का "अन्यदेवाहुर्विद्यया"०- "अन्धं तमः प्रविशन्ति"०- "विद्यां चाविद्यां च"० यह क्रम होना चाहिए । संभव है संस्कारों की असावधानी से यह विज्ञानक्रम बदल गया हो । पहले न्यायतः विज्ञानात्मा का स्वरूप बताना आवश्यक है । आत्मस्वरूप परिज्ञान के अनन्तर "जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते, उन की ऐसी गति होती है" यह कहने का अवसर मिलता है । सर्वान्त में- 'इसलिये आत्मेदेवता की इस तरह उपासना करो' यह कहना न्यायसंगत होता है ।

यही क्रम वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक 'क्रम' का 'अन्यदेवाहुर्विद्यया०' यह प्रथममन्त्र विज्ञानात्मा का स्वरूप बतलाता है। 'अन्धं तमः प्रविशन्ति०' इत्यादि मन्त्र आत्मा के प्रतिपादित स्वरूप से विरुद्ध जानेवालों की अधोगति बतलाता है, एवं सर्वान्त में—'विद्यां चाविद्यां च' इत्यादि मन्त्र प्रतिज्ञात आत्मतत्त्व का स्पष्टीकरण करता है। इसी क्रम का समादर करते हुए निम्न लिखित मन्त्र की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है—

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ॥

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचत्तिरे ॥१॥

(ई. उ. १० मन्त्र)

“वह आत्म मन्त्र विद्या से भी पृथक् कहा जाता है, अविद्या से भी पृथक् कहा जाता है। जिन (पारोर्ध्वविद्) विद्वानों ने हमारे लिए आत्मस्वरूप का निरूपण किया है, उन धीरों के (आत्मा के सम्बन्ध में) ऐसे ही विचार हैं—यह हम सुनते आये हैं, अर्थात् धीर विद्वानों का कहना है कि वह आत्मतत्त्व विद्या-अविद्या दोनों से पृथक् तत्त्व है” यह है मन्त्र का सामान्य अर्थ।

हम विश्व में समष्टि एवं व्यष्टिरूप से सर्वत्र विद्या और अविद्या (ज्ञान एवं कर्म) का साक्षात्कार कर रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ ज्ञान-कर्ममय है। साथ ही में जहां ज्ञान है, वहां कर्म (विषय) अवश्य है। कर्मसंघातरूप विषय के बिना आप अपने ज्ञान को कभी नहीं देख सकते। प्रत्येक दशा में ज्ञान विषयाकाराकारित बन कर ही भासित होता है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्म ज्ञानमय है। 'ज्ञायते' भी क्रिया ही है। आप किसी वस्तु को जानते हैं, यह जानना भी कर्म है। आप कोई काम कर रहे हैं, उस में भी ज्ञान नित्य सम्बद्ध है। संसार में सत्तत् प्रयास करने पर भी आप विशुद्ध ज्ञान एवं विशुद्ध कर्म का पार्थक्य नहीं देख सकते। इन में ज्ञानभाग अमृत है, कर्मभाग मृत्यु है। ज्ञान आदर्शवत् सदा एक रूप रहता है, यही इस का अमृतभाव है। ज्ञान में आने वाले कर्मरूप विषय निरन्तर बदलते रहते हैं, यही कर्म का

मृत्युभाव है। ज्ञान विद्या है, कर्म अविद्या है। दोनों का (सोपाधिकरूप से) प्रत्यक्ष हो रहा है। इन दोनों का मूलाधार विज्ञानात्मा (बुद्धि) है। विज्ञानात्मा में प्राण और चित् यह दो भाग हैं। साथ ही में तीसरा सोमत्व भी है। प्रज्ञानात्मा (मन) में भी हमने सोम-चित्-प्राण-यह तीन ही अवयव बतलाए थे, परन्तु इस में और विज्ञान में बड़ा अन्तर है। विज्ञानात्मा सूर्य की प्रतिकृति होने से चारों ओर से प्रकाशित रहता हुआ स्वज्योतिर्मयत्व है। प्रज्ञानात्मा चन्द्रमा की प्रतिकृति होने से एक भाग से (जिस ओर विज्ञानात्मा का प्रकाश आता है-उस भाग से) प्रकाशित रहता हुआ परज्योतिर्मयत्व है। साथ ही में विज्ञानात्मा का सोम पारमेष्ठ्य ब्रह्मणःपति सोम है, प्रज्ञानात्मा का सोम चान्द्र वृष सोम है। विज्ञान और प्रज्ञान में वही अन्तर है, जो अन्तर सूर्य और चन्द्रमा में है। विज्ञान अग्रित्वप्रधान है, प्रज्ञान सोम-त्वप्रधान है। विज्ञान विषयों पर जा सकता है, प्रज्ञान पर विषय आते हैं। नवीन रचना में विज्ञानव्यापार की प्रधानता है, किसी की बनी हुई रचना की प्रतिलिपि करने में प्रज्ञानव्यापार प्रधान है। सोमवत् दोनों के प्राण में भी भेद है। विज्ञानप्राण दिव्य है, प्रज्ञानप्राण आन्तरिच्य है। विज्ञानेन्द्र 'मग्नवा' है, प्रज्ञानेन्द्र 'वृत्रहा' है। इसी प्रकार विज्ञान का चिदंश महत्युक्त होने से प्रबल है, प्रज्ञान में जो चिदंश आया है, वह विज्ञान की ही देन है। इन सब कारणों से विज्ञान-प्रज्ञान की सोम-चिदंश-प्राण तीनों कलाओं का पार्थक्य, एवं पृथग्धर्मत्व सिद्ध हो जाता है। विज्ञानात्मा क्षेत्रज्ञ है, कारविज्ञा है। प्रज्ञानात्मा कर्ता है। इसी कर्ता प्रज्ञान की ज्ञान (प्रज्ञा), क्रिया (प्राण), अर्थ (भूत) तीनों शक्तियों का संचालक क्षेत्रज्ञ विज्ञानात्मा है। अपनी सोमकला से विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा को भूतमात्रा (शब्द-रूप-रसादि विषयों) के लिए, चित्कला को प्रज्ञामात्रा के लिए, एवं प्राणकला को प्राणमात्रा (इन्द्रियवर्ग) के लिए प्रेरित करता है। जब तक विज्ञान है, तभी तक आध्यात्मिकसंस्था की स्वरूपस्थिति है। सोम-युक्त चिदंश विज्ञान का विद्या (ज्ञान) भाग है, विज्ञानानुग्रहीत प्राणेन्द्र कर्मभाग है। इस प्रकार अमृतमृत्युमय, दूसरे शब्दों में विद्या-अविद्यामय, तीसरे शब्दों में ज्ञान कर्ममय विज्ञानात्मा ही आध्यात्मसंस्था का उसी प्रकार प्रकाशक एवं स्वरूपसमर्पक बना हुआ है, जैसे कि सूर्य

अपने अमृतमृत्युभाग से विश्व का प्रकाशक बना हुआ है। जब तक सूर्य है, तभी तक अह-रागम है, तभी तक विश्व है। जिस दिन सूर्य न रहेगा, उस दिन रात्र्यागम द्वारा प्रलय का साम्राज्य हो जायगा।

“यह विद्या (ज्ञान) है, यह अविद्या (कर्म) है” इस प्रकार से हम संसार में समष्टि व्यष्टिरूप से जिस ज्ञान-कर्म का साक्षात्कार कर रहे हैं, वह हमारे विज्ञानधन सूर्य की महिमा है—‘अहं सूर्य इवाजनि’। इस प्रकार अविद्या-विद्यारूप से हम विज्ञानात्मा के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। यही सोपाधिक विद्या-अविद्या विज्ञानात्मा का स्वरूप है। इस स्वरूप को (ज्ञान कर्म को) शिक्षित अशिक्षित सभी जानते हैं। ‘हम जानते हैं—हम करते हैं’ यह अक्षर सभी के मुख से निकलते हैं। क्या सर्वविदित यही विद्या-अविद्या (सोपाधिक ज्ञान-कर्म) विज्ञानात्मा का वास्तविक स्वरूप है? क्या सभी आत्मज्ञानी हैं? फिर तो शास्त्रोपदेश की आवश्यकता ही न रही। इसी सारी जटिल समस्या को सुलभता हुआ—‘अन्यदेवाहुर्विद्यया०’ इत्यादि मन्त्र हमारे सामने आता है। हम सांसारिक पदार्थों में ज्ञानरूप से जिस विद्याभाग का साक्षात्कार कर रहे हैं, क्या यह प्रत्यक्षानुभूत विद्या आत्मविद्या है?, ऋषि कहते हैं—‘अन्यत्-विद्यया’। जिस अविद्याभाग का हम कर्मरूप से दर्शन कर रहे हैं, क्या वह ‘आत्मविद्या’ है?, ऋषि कहते हैं—‘अन्यत्-अविद्यया’।

वात असल में यह है कि श्रुति को ‘विज्ञानात्मा’ में जो विशुद्ध आत्मपदार्थ है, उस का परि-ज्ञान करवाना है। यद्यपि विश्व में प्रत्यक्ष दृष्ट विद्या-अविद्याभाग उसी का विवर्त है, परन्तु यह दोनों ही भाग भौतिक विश्व से संपरिध्वक्त बनकर सोपाधिक बनते हुए स्वस्वरूप से च्युत हो रहे हैं। उधर विशुद्ध विद्या-अविद्यारूप आत्मतत्त्व केवल स्वानुभवैकगम्य है। वहां शब्द की गति नहीं है—‘विज्ञातारमरे! वा केन विज्ञानीयात्’। विश्व के प्रत्येक पर्व के विद्या-अविद्या भाग पर दृष्टि डालते जाइए, सर्वत्र ‘इदं न-इदं न-इदमपि न-इदमपि न’ यही कहना पड़ेगा। इस प्रकार न-न करते जब सारे विश्व प्रपञ्च की समाप्ति होजाय, उस समय जो विशुद्ध-अगम्य तत्त्व

बच जाय वही आत्मा है। उसके लिए सिवाय 'न'—के और हम क्या कह सकते हैं—'नेति-नेतीति होवाच' 'नेति-नेति ऋषि वेद-पुकारा'। यह 'न' अभाव का बोधक नहीं है, अपि तु भौतिक विश्व से सर्वथा पृथक्, विशुद्ध, निरुपाधिक, सर्वव्यापक आत्मतत्त्व का परिचायक है। इसीलिए श्रुति ने—'नेति' न कह कर 'नेति नति' कहा है। श्रुति को तटस्थलक्षण द्वारा विशुद्ध आत्मतत्त्व पर हमें लेजाना है, इसके लिए तो 'नकार' का आश्रय लेना पड़ा। जैसा तुम उसे (सोपाधिक) समझ रहे हो वह वैसा 'न' (नहीं) है। परन्तु वह नकार भी नकार है, यह समझना भी न भूलना। 'न' इति न' इति- (नेति नेति) अवगन्वयम्'। वह नास्तिरूप है (अभावरूप है), यह बात नहीं है" यह समझो नेतिनेति का यही तात्पर्य है। अर्थात् वह नकार नकाररूप है।

अथवा प्रकारान्तरसे 'नेति नेति' वाक्य का समन्वय कीजिए। प्रथम नकार को 'अभाव' का ही वाचक समझिए। दूसरे नकार को भी अभावपरक मानिए। 'न' इसका जो 'न' है—वह ऐसा है, अर्थात् आत्मतत्त्व अभाव का भी अभाव है, यह तात्पर्य होगा। घटाभावाभाव जैसे घटसत्ता का कारण बन जाता है, एवमेव विश्वरूप आत्मा के अभाव का अभाव आत्म-सत्ता का कारण बन जाता है। ऐसी दशा में 'नेति नेति' का अर्थ होता है—'अस्तीत्येव' (अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कुतस्तदुपलभ्यते)। इसी भाव के लिए श्रुति ने यहां 'अन्यत्' शब्द का प्रयोग किया है। मिलेगा आत्मतत्त्व यही, परन्तु कब जब 'अन्यत्' भाव को सामने रखवोगे तब—विश्व को विद्या अविद्या मत समझो, विश्व में विद्या-अविद्यात्मक आत्मा को प्रविष्ट समझो। सोपाधिक पर दृष्टि डालते हुए 'अन्यत्' शब्द से निर्दिष्ट निरुपाधिक का अनुभव करो, वही आत्मा आत्मा है। सोपाधिक भाग तो उसी का विश्वरूप है। जहां लौकिक मनुष्य आत्मा के सोपाधिक (विश्वभाव) भाव को प्रधान समझते हैं, वहां धीरे लोभ निरुपाधिक को ही वास्तविक आत्मतत्त्व कहते हैं। यही उक्त मन्त्र का पहिला अर्थ है। १।

विज्ञान को विद्या-अविद्यात्मक बतलाया गया है। यह विद्या और अविद्या भाग बुद्धिरूप है। अविद्याचतुष्टयी अविद्याबुद्धि है। विश्वचतुष्टयी, विद्याबुद्धि है। यह सौर विद्या-अविद्या-

भाग है। इन से क्रमशः अव्ययात्मा के विद्या-अविद्या भाग का उपकार होता है, अतएव इन्हें भी विद्या-अविद्या शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है। वस्तुतः विद्या-अविद्यात्मक अव्ययात्म-तत्त्व सौर विद्या-अविद्या से पृथक् तत्त्व है। यह किसने समझा ? इसका उत्तर है—“धीराः”। सौर विज्ञान धी भाग है। इस भीतत्व के परिज्ञाता विद्वान् धीर हैं। जो धीर (सौरविज्ञान-विज्ञाता) हैं वे ही यह समझ सकते हैं कि वह इस सौरी अविद्या से भी अन्य है, एवं सौरी विद्या से भी भिन्न है। यही मन्त्र का दूसरा अर्थ है।

प्रथमार्थ में जो भाव प्रकट किए गए हैं, उन्हीं भावों को ‘विद्यायाः—अविद्यायाः’ इन षष्ठ्यन्त पाठों से भी व्यक्त किया जासकता है। स्वयं मूलसंहिताने षष्ठ्यन्त पाठ को ही प्रधान माना है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदादुरविद्यायाः।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विषयक्षिरे ॥ (यजुः सं. ४० अ. १३ मं.)।

सामान्य मनुष्यों ने विद्याशब्द का अर्थ ज्ञान, एवं अविद्याशब्द का अर्थ अज्ञान समझ रखा है। इसी भ्रान्तिने इन्हें आत्मस्वरूप से वञ्चित कर रखा है। उधर आत्मा का स्वरूप भी विद्या—अविद्यात्मक बतलाया जाता है। क्या आत्मा के विद्या—अविद्याभाग लोकसिद्ध ज्ञान—अज्ञान ही हैं ? इस का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि तुमने विद्या का जो अर्थ (ज्ञान) समझ रखा है, तुम्हारे समझे हुए विद्यास्वरूप से उस आत्मविद्या का स्वरूप सर्वथा विभिन्न है—‘अन्यदेवाहुर्विद्यायाः’ (आत्मविद्यायाः)। एवमेव तुमने अविद्या का जो अर्थ (अज्ञान) समझ रखा है, तुम्हारे समझे हुए अविद्यास्वरूप से आत्मा के उस अविद्या का दूसरा ही तात्पर्य है—‘अन्यदेवादुरविद्यायाः’। विद्या से अव्यय की विशुद्ध-विद्या अभिप्रेत

• “अन्यदेव तद्विज्ञादयो अविदितादधि।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विषयक्षिरे” (केन० १।३)

“अन्यच्च धर्मादन्वयाधर्मत्” (कठ० १।१०)

इत्यादि उपनिषद्वाचन भी इसी द्वितीमार्थ का स्पष्टीकरण करते हैं।

है, अविद्या से अव्यय का शुद्ध कर्मभाग अभिप्रेत है। अविद्या का अर्थ अज्ञान नहीं, अपि तु कर्म है। आत्मा विद्याविद्यात्मक है—इस का तात्पर्य—‘आत्मा विद्याकर्ममय है’ यही है।

अपिच विद्या-अविद्या शब्द से ज्ञान-कर्म का ही ग्रहण करने वाले कुछ एक मनुष्यों का कहना है कि विद्यारूप ज्ञानभाग सर्वथा स्वतन्त्र तत्त्व है, यही वास्तव में आत्मा है। कर्मतत्त्व अज्ञानरूप होता हुआ आत्मा का आवरणक है। विद्या कभी अविद्या से, एवं अविद्या कभी विद्या से संयुक्त नहीं होती। दोनों (विषयी-विषय) तमः-प्रकाशवत् अत्यन्त विरुद्ध हैं। इन दोनों विरुद्धों का जो एकत्र समावेश देखा जाता है, यह सर्वथा मिथ्या अन्ति है। आवरणमूला अविद्या का विद्यारूप आत्मा से क्या सम्बन्ध? इसी भ्रान्तमन का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि—यदि तुम विद्या-अविद्या का ऐसा ही स्वरूप समझते हो तो विश्वास करो, न तुमने विद्या का यथार्थ स्वरूप समझा, न अविद्या का। तुम्हारी समझी हुई विद्या का एवं अविद्या का जो स्वरूप है, उस आत्म विद्या का एवं अविद्या का स्वरूप सर्वथा ‘अन्यत्’ है। जिसे तुम मिथ्या कहने का साहस करते हो, वह अविद्या अज्ञान नहीं, अपि तु विद्यागर्भित कर्म है, एवं जिसे तुम शुद्ध विद्या कहते हो वह कर्मगर्भिता विद्या है। भूल गए पूर्व की ‘तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः’ इस प्रतिज्ञा को। आत्मा का आधा भाग विद्या है, आधा-भाग कर्म है। दोनों का समन्वितरूप एक आत्मा है। ऐसी स्थिति में केवल ज्ञान के अनुयायी भी उसे नहीं पहिचानते, एवं केवल कर्म के अनुयायी भी आत्मस्वरूपज्ञान से वञ्चित रहते हैं। तमः-प्रकाशवत् दोनों विरुद्ध अवश्य हैं, परन्तु दोनों का एकत्र समन्वय मिथ्या नहीं, अपि तु—‘अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाद्यमर्जुन’ के अनुसार नितान्त सत्य है। जो आत्मा के इस समन्वितरूप की आराधना न कर केवल ज्ञानभाग, अथवा केवल कर्मभाग की उपासना करते हैं, जानते हो उन की क्या दशा होती है? नहीं जानते तो सुनो!

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽअविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ २ ॥

(ई० उ० ६ मन्त्र) ।

पुरुषात्माधिकरण्यान्तर्गत कर्तृतेन्त्र के धर्मनीतिपत्र में कर्मप्रपञ्च का दिग्दर्शन कराते हुए कर्म के कर्म-विकर्म-प्रकर्म भेद से तीन प्रधान विवर्त्त, एवं ५ साधारण विवर्त्त बतलाए गए हैं—(देखिए ई. वि. भा. १ खण्ड १२४—१२५ पृ.)। कर्मवत् ज्ञान भी ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान इन तीन भागों में ही विभक्त है। रज्जु को सर्प समझना अज्ञान है। इसी को भ्रान्ति, मोह, मिथ्याज्ञान आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। दार्शनिक परिभाषानुसार इसी अज्ञानरूप भ्रान्तज्ञान को 'प्रातिभासिकीदृष्टि' कहा जाता है। यह अज्ञान परमार्थदृष्टि से भी असत्य है, एवं व्यवहारदृष्टि से भी असत्य है। यही वेदान्तदर्शनाभित 'अध्यास' है। रज्जु को रज्जु समझना विज्ञान है। यहां विज्ञान शब्द से विरुद्ध ज्ञान ही अभिप्रेत है। रज्जु रज्जु नहीं, साक्षात् ब्रह्म है। परन्तु लौकिक मनुष्यों ने अपने लौकिक व्यवहार की सुविधा के लिए इसे 'रज्जु' नाम से व्यवहृत कर रक्खा है। व्यवहारदृष्टि से रज्जु को रज्जु कहना यद्यपि सत्य है, परन्तु परमार्थदृष्टि से रज्जु को रज्जु समझना विज्ञान (विरुद्धज्ञान) है। इन्द्रियों से जिन विषयों का जैसा ज्ञान हो रहा है, वह सब परमार्थज्ञान से च्युत होता हुआ विज्ञानकोटि में प्रविष्ट है। इसी को 'व्यावहारिकीदृष्टि' कहा जाता है। एवं रज्जु को आत्मा समझना ज्ञान है—'ज्ञानान्मुक्तिः'। यही आत्मादृष्टि है, यही 'पारमार्थिकीदृष्टि' है, यही वास्तविक ज्ञान है। इन में ज्ञान कर्म का उपकार है, विज्ञान विकर्म का उपकारक है, एवं अज्ञान अकर्म का उपकारक है। दूसरे शब्दों में आत्मज्ञान से निवृत्तिलक्षण आत्मीय (निकाय) कर्मों का उदय होता है। व्यवहारज्ञान से प्रवृत्तिलक्षण व्यावहारिक कर्मों का संचालन होता है, एवं अज्ञान से पतन मूलक भ्रान्त कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

१—ज्ञानम् (आत्मज्ञानं—सर्वथा सत्यम्) → → → १—कर्म (आत्मीय कर्म)

२—विज्ञानम् (लौ० ज्ञानं, परमार्थतः—असत्यं) → → → २—विकर्म (व्यावहारिक कर्म)
व्यवहारतः सत्यम्)

३—अज्ञानम् (मिथ्याज्ञानं भ्रान्तिः) → → → ३—अकर्म (निरर्थक कर्म)

—०००—

१-विद्या (ज्ञान)-सापेक्ष प्रवृत्तिकर्म.....सत्कर्म—कर्मकारी	}—ज्ञानमूलककर्म
२-विद्या (ज्ञान)-निरपेक्ष प्रवृत्तिकर्म.....सत्कर्म—साधुकारी	
३-विद्या (ज्ञान)-सापेक्ष निवृत्तिकर्म.....निराकामकर्म-कर्मयोगी	
४-विद्यानिरपेक्ष विरुद्धकर्म.....विकर्म—लौकायतिक]	-विज्ञानमूलककर्म
५-विद्यानिरपेक्ष निरर्थककर्म.....अकर्म—यथेच्छाचारी]	-अज्ञानमूलककर्म

-----०-----

इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान और कर्म का साम्राज्य हो रहा है। त्रेधाविभक्त ज्ञान में से ज्ञान, एवं त्रेधाविभक्त कर्म में से कर्म प्राप्य है, शेष विज्ञान-अज्ञान, एवं निकर्म-अकर्म हेय हैं, यह रहस्यवेत्ताओं का सिद्धान्त है। इस ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों में चिरकाल से भिन्न भिन्न दो मत चले आ रहे हैं। कर्मतत्त्व को ही प्रधानता देने वाले कर्मठों का कहना है कि आत्मा का अभ्युदय कर्म से ही हो सकता है। कर्म करने में ही कल्याण है। सम्पूर्ण विश्व प्रजापति का कर्म है। उसने कर्म से ही यह विभूति प्राप्त की है। कर्म करते जाओ, ज्ञान का उदय अपने आप हो जायगा—‘तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि बिन्दति’। ज्ञान के लिए प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारा मुख्य ध्येय कर्म (प्रवृत्तिकर्म) होना चाहिए। यही विद्वान् कर्मठ, कर्मयोगी, कर्मनिष्ठानुयायी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

दूसरा दल कहता है कि कर्म से कभी अभ्युदय नहीं हो सकता। तुझारा यह कहना कि प्रजापति ने कर्म से यह विश्वविभूति प्राप्त की है, सर्वथा असंगत है। प्रजापति विशुद्ध ज्ञानमूर्ति है। वहां कर्म की संभावना ही नहीं है। यह तो नियशुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। तुम्हें जो कर्म प्रपञ्च (विश्व) दिखाई दे रहा है, वह ‘रज्जुसर्पवत्’ ‘स्थाणुपुरुषवत्’ ‘शुद्धिरजतवत्’ सर्वथा भ्रान्त है, अभ्यासमात्र है। सारा विश्व एक माया का मिथ्याजात है। हम मानते हैं कि विद्यासमुच्चित कर्म श्रेष्ठ है, स्वर्गफल देने वाला है। परन्तु वह भी आगे जाकर क्षणिक (वैय-

यिक) सुख कोटि में प्रविष्ट होता हुआ दुःख का ही कारण बन जाता है। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्य-
लोके वसन्ति' 'प्लवा होते अदृढा यद्गुरुपाः'। कर्म कर्म है, पाप्मा है, आवरक है। इस से
ज्ञानमूर्ति आत्मा का निःश्रेयसभाव कथमपि संभव नहीं है। सर्वकर्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयो-
गरूप सन्यास से ही मुक्ति हो सकती है। यही ज्ञानैकवादी 'ज्ञानी' 'ज्ञाननिष्ठानुयम्त्री'
'सांख्य' आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

एक कहते हैं ज्ञान श्रेष्ठ है, दूसरे कहते हैं कर्म श्रेष्ठ है। एक कहते हैं सारा कर्म छोड़
छाड़कर जङ्गल में चले जाओ, दूसरे कहते हैं रात दिन कर्म (प्रवृत्तिकर्म) करते रहो। लोक
में प्रचलित इन्हीं दो विरुद्ध निष्ठाओं का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ (गीता)

उपनिषद् की दृष्टि में उक्त दोनों ही मार्ग पत्तन के कारण हैं। विद्यामार्ग भी ठीक नहीं,
अविद्यामार्ग भी ठीक नहीं। ठीक क्या नहीं? संभव नहीं। कर्मठ कर्म में प्रवृत्त होते हुए
वासना संस्कार से आत्मा को आवृत कर रहे हैं। ज्ञानी कहलाने वाले ज्ञान में प्रवृत्त होते हुए
भावना से आत्मा को आवृत कर रहे हैं। सकाम ज्ञानयोग, सकाम कर्मयोग दोनों ही भाव-
ना-वासनासंस्कार के जनक बनते हुए बन्धन के कारण हैं। सर्वकर्मपरित्यागलक्षण सांख्ययोग
बन ही नहीं सकता। क्योंकि ज्ञानवत् कर्म भी आत्मा का अर्द्ध (भाग) है, जैसा कि पूर्व में बत-
लाया गया है। उधर कर्म भी बिना ज्ञान के अधूरा है। जो केवल कर्म के अनुयायी हैं, कुछ
दिनों के लिए उन का सांसारिक वैभव अवश्य बढ़ता है, परन्तु इस प्रवृत्तिजनक संस्कार से आ-
त्मा आवृत होजाता है। यही प्रवृत्तिकर्म आगे जाकर अन्धतमरूप पाषाणादि स्थावरयोनियों
का कारण बनता हुआ आत्मा को सदा के लिए अन्धतम से आवृत कर लेता है—(देखिए ई.
वि.भा. १ खण्ड आवरणतन्त्र १६१ से १८३ पर्यन्त)। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि जो केवल अवि-
द्यारूप कर्म की उपासना करते हैं, वे घोर तम में प्रविष्ट होते हैं—“अन्ध तमः प्रविशन्ति
येऽविद्यामुपासते”।

यह तो हुई अधिष्ठासकों की कथा, अब विद्यानुयायियों की दशा देखिए। केवल ज्ञान को ही श्रेष्ठ मानने वाले महानुभाव सांसारिक अभ्युदय के मूलभूत कर्म को तो पहिले से ही छोड़ बैठते हैं। सब छेड़छाड़ कोपीन लगाकर अरण्य में चले जाते हैं। होता वही है, जो होना होता है। शुद्ध ज्ञान कभी रहता नहीं, कम से कम इस दशा में भी मुक्तिकामना अवश्य रहती है। मुक्तिकामना ही क्यों, खाना-पीना-सोना सभी शारीरिक कर्म तो यहां भी साथ रहते हैं। इन्द्रियों के वेग भीतर से उत्पाद मचाते हैं। बनाबटी स्वांग से वह कबतक दान्त रह सकते हैं। तभी तो भगवान् ने ऐसे संन्यास को 'मिथ्याचार' (टोंग) कहा है। जब कर्म है तो आसक्ति अवश्य है, आसक्ति है तो आवरण भी अवश्य है। इस आवरणस्थिति तक तो कर्मठ और ज्ञानी की समान दशा है। अन्तर दोनों की परिस्थिति में केवल यही रह जाता है कि कर्मानुयायी जहां सांसारिक वैभव का भोक्ता बनता है, वहां ज्ञानानुयायी इस वैभव से भी वञ्चित हो जाता है। अतएव हम कह सकते हैं कि इन अधिष्ठासकों की दशा अधिष्ठासकों से भी बुरी है। कर्मठ उधर के न सही, इधर के तो हैं। परन्तु यह इधर के रहें, न उधर के रहे, "दुविधा में दोनों गए-माया मिनी न राम"। न लौकिक सुख है, न आत्मानन्द है। इसी अभिप्राय से उपनिषत् ने इनके लिए—“ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः” यह कहा है। कहना नहीं होगा कि आज उक्त श्रौत वचा भारतवर्ष में अनुराग चरितार्थ हो रहा है। सर्वकर्मपरित्यागलक्षण संन्यास के उपदेष्टा आचार्यों की कृपा से आज भारतवर्ष सारा कर्मकलाप अपने हाथ से खो बैठा है। प्रत्येक कर्म के लिए आज यह परमुखापेक्षी बन रहा है। उधर कर्मठ विजेता लोग प्रतिदिन आगे बढ़ते जा रहे हैं। हम अपने—‘संसार झूठा है, आत्मज्ञान ही सच्चा है’ इस बेसुरे आलाप में मस्त हैं। यह सच है कि केवल कर्म को अपनाने वाले कर्मठ भी क्षणिक वैभव के अनन्तर उसी आवरण से आक्रान्त हो जाते हैं, परन्तु उन्हें ऐहलौकिक सम्पत्ति तो मिल रही है। उधर कल्पित विद्यानुरागी हमारा समाज दोनों से वञ्चित हो रहा है। इस प्रकार प्रकृत मन्त्र विशुद्ध ज्ञानयोग, कर्मयोग दोनों की ही निन्दा करता है, इनमें भी विशुद्ध ज्ञानियों की विशेष निन्दा करता है।

प्रकारान्तर स मन्वार्थ की संगति लगाइए । बिना कर्म की विद्या भी अधूरी है, बिना विद्या क कर्म भी अधूरा है । विद्या-कर्म के समन्वय से ही कर्मता का उदय होता है । एक व्यक्ति विद्या (शास्त्रज्ञान) से सर्वथा शून्य है, निरन्तर मूर्धन्य है । यद्यपि वह भी कर्म करता है, परन्तु शास्त्रज्ञान से युक्त बुद्धि के अभाव से इसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक नहीं रहता । मज़दूरी करके अपने कुटुम्ब का भरण पोषण करते हुए णगुवत् जीवन व्यतीत कर देना ही इसका परम पुरुषार्थ है । ऐसा मूर्ख (किन्तु लौकिक कर्मों में पटु) मनुष्य सचमुच आत्मदृष्टि से गहरे अंधेरे में है । इसे परलोक आत्मा आदि का कुछ ध्यान नहीं है । अन्याय-धोका-जालसाजी-मिथ्याभाषण आदि स अपने आपको मुचतुर मानने का गर्व रखने वाला यह विद्याशून्य मनुष्य वित्तमोह से मोहित होकर कालक्षेप किया करता है—‘अज्ञानं तस्य शरणम्’ । कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो विद्या पढ़ते हैं, शास्त्रज्ञान सम्पादन करते हैं, इनकी बुद्धि में विवेक भी उत्पन्न हो जाता है, यह आत्म-परमात्म-परलोक का स्वरूप भी समझने लगते हैं । परन्तु यह महानुभाव केवल ‘समझ’ (विद्या) पर ही विश्राम कर लेते हैं । लम्बे चौड़े व्याख्यान दे डालना, बात बात में धर्म की दुहाई देना, इस प्रकार केवल वाणी पर ही इनके कर्म-कलाप का अवसान हो जाता है, कर्म करना इनके लिए एक विपत्ति है—‘वाकशूराः’ । समझने अवश्य हैं, परन्तु स्वयं कुछ नहीं करते । आदेष्टा हैं, आदिष्ट नहीं हैं । विद्वान् हैं, कर्मठ नहीं हैं । पढ़े हैं, गुणे नहीं हैं । कहते हैं, करते नहीं हैं । इस प्रकार केवल विद्या को अपनाने वाले यह महानुभाव कर्मपरित्याग से सब कुछ खो रहे हैं । देखिए अपने समाज को । आज इन दोनों दलों की क्या दशा है । देशहितैषी कर्म-प्रवण महानुभाव शास्त्रज्ञान से वञ्चित हो रहे हैं । फल यह होता है कि कर्मठ आत्म-दृष्ट्या आवृत्त होते हुए भी समृद्ध हैं, संपत्तिशाली हैं । परन्तु हमारे विद्वान् आवृत्त होने के साथ साथ ही संपत्ति से भी वञ्चित हो रहे हैं । कोई सा ही संस्कृतज्ञ विद्वान् आपको

सम्पत्ति से युक्त मिलेगा। अन्यथा सभी विद्वानों पर निर्ऋति (दरिद्रा) देवता की विशेष कृपा मिलेगी। क्या इसी का नाम अभ्युदय है? क्या धर्म से यही फल मिलता है? क्या इसी आधार पर—‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः’ यह कहा जा सकता है? आवश्यकता है आज दोनों को दोनों धर्मों के अपनाने की। विद्वान् उन कर्मों से कर्म करना सीखें, कर्मठ इन विद्वानों से विद्याग्रहण करें, तभी राष्ट्र का अभ्युत्थान सम्भव है। केवल ब्रह्मवल (विद्यावल) भी कुछ नहीं करसकना, केवल क्षत्र-वल (कर्मवल) भी व्यर्थ है। ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय में राष्ट्र का कल्याण है। सिविल (Civil) और मिलिट्री (Military) के समन्वय से ही राष्ट्र का अभ्युदय है। विद्या-कर्मरूप ब्रह्म—क्षत्रवल के समन्वय से ही ईश्वर प्रजापति विश्वसाम्राज्य का उपभोक्ता बन रहा है। इसी प्रकृतिसिद्ध विज्ञान का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

“ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः। अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः। ते हैतेऽग्र्ये नानेवासतुऽब्रह्म च क्षत्रं च। ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्रादरुणात् स्थातुम्, न क्षत्रं वरुणः—ऋते ब्रह्मणो मित्रात्। यद्ध किञ्च वरुणः कर्म चक्रेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवासमै तत्-समानृधे। स क्षत्रं वरुणः—ब्रह्म मित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे-उप मावर्त्तस्व, संसृजावहै, पुरस्त्वा करवै, त्वदप्रसूतः कर्म करवा इति। तथेति। तौ समसृजेतां, तत एव मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत्। ×+++। तत्तदवक्लृप्तमेव-यद्-ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्, यद्यु राजनं लभेत समृद्धं तत्।

एतद्ध त्वेवानवकल्लसं यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति । य-
द्ध किञ्च कर्म कुरुतेऽप्रसृतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै
तत् समृध्यते । तस्माद् क्षत्रियेण कर्मकरिष्यमाणेनो-
पसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः । सं हैवास्मे तद् ब्रह्म प्रसृतं
कर्मऽर्ध्यते” इति — (शत० ब्रा० ४ कं० । १ अ० । ४ ब्रा०) ।

ब्रह्म मित्र है, क्षत्र वरुण है । आगे आगे चलने वाला ही (अनुमति प्रदान करने वाला ही) ब्रह्म है, कर्त्ता क्षत्रिय है । यह दोनों (ब्रह्म-क्षत्र) पहले पृथक् पृथक् से ही थे, अर्थात् सृष्टि से पहिले इन की सहचर अवस्था थी, ग्रन्थिवन्धनभाव न था । उस समय (सृष्टि से पहिले) ब्रह्म मित्र तो क्षत्र वरुण के बिना (स्वस्वरूप से) प्रतिष्ठित रहने के लिए समर्थ होगया, परन्तु क्षत्र वरुण ब्रह्म मित्र के बिना स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित रहने के लिए समर्थ न हो सका । उस (एकाकी दशा में) ब्रह्म-मित्र की अनुज्ञा के (सहयोग के) बिना वरुणनें जो कुछ कर्म किया, वह कर्म इस वरुणक्षत्र के लिए समृद्धि का कारण न बना । (अपने कर्म को व्यर्थ होता देख कर) क्षत्र वरुण ने ब्रह्ममित्र से प्रार्थना की कि (हे ब्रह्म !) आप मेरे ऊपर कृपा करें, आप मेरे पास लौट आँ ! अपन दोनों मित्र जाय, मैं सदा आप को आगे रक्खूंगा, आप जैसी आज्ञा देंगे, तदनुकूल ही कर्म करूंगा । ब्रह्मनें 'तथास्तु' कह दिया, दोनों भिन्न गए । (इन दोनों के समन्वय से) — (सुप्रसिद्ध अहोरात्ररूप) यह मैत्रावरुणग्रह संपन्न होगया । + ÷ × ÷ + । यह बात तो फिर भी बन सकती है कि ब्राह्मण बिना राजा क रह जाय । यदि ब्राह्मण राजा को प्राप्त कर लेगा तो यह उस ब्राह्मण की समृद्धि होगी । परन्तु यह बात तो किसी भी अवस्था में संभव नहीं है कि क्षत्रिय बिना ब्राह्मण के (क्षणमात्र भी) रह जाय । बिना ब्राह्मण की आज्ञा के क्षत्रिय जो भी

कर्म करता है, उस का कर्म कभी समृद्धि का कारण नहीं बन सकता । इस लिए कम करने की इच्छा रखने वाले क्षत्रिय को अवश्य ब्राह्मण का सहारा लेना चाहिए । ब्रह्म से आदिष्ट कर्म इस क्षत्रिय के लिए अवश्य ही समृद्ध बन जाता है” ।

१) ब्रह्म ज्ञान है, क्षत्र कर्म है । ज्ञान मनोबल है, कर्म प्राणबल है । प्राण आपोमय है, बुद्धि सूयमयी है । आपोमय पारमेष्ठ्य वरुणप्राण क्षत्र है, विज्ञानमय सूर्य मित्र है । दोनों के समन्वय से मैत्रावरुण रूप अहोरात्रग्रह उत्पन्न हुआ है । रात्रि के १२ बजे से मध्याह्न के १२ बजे तक अर्द्धस्वर्गोल (पूर्वकपाल) मित्र है । इस में सूर्य की प्रधानता रहती है—‘मैत्रमहः’ । दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे तक का अर्द्धस्वर्गोल (पश्चिमकपाल) वरुण है । इस में पारमेष्ठ्य सोम की प्रधानता रहती है—‘रात्रिर्वारुणी’ । अहोरात्र का परिप्लव ही विश्व का रूप है । इस प्रकार ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय से विश्व प्रकाशित हो रहा है । यह विश्व तीसरा वाग्बल है । इस प्रकार मन (ब्रह्म), प्राण (क्षत्र), वाक् (विद्) की सम्पत्ति ‘इदं सर्वम्’ है । यदि ब्रह्म-क्षत्र का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है तो विद्वरूप अर्थमूर्ति विश्व लयावस्था में परिणत हो जाता है । यद्यपि ज्ञान-कर्म दोनों को दोनों को ओता है । परन्तु प्रधानता ज्ञान की ही है । कारण ज्ञान व्यापक है, मूलधरातल है । जब सृष्टिरूप समृद्धि नहीं रहती, तब कर्म का तो विनयन हो जाता है, परन्तु ज्ञान स्वस्वरूप से ज्यों का त्यों प्रतिष्ठित रहता है । हां यदि ज्ञान का कर्म के साथ समन्वय हो जाता है तो विश्वरूप से उस की समृद्धि अवश्य हो जानी है । परन्तु कर्म यदि ज्ञान का आश्रय छोड़ देता है तो वह अपना स्वरूप ही खो बैठता है । इसी रहस्य को बतलाने के लिए श्रुति ने—क्षत्रवरुण द्वारा ब्रह्म मित्र की

प्रार्थना करवाई है। ब्रह्म ही तत्र की योनि है—(देखिए ई. वि. भा. १ खण्ड कर्तृ-
तन्त्र)। प्रत्येक कर्म में ज्ञान पहिले है, कर्म अनन्तरभावी है। तत्तत्कर्मों का ज्ञान ही
तत्तत् कर्मों की प्रवृत्ति का कारण बनता है।

इसी ज्ञानबल के उपासक को ब्राह्मण कहा जाता है, तत्रबल के उपासक को
क्षत्रिय कहा जाता है, एवं अर्थशक्तिरूप वाक्त्व के उपासक को (विद्वीर्य के उ-
पासक को) वैश्य कहा जाता है। प्रकृतिमिदं नित्य ब्रह्म-क्षत्र-विट् वीर्यों के
आधारपर ही भारतीयवर्णव्यवस्थासूत्र सञ्चालित है। प्रकृतिवत् प्रत्येक राजा एक एक
ब्राह्मण पुरोध। अवश्य रखना चाहिए, एवं इसी के आदेशानुसार इसे कर्म में प्रवृत्त होना
चाहिए। चाणक्य पुरोधाने चन्द्रगुप्त को उन्नति के किस शिखर पर पहुंचा दिया
था, यह सर्वविदित है। यदि ब्राह्मण को राजा का आश्रय न मिलेगा तो ब्राह्मण अ-
पनी विद्या का विकास न कर सकेगा, परन्तु उस के स्वरूप की कोई हानि न होगी।
उत्तर मदनमत्त राजा यदि ब्राह्मण को पुरोध न बनाएगा तो वह स्वयं भी नष्ट हो-
जायगा, एवं विद्वीर्यरूप राष्ट्र की अर्थशक्ति भी खो बैठेगा।

ऐसी दशा में हमारे देशवासियों को क्या कर्त्तव्य होजाता है? इस का विचार वे
स्वयं करें। पंजाप क्षत्र है, बंगाल ब्रह्म है, आर्यसमाज क्षत्र है, सना-
तनधर्म ब्रह्म है। राष्ट्रीयदल क्षत्र है, विद्वन्मण्डली ब्रह्म है। आज
आवश्यकता है दोनों के समन्वय की। जब तक ऐसा न होगा, तब तक किसी भी
कर्म की सिद्धि न होगी। एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। यद्यपि गलती दोनों की है
परन्तु प्रधानता विद्योपासकों की ही है। दि कर्मठ गलती करता है तो विद्वान् का दो-
ष है। सब से पहिले देश का ब्राह्मणवर्ग अपने कर्त्तव्य से च्युत हुआ है। पहली श्रु-

ल विद्योपासकों की है। इसी भूलने वर्णव्यवस्था का महत्त्व नष्ट किया है। मूर्ख का अपराध क्षम्य है, परन्तु विद्वान् यदि गलती करता है, वह यदि कर्त्तव्यकर्म से विमुख होता है तो उसका अपराध भयङ्कर है—‘ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः’। अविद्या के उपासक तो अन्धकार में हैं हीं, परन्तु उन से भी अधिक अन्धकार में वे हैं, जो रात दिन विद्या की उपासना करते हुए भी कर्ममार्ग से बन्धित हैं। इस प्रकार आत्मा के अङ्गों की उपासना करने वाले दोनों ही दल लक्ष्मण्युत हो रहे हैं।

बड़ी जटिल समस्या है। केवल कर्म भी बुरा, केवल ज्ञान उस से भी बुरा। एवं ज्ञान कर्म मार्ग से अतिरिक्त कोई तीसरा मार्ग है नहीं। ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय, किस मार्ग का अवलम्बन किया जाय ? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥३॥

(ई. उ. ११ म.)

राजर्षिविद्या नाम से प्रसिद्ध वैराग्यबुद्धियोगविद्या नाम की प्रथमा विद्या के अन्तर्गत प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में भगवान् ने बड़े विस्तार के साथ ज्ञानयोगनिष्ठा, एवं कर्मयोगनिष्ठा का निरूपण किया। साथ ही में ‘नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य०’ (भगवद्गीता) इत्यादि रूप से अर्जुन को बुद्धियोग समझ समझाया। भगवत्प्रतिपादित बुद्धियोग का अभिप्राय अर्जुन ने यह समझा कि भगवान् कर्म की अपेक्षा ज्ञानमार्ग को श्रेष्ठ बतला रहे हैं। ‘बुद्धि विज्ञान है, विज्ञान ज्ञान है’ इस सार्वजनीन प्रत्यय के अनुसार बुद्धियोग को ज्ञानयोग समझ लिया गया। उधर भगवान् ने ज्ञाननिष्ठा—कर्मनिष्ठा का निरूपण कर बुद्धियोगनिष्ठा पर स्तम्भारण का उपसंहार किया था, बुद्धियोग को ही श्रेष्ठ बतलाया था, साथ ही में ‘कुरु

कर्म त्वं०' इत्यादि रूप से अर्जुन को वर्णित कर्म करने के लिए बाध्य किया था। कृष्णार्जुनसंवाद क्या था, ब्रह्म-क्षत्र का समन्वय था। भगवान् कृष्ण अभिगन्ता ब्रह्म थे, अर्जुन कर्त्ता क्षत्रिय था। ज्ञान-कर्म का एकीकरण था। इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन को जो कुछ कहा था, वह ठीक था। परन्तु इन उन्मुग्ध अक्षरों के वास्तविक तात्पर्य को न समझना हुआ अर्जुन प्रश्न कर बैठा—

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ (गीता ३।१) ।

इस प्रश्न के उत्तर में तीसरे अध्यायमें भगवान् ने उसी उन्मुग्ध अर्थ को स्पष्ट किया। भगवान् ने बतलाया कि बुद्धियोग वास्तव में न कर्मयोग है, न ज्ञानयोग है, अपितु दोनों के समन्वितरूप का ही नाम बुद्धियोग है। बुद्धि में ज्ञान कर्म दोनों हैं। बुद्धि का ज्ञानभाग विद्या है, कर्मभाग अविद्या है। जिन दो निष्ठाओं का हमने उल्लेख किया है, परमार्थदृष्टि से वे दो निष्ठा नहीं, अपितु बुद्धियोग नाम की एक निष्ठा है। जो सांख्य है, वही योग है। जो योग है, वही सांख्य है—‘एकं सांख्यं च योगं च यः परयति स पश्यति’। इस पर यदि त् प्रश्न करे कि भगवन् ! कर्म कर्म है, आवरक है। वह आवरण किए बिना नहीं रह सकता, ऐसी दशा में आप मुझे कर्ममार्ग में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं ? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि कर्मपरित्याग सर्वथा असंभव है। कितने ही कर्म (आत्मीयकर्म) ऐसे हैं, जो किसी भी दशा में छोड़े नहीं जा सकते। वैसी परिस्थिति में कर्मपरित्याग का ढोंग करना अपने आपको धोका देना है। हम मानते हैं कि कितने ही कर्म अवरय ऐसे हैं जो बंधन में डाल देते हैं, परन्तु कितने ही ऐसे भी हैं जो बंधन के स्थान में बंधनमुक्ति का कारण बनते हैं। क्या इन अबंधन कर्मों को छोड़ने में बुद्धिमानी है ? नियत कर्म छोड़े नहीं जा सकते, अबंधन कर्मों को छोड़ना बुरा है, फलतः सर्वकर्मपरिसागलक्षणासंन्यास का कोई मूल्य नहीं रहता। कर्म क्यों नहीं छोड़े जा सकते, इस कर्मनिवार्यता के सात कारण हैं।

- १— अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए हम थोड़ी देर के लिए यह मान लेते हैं कि सचमुच कर्म आवरक हैं। अच्छा इन्हें छोड़ दीजिए। ऐसा करने से भविष्य के लिए आवरण बंद होजायगा। परन्तु ऐसी दशा में सञ्चित (संस्काररूप) कर्मों को हटाने का आप के पास क्या साधन है ? ज्ञान निष्क्रिय तत्व है, अतः वह आवरण को हटाने में असमर्थ है। इस के लिए आप को वाय्य होकर नैष्कर्म्यकर्म का आश्रय लेना आवश्यक हो जायगा। नैष्कर्म्यसिद्धि कर्मरम्भ के बिना सर्वथा असम्भव है। कर्मपरिणान्तिव्यर्थ नैष्कर्म्यकर्मानुष्ठान अत्यावश्यक है। कर्म की नैष्कर्म्यरूपा पहिली यही अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने — ‘न कर्मणामनारम्भान्नेष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते’ यह कहा है।
- २— उक्त कर्मसंन्यास सर्वथा व्यर्थ है। जिस प्रयोजन के लिए (आवरण के आत्यन्तिक निराकरण के लिए) कर्मसंन्यास लिया गया, वह प्रयोजन तो सिद्ध हुआ नहीं, कर्म ओर छोड़ दिया, आनसी और बन गए, इस व्यर्थ के मार्ग से तुमने अपना क्या हित समझ रक्खा है ? कर्मसंन्यासवैयर्थ्यरूपा यही दूसरी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने ‘न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति’ यह कहा है।
- ३— मल-मूत्रपरित्याग, गमन, भोजन आदि नियत शारीरिक कर्मों को कभी छोड़ा भी नहीं जा सकता। तुम्हें परवश होकर यह सारे कर्म करने ही पड़ते हैं। जब कर्मत्याग असम्भव है तो फिर कर्म परित्याग कसा ? यही कर्मपरित्यागाशक्यरूपा तीसरी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने—‘नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्’ यह कहा है।

४- - साथ ही मैं छिक्का (छींक), जम्भा (जंभाई-उवासी), आसनिवास, बुभुक्षा आदि कितने हीं प्रकृतिसिद्ध कर्म हैं। तुम निश्चय करलो कि आज से हम न छिक्का लेंगे, न जंभाई लेंगे, न भूख लगेगी। परन्तु तुम्हारे इस निश्चय से होगा क्या। तुम्हारी इच्छा यहां अवरुद्ध है। इन कर्मों में प्रकृति का हाथ है। वह अवश्य तुम को इन कर्मों में प्रवृत्त कर देगी। अपने समय पर तुम्हारी इच्छा की कोई अपेक्षा न रखते हुए यह प्राकृतिक कर्म हो ही पड़ेंगे। यही प्रकृतिसिद्धलक्षण चौथी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने—‘कार्यते ह्यवशः कर्मसर्वः प्रकृतिर्जैर्गुणैः’ यह कहा है।

५— आसक्ति पैदा न करने वाले अनासक्तकर्म विशिष्टकर्म हैं। बलात्कार से इन कर्मों का निरोध किया, इन्द्रियों का संयम किया, परन्तु मन वश में नहीं है। इन्द्रियसंयम होने पर भी मन अन्तर्जगत् में इधर उधर विषयलोलुप बनता हुआ भटकता फिरता है। यही मिथ्याचार है। इससे तो अच्छा यही है कि इन्द्रियों को अपना अपना कर्म करने दो, मन को वश में रखो। कर्म करो, आसक्ति मत रखो। कर्म का परित्याग मत करो, कामना का परित्याग करो। इन अनासक्त कर्मों से इन्द्रियें अपने आप संयत बन जायंगीं। यही तो इस अनासक्त कर्मयोग की विशेषता है। कर्म की यही पांचवीं अनिवार्यता है। मन को इन्द्रियों के आधीन मत बनाओ, इन्द्रियों को मन के आधीन बनाओ, यही अनासक्त कर्मयोग है। इसी के लिए—‘यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः सविशिष्यते’ यह कहा है।

*कर्मोन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः सूच्यते ॥ (गीता ३।६)

६— नियतकर्मारम्भ से आवरण हटता है, अनारम्भ से आवरण बना रहता है । इसलिए नियत कर्मों का आरम्भ ही अच्छा है । इस प्रकार कर्मारम्भ-एवं कर्मसंन्यास दोनों में नियतकर्म का आरम्भ ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है । यही कर्म की दृष्टि अनिवार्यता है । इसी के लिए भगवान् ने—
‘नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः’ यह कहा है ।

७— सबसे आवश्यक बात तो यह है कि कर्ममार्ग की रक्षा से ही ईश्वर की विश्वविवृति की रक्षा है । ‘मूढ मुढाय भये संन्यासी’ के अनुसार सही कर्म छोड़ बैठें तो सारा विश्व ही उच्छिन्न हो जाय । फिर तो शास्त्रोपदेश के श्रोता ही न रहें, जीवनयात्रा का निर्वाह ही असम्भव हो जाय—
‘न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः’ । जब कर्म से जीवनयात्रा का सुगमता से निर्वाह होता है, एवं बंधन होता नहीं, अपितु बंधन विमोक्त होता है तो ऐसी दशा में कौन बुद्धिमान् कर्मपरित्याग को उत्तम करेगा । कर्म की यही सार्वत्री अनिवार्यता है । इसी के लिए भगवान् ने—
‘शरीरयात्रापि च ते न प्रमिद्वयेदकर्मणः’ वह कहा है ।
इस प्रकार सात तरह से जब कर्म की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है तो ऐसी स्थिति में कर्मपरित्याग कैसे बन सकता है ।

सप्तधा विभक्ता-कर्मनिवार्यता^१

- १-नैष्कर्म्योपायत्वादनिवार्यत्वम् → — → “न कर्मणामनारम्भात्कर्म्यपुरुषोऽश्नुते”
- २-कर्मसंन्यासवैयर्थ्यादनिवार्यत्वम् → — → “न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति”
- ३-कर्मपरित्यागाशङ्क्यादनिवार्यत्वम् → — → “न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्”
- ४-प्रकृतिसिद्धत्वादनिवार्यत्वम् → — → “कार्षते त्वयः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः”

- ५-अनासक्तकर्मयोगवैशेष्यादनि० → ———→ “कर्मन्द्रियैः कर्मयोगपसक्तः स विगिष्यते”
 ६-कर्मारम्भ-कर्मसंन्यासयोः कर्मो- } → ———→ “नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकमणः”
 रम्भश्रैष्ठ्यादनिवार्यत्वम्
 ७-जीवनयात्रानिर्वाहकत्वादनि० → ———→ “शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः”

यह तो हुआ कर्म की अनिवार्यता का विचार। अब कर्म के अवन्धनभाव पर दृष्टि डालिए। गीताशास्त्रने अवन्धन कर्मों को १-यज्ञार्थकर्म, २-लोकस्थितिनिर्वाहककर्म, ३-उपेक्षाकृतकर्म, ४-स्वभावसिद्धमहजकर्म इन चार भागों में विभक्त किया है। निषय आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जा रहा है। अतः प्रकृत में केवल यज्ञार्थकर्म का दिग्दर्शन करा के इस अधिकरण को समाप्त किया जाता है।

यज्ञार्थकर्म (अवन्धन)

आज दिन यज्ञ शब्द का केवल अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य-पशुबन्ध-सोम-याग-चयन आदि मनुष्यकृत यज्ञों के साथ ही सम्बन्ध समझा जाता है। यज्ञकर्म से केवल वेदविहित यज्ञ का ही ग्रहण किया जाता है। किसी अंश में ऐसा समझना ठीक भी है। परन्तु इन्हीं को यज्ञ समझना सर्वथा भूल है। यज्ञ प्राकृत-विधेयभेद से दो भागों में विभक्त हैं। नित्ययज्ञ प्राकृतयज्ञ कहलाता है। यह अधिदेवत्-अध्यात्म-अधिभूत इन तीन भागों में विभक्त है। विधेययज्ञ मनुष्ययज्ञ कहलाता है। अग्निहोत्रादि सारे यज्ञ प्रकृति में हो रहे हैं। प्रकृतियज्ञ से (जो कि अधिदेवितयज्ञ नाम से प्रसिद्ध है) अध्यात्म और अधिभूत जगत् का निर्माण हुआ है। एवं उस नित्य प्राकृतयज्ञ की प्रतिकृति पर ऋषियों ने वैध श्रौत यज्ञों का आविष्कार किया है। हम जो यज्ञ करते हैं, वह ठीक उस प्रकृतियज्ञ की नकल है। इसी आधार पर ‘देवाननुविधा वै मनुष्याः’-‘यद्वै देवा अकुर्वन्तत् करवाणि’ इत्यादि निगम

१ इन विषयों का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य के ‘अवन्धनकर्मस्थागानौचित्योपनिषत्’ नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

प्रचलित है । प्रकृतियज्ञ में जैसा हो रहा है, यदि तत्प्रतिकृतिभूत मनुष्ययज्ञ में उससे जरा भी विरुद्ध किया जाता है तो इसका स्वरूप बिगड़ जाता है । प्राकृत-विधेय भेद से द्वेधा विभक्त इन यज्ञों में से प्रकृत में सृष्टिप्रवर्त्तक प्राकृत यज्ञ का ही ग्रहण है । 'अग्नि में सोमाहुति' होना ही यज्ञ है । जिसमें अन्य वस्तु आहुत होती है, वही अग्नि है । आहुत होने वाली वस्तु सोम है । सब में सब आहुत हो रहे हैं । सब अन्नाद हैं, सब अन्न हैं । इसी अग्नीषो-मात्मक यज्ञ से विश्व स्वरूप में प्रतिष्ठित हो रहा है । परान्तर-अव्यय-अन्तर-क्षरसमष्टि को हमने षोडशी-प्रजापति कहा है । इस षोडशी प्रजापति का अक्षर भाग ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-इन पांच कलाओं में विभक्त है । इनमें ब्रह्मा का जो वीरण है, वही त्रयी-वेदरूप में परिणित होता है । इस वेदोत्पत्ति में इन्द्राविष्णु की स्पर्द्धा ही मुख्य कारण है । इस प्रकार ब्रह्मा विष्णु इन्द्र से उत्पन्न वेदत्रयी के कारण वह षोडशी वेदमूर्ति बन जाता है । इसी आधार पर पूर्व के प्रकरणों में हमने ईश्वर को वेदमूर्ति कहा है । वेदत्रयी का यजुर्भाग ब्रह्माग्नि है । ब्रह्माग्निरूप षोडशी पुरुष में प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद इन पांचों प्रकृतियों की आहुति होती है । यह पाचों आहुति द्रव्य हैं । अतएव इन पांचों की समष्टि को हम अवश्य ही—'सोम' कहने के लिए तैयार हैं । उस ब्रह्माग्निसमय पुरुष में प्राणसोम की आहुति होने से स्वयम्भू प्रकट होता है । आपसोम की आहुति होने से परमेष्ठी उत्पन्न होता है । वाक्सोम की आहुति होने से सूर्य उत्पन्न होता है । अन्नादसोम की आहुति होने से पृथिवी उत्पन्न होती है, एवं अन्नसोम की आहुति होने से चन्द्रमा उत्पन्न होता है । स्वयम्भू प्राणयज्ञ है । परमेष्ठी आपोयज्ञ है । सूर्य वाग्यज्ञ है । पृथिवी अन्नादयज्ञ है । चन्द्रमा अन्नयज्ञ है । इस प्रकार पञ्चधा विभक्त सोमरूपा प्रकृति का पुरुषाग्नि के साथ समन्वय होने से पञ्चावयव विश्वयज्ञ उत्पन्न हो जाता है । इसी आधार पर—'पाङ्क्तो वै यज्ञः' यह कहा जाता है । यह अनुगम श्रुति है, अतएव इसके अनेक अर्थ होने हैं, जिनका कि आगे के उपनिषदों में समय समय पर निरूपण होता रहेगा । अभी केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि प्रकृति एवं पुरुष के समन्वय से पञ्चावयव विश्वयज्ञ उत्पन्न होता है । पांचों में प्राणादि पांच

देवता अधिष्ठित हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में एक आख्यान आता है कि—“प्रजापति ने यज्ञ द्वारा देवताओं को उत्पन्न किया। उत्पन्न देवताओं ने प्रश्न किया कि हे प्रजापति ! हम आपके यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं। अब हमें क्या आज्ञा होती है ? उत्तर में प्रजापति ने कहा कि जो कर्म मैंने किया है वही तुम करो। मैं यज्ञ द्वारा तुम्हें उत्पन्न किया हूँ, तुम भी यज्ञ द्वारा नई नई प्रजाएं उत्पन्न करो। वस उसी आदेश के अनुसार देवताओं ने उस प्राजापत्य विश्वयज्ञ से पुनः यज्ञ किया, एवं उसके द्वारा पांचो लोकों में (स्वयम्भू आदि में) रहने वाली प्रजाओं को उत्पन्न किया। एवं देवयज्ञ से उत्पन्न हम भी आज यज्ञद्वारा ही प्रजापति में समर्थ होते हैं”। तात्पर्य इस आख्यान का यही है कि विश्वयज्ञ के देवताओं का फिर परस्पर संगम होता है। इससे आगे की सारी प्रजाएं उत्पन्न होती हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर—‘यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः’—इत्यादि कहा जाता है। यज्ञकर्म से ही सारा विश्व उत्पन्न हुआ है, इसी से सारी प्रजाएं उत्पन्न हो रही हैं, एवं इसी से आगे आगे नई नई प्रजाएं उत्पन्न होती रहती हैं। इसी प्राकृतिक नित्यसिद्ध यज्ञविज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्यमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ (गीता ३।१०) ।

एक को दूसरे के साथ मिलाना यजन है। इसी मेल से संसार में नए नए आविष्कार होते रहते हैं। इसी से संसार के पदार्थमात्र उत्पन्न हुए हैं। इसी से हम चाहें जो कामना सिद्ध कर सकते हैं। संसार में जड़ चेतन ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो यज्ञ न करता हो। जिस पदार्थ का यज्ञ बंद हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है। पूर्वोक्त प्रकरण से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि स्मृत्युपात्त प्रजा शब्द वस्तुमात्र का वाचक है। अब जरा व्याख्याताओं की लीला देखिए। उनकी दृष्टि में “ब्रा० नृ० वैश्य तीन ही प्रजा हैं। प्रजापति ने यज्ञ द्वारा इन तीन वर्णों को उत्पन्न किया” यह है प्रजा शब्द का अर्थ। प्रजापति जो कुछ उत्पन्न करते हैं, उस का मूल यज्ञ ही है। यह यज्ञसृष्टि चार वर्णों में विभक्त है।

मनुष्यों में ही यह वर्ण विभाग नहीं है, अपितु पदार्थमात्र में चातुर्वर्ण्य का समावेश है। इसी अभिप्राय से सामान्यरूप से वर्णसृष्टि का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कचारपि मां विद्वथकर्तारमन्ययम् ॥ (गीता)

भगवान् कहते हैं—मैंने चार प्रकार की प्रजासृष्टि की। इधर टीकाकार “तीन वर्णों को (सो भी मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों को) ही उत्पन्न किया” यह अर्थ करते हैं। कितनी भूल है। इस भूल का कारण यज्ञ का स्वरूप न समझना ही है। उन्होंने यज्ञ को हवनादि प्रसिद्ध यज्ञ समझ रक्खा है। किसी विशेष कारण से यह वैध यज्ञ मनुष्य ही कर सकते हैं। इन में भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य को ही अधिकार है। शूद्र अपज्ञिय होने से यज्ञ में अनधिकृत है। उन्होंने समझ कि इस यज्ञ से प्रजोत्पत्ति होती है। चूंकि यज्ञ करने का विधान तीन के लिए ही पाया जाता है। अतः यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाला यहां का प्रजा शब्द तीन वर्णों का ही वाचक हो सकता है। अस्तु पराधिकार चर्चा का हमें कोई अधिकार नहीं। यहां हमें केवल अपना मन्तव्य प्रकाशित करने का अधिकार है। हम यज्ञ को सृष्टि का प्रवर्तक समझते हैं। एवं प्रजा से सारे विश्व का ग्रहण करते हैं, साथ ही में उस विश्वप्रजा की सत्ता इमी यज्ञ-कर्मपरक समझते हैं। रासायनिक प्रक्रिया से दो वस्तुओं के मिलने पर जो अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, वही यज्ञसृष्टि कहलाती है। यही सम्बन्ध—‘याग’ कहलाता है। यागस्वरूप-संपादक यह यजन (यज्ञ) देवपूजा, देवसंगमन, देवदान भेद से तीन भागों में विभक्त है। यज्ञ धातु के तीनों अर्थ हैं। भूतसम्बन्ध से दानयज्ञ होता है, देवसम्बन्ध से संगमनयज्ञ होता है, एवं आत्मसम्बन्ध से पूजायज्ञ होता है। उदाहरण के लिए वैधयज्ञ को लीजिए। वैध-यज्ञ (मनुष्यकृत श्रौत यज्ञ) में उन नित्य प्राणदेवताओं के लिए पुरोडाश की आहुति दी जाती है। इस पुरोडाश में भूत-प्राण दो भाग हैं। दृश्य भाग भौतिक है, एवं जिस तत्व के आधार पर पुरोडाश द्रव्य स्वरूप में प्रतिष्ठित है, वह प्राण है, यही देवता है। भूत पंचावयव

है । प्राण ३३ अवयव है । पुरोडाश में ३३ देवता हैं, ५ भूत हैं । इन में यजमान जिस देवता की भावना करके पुरोडाश की आहुति देता है, पुरोडाश का वही देवता उन्वण होकर उस नित्य प्राकृतिक प्राणदेवता के साथ मिल जाता है । 'यावद्वित्तं तावदात्मा' इस सिद्धान्त के अनुसार यजमान का आत्मा भी पुरोडाश में रहता है । पुरोडाश द्वारा यजमान का आत्मा भी उन प्राणदेवताओं के साथ मिल रहा है । यही उन देवताओं के लिए यजमान का आत्मसमर्पण है, इसी का नाम पूजा है । दूसरे शब्दों में आत्मा को देवलोक में, देवताओं के शासन में प्रतिष्ठित करना ही, अपने आपको उनकी आराधना के लिए भेंट चढ़ाना ही देवपूजा है । एवं जो देव भाग है वह उन देवताओं से मिल जाता है । यह संगतिकरण है । बाकी बचता है भूतभाग । उसे देवता ले लेते हैं, परन्तु स्वाहा सम्बन्ध से । "न वै देवा अश्नन्ति-न पिबन्ति, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति" के अनुसार देवता पितरप्राण की तरह अन्तर्यामि सम्बन्ध से इस पुरोडाश में प्रविष्ट नहीं होते, अपितु बाहर व्याप्त होते हैं । अतएव "स्व-अन्होति-व्याप्नोति" इस व्युत्पत्ति से देवान्न-स्वाहा नाम से प्रसिद्ध है । स्वाहा बोझकर ही देवताओं के लिए आहुति दीजानी है । इसप्रकार एक यज्ञमें तीन विभाग होजाते हैं । सर्वत्र तीनों हैं । आत्मा कारणशरीर है, देव सूक्ष्मशरीर है, भूत स्थूलशरीर है । आत्मा मनोमय है, देव प्राणमय है । भूत-वाङ्मय है । सारी वस्तुएं (प्रजामात्र) मनप्राणवाङ्मय हैं । तीनों भाग अन्यके तीनों में जाया करते हैं, अन्यके तीनों भाग इसमें आया करते हैं । इसी त्रिविधगज्ञात्मक आदान विसर्ग से सब प्रजाएं अपने अपने स्वरूप में स्थित हैं ।

१ — भूतसम्बन्धात् — दानयज्ञः —	स्थूलशरीरसम्बन्धी — वाङ्मयः	{ स एष मनःप्राणवा- ङ्मयः, आदानविस- र्गात्मकः स्थितियज्ञः
२ — देवसम्बन्धात् — सङ्गतिकरणयज्ञः —	सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी — प्राणमयः	
३ — आत्मसम्बन्धात् — पूजायज्ञः —	कारणशरीरसम्बन्धी — मनोमयः	

हमारे अध्यात्मिक प्राण निरन्तर आधिदैविक प्राणदेवताओं में आहुत होते रहने हैं, साथ ही में वे प्राणदेवता हमारे में आहुत होते रहते हैं । प्रकृतिमण्डल अपने पदार्थ निरन्तर ह-

मे देना रहता है, साध ही में लेता भी रहता है । मैं उससे उत्पन्न हुआ हूं । उत्पन्न होने वाले मुझ अन्न को वह खाता है, एवं अन्नरूप मुझे खाने वाले उसे मैं भी खाता रहता हूं । इसी विश्वयज्ञ का निरूपण करते हुए वेदमहर्षि कहते हैं—

“अदमस्मि प्रथमजा ऋतम्य पूर्व देवेभ्योऽमृतम्य नाम ।

यो मा ददाति म इ देवमावन, अहमन्तमन्तमदन्तमदमि”

(ऐतरेयआरण्यक.....) ।

इस देवभाव के पारस्परिक संयोग को ‘प्रदितां संयोगः’ कहा जाता है । वे देवता यहां आते हैं, यहां के वहां जाते हैं, यह चक्र निरन्तर चलता रहता है । वस इस चक्र की सत्ता के लिए जो कर्म अपेक्षित है, वही—‘यज्ञार्थ’ कर्म कहे जाते हैं । हम उस का उच्छिष्ट खाते हैं, वह हमारा उच्छिष्ट खाता है । ‘उच्छिष्टात् जज्ञिरे सर्वम्’ (अथर्व११।६।११) यह ध्रुव सिद्धान्त है । उच्छिष्ट को प्रवर्ग्य कहते हैं । इस प्रवर्ग्यविद्या का विशद निरूपण पूर्व के—‘ईशावास्यमिदं सर्वम्’—इत्यादि मन्त्र में किया जा चुका है । यह यज्ञ आगे जाकर भूते-देव भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है । विस्तार भय से इस का निरूपण नहीं किया जा सकता । यहां सारे प्रपञ्च से हमें केवल यही बनलाना है कि यज्ञरूप आत्मा की स्थिति-रक्षा के लिए विज्ञान सहकृत जो नाप्राप्त कर्म है, वह बंधन का कारण नहीं बनता । उसके न करने में उलटी हानि होती है । व्यक्तिस्थिति एवं ममानस्थिति जिन कर्मों से होती है, वही यज्ञार्थकर्म हैं । उन के प्रवर्तक आप नहीं हैं, प्रकृति है । अतएव उन से संस्कार नहीं होता, स्वरूपरक्षामात्र होती है । अतः इन्हें कभी नहीं छोड़ना चाहिए । इसी यज्ञार्थकर्म की अव्यन्धनता बतलाने हुए भगवान् कहते हैं—

१ इस विषय का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य के —‘अज्ञकर्म्याव्यन्धनोपनिषत्, नाम के प्रकरण में देखना चाहिए ।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकेऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तमङ्गः समाचर ॥ (गीता. ३।१।) ।

मन की प्रधानता हटाने के लिए ही भगवान् ने-‘मुक्तसंगः’ कहा है। मन की इच्छा से जो कर्म किया जाता है, वह यज्ञार्थ नहीं है। अपितु बुद्धि की प्रधानता से, दूसरे शब्दों में बुद्धियोग द्वारा जो कर्म किए जाते हैं, वे ही-यज्ञार्थकर्म हैं, एवं वे अवन्धन हैं।

पूर्व के निरूपण से यह सिद्ध हो जाता है कि कर्मपरित्याग सर्वथा असंभव है। साथ ही में यह भी मान लेना पड़ता है कि केवल कर्म अवश्य ही बन्धन का कारण है। कर्मपरित्याग-लक्षण ज्ञान भी निरर्थक है, कामनामय कर्म भी अनुपादेय है, ‘काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः’ यही बुद्धियोग है। यहा एक प्ररन उपस्थित होता है। मनुष्य तत्त्व कर्मों में तत्त्व फलाशा को लेकर ही प्रवृत्त होता है। यदि उसे यह विदित होजाता है कि अमुक कर्म करने से मुझे अमुक फल न मिलेगा तो वह भूल कर भी उस निरर्थक कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में मनोविज्ञान सिद्धान्त के अनुसार जो बात बन नहीं सकती, उस के लिए —‘कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन’ यह असंभव आज्ञा कैसे दी गई ? इसके उत्तर में अभी यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि मनुष्य की आध्यात्मिकसंस्था एक सीमित संस्था है। उस में ज्ञान-कर्मशक्ति परिमित हैं। कर्मरामदशा में ही यदि मनुष्य का ज्ञान कर्ममय आत्मा फल की ओर झुक जायगा तो इस की ज्ञान-कर्मशक्ति बर जायगी। आधा ज्ञानकर्म फल पर चला जायगा, आधा ज्ञानकर्म साध्य कर्म पर रह जायगा। परिणाम इस का यह होगा कि साध्यकर्म की सिद्धि के लिए जितना कर्म अपेक्षित होना चाहिए, उतना (फलांश में विभक्त हो जाने के कारण) न रहेगा, कर्म अधूरा रह जायगा। इसलिए कर्म-काल में फल की चर्चणा (अनुभव) में कर्म को खर्च न कर सर्वप्रथम कर्म में ही लीन होजाना चाहिए। ऐसा होने से फलाशा रखने की दशा में जो कर्मसिद्धि चिरकाल से सम्बन्ध रखती थी, अथवा जिस की सिद्धि में सन्देह था, फलाशापरित्याग से वह कर्म शीघ्र एवं अवश्य ही सफल बन जायगा। कर्म अभी व्यर्थ नहीं जाता। यदि अग्नि पर पानी रक्खा जायगा तो पानी अवश्य

गरम हो जायगा । आप अनन्यभाव से कर्म करें, और फल न हो यह सर्वथा असंभव है । परन्तु फल उत्पन्न करना आप का काम नहीं है । आप कर्म को सिद्ध कर दीजिए, प्राकृतिक नियम के अनुसार सिद्ध कर्म स्वयं फल का जनक बन जायगा । फल पर दृष्टि रखना अनधिकार चेष्टा है । जो बल कर्मसिद्धि को संपादन करने वाला है, उसे निरर्थक स्वर्च करना है । आप की आशा से फल उत्पन्न नहीं होता, अपि तु आप के कर्म से फलसिद्धि होती है । इसी अभिप्राय से महर्षि चरक ने—‘हेतावीर्युः फले नेर्युः’ (चरक सं. सूत्रस्थान—इन्द्रियोप. अ. सद्धत्तोपदेश) । यह कहा है । अमुक मनुष्य विद्वान् है, उस की इस विद्वत्ता से ईर्ष्या करना बुरा है । अपितु जिस कर्म से उसे विद्याफल मिला है, उस हेतुभूत कर्म के साथ ईर्ष्या करनी चाहिए । अमुक व्यक्ति धनवान् है, इस फलेर्ष्या से आत्मपतन होता है । जिस कर्म से वह धनिक बना है, उस कर्म के साथ ईर्ष्या करने से अभ्युदय होता है । यही उन्नति का अन्यतम एवं सर्वोत्कृष्ट मार्ग है । फल को कर्म सिद्धि का हेतु मत बनाओ, अपितु कर्म को कर्म सिद्धि का हेतु समझो, यही कहना है । इस फलाशत्याग से एक तो कर्म अवश्य सिद्ध हो जायगा, फल मिलेगा, उस के आप भोक्ता बनेंगे । दूसरा जो बड़ा भारी लाभ होगा उस का तो कहना ही क्या है । उक्त प्रकार से फलाशत्यागपूर्वक यदि कर्म किया जायगा तो वह कर्म, एवं तज्जनितफल आसक्ति के कारण न बनेंगे—‘कुर्वन्नपि न लिप्यते’ । फल मिला, उस का आपने भोग किया, परन्तु आसक्ति की जननी आशा के परित्याग से सब कुछ करते हुए भी आप अवर्त्ता कहलाए, यही तो निष्कामकर्म की विशेषता है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं कि तुमारा अधिकार केवल कर्म में है । जब फल तुमारे अधिकार में ही नहीं तो फिर आशा ही क्यों करते हो । भगवान् की इस उक्ति का कोई यह अर्थ न समझले कि जब फल की ही आशा नहीं तो कर्म में प्रवृत्ति ही कैसे होगी ? इस लिए आगे जाकर भगवान् कहते हैं—‘मा कर्म हेतुर्मूः—माते संगोऽहत्त्वकर्मणि’ । कर्मफल को हेतु मत बनाओ, कर्म को कार्य सिद्धि का हेतु समझो । कभी अकर्म से मित्रता न करो, फल भी तो अकर्म ही है । उस से संग करना कर्मविभूति से वञ्चित रहना है ।

एक आपत्ति का जैसे तैसे निराकरण किया गया, दूसरी आपत्ति और उपस्थित हो गई ।
 सुनिश्चित ! फलाशा आसक्ति की जननी है, इसलिए भी उसका त्याग करना चाहिए, एवं शक्ति-
 विभाग से वह कर्मसाधक कर्म की शक्ति कम करने के कारण भी छोड़ने योग्य है । साथ ही
 में फलाशा अनधिकार चेष्टा है, कर्मसिद्धि में इस की कोई अपेक्षा नहीं, यहां तक तो सब परि-
 स्थिति ठीक ठीक हो गई । परन्तु जो कामना कर्म की जननी है, उस के परित्याग का आदेश
 कैसे समझ दूँ ? । कामना (इच्छा) के बिना यत्न नहीं हो सकता, फलतः परम्परया कामना का
 कर्मजनकत्व, किंवा कर्मप्रवृत्तिहेतुत्व सिद्ध होजाता है । उधर फलाशावत् कामना को आसक्ति
 की जननी बताया जाता है । ऐसी परिस्थिति में ऐसा कोई कर्म नहीं रहता जो बिना कामना
 के संपन्न हो जाय । सभी कर्म सकाम हैं, अतएव कर्ममात्र (सकाम बनते हुए) आसक्ति के
 प्रवर्तक बनते हुए आवरणरूप बंधन के कारण हैं । फलतः सन्यास का 'सर्वकर्मपरित्याग-
 लक्षणरूप सन्यास' इस किंवदन्ती पर ही विश्राम मानना पड़ता है । ऐसी दशा में 'कामना
 रहित हो कर कर्म करो' इस आदेश का कोई मूल्य नहीं है । इस विप्रतिपत्ति के निराकरण
 के लिए बुद्धि से काम लीजिए, विज्ञानात्मा की शरण में चलिए, समाधान हो जायगा । बुद्धि
 और मन की प्रधानता अप्रधानता से इच्छा के दो रूप हो जाते हैं । मन की प्रधानता से
 बुद्धि की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, मनोराज्य शेष रह जाता है । मन चान्द्र सोममय होने से
 स्नेहगुणक है । फलतः ऐसे मन की कामना अवश्य ही स्नेहधर्म के कारण आसक्ति की जननी
 है । उधर बुद्धि की प्रधानता से मन गौण बन जाता है । ऐसे बुद्धिप्रधान मन की कामना
 स्नेहमयी न रहकर बुद्धिसम्बन्ध से तेजोमयी बन जाती है । तेजतन्त्र असंग है, अतएव तन्मयी
 कामना असंगभावमयी बनती हुई आसक्ति की जननी नहीं बनती । यही तो बुद्धियोग है ।
 कामना है, परन्तु कामना का जो आसक्तिभाव है, वह बुद्धि की कृपा से मृतप्राय है । ऐसी

अवस्था में इस कामना का रहना न रहने के समान है, यही निष्कामकर्म है ।

दार्शनिक परिभाषा के अनुसार विचार कीजिए । दार्शनिकों ने इच्छा के उत्थाप्याकांक्षा, उत्थिताकांक्षा भेद से दो रूप माने हैं । अपने आप उठी हुई इच्छा उत्थिकांक्षा है । प्रयास से उठाई गई इच्छा उत्थाप्याकांक्षा है । इन दोनों इच्छाओं का प्रथमखण्ड में निरूपण किया जा चुका है, अतः यहां पिटपेषण की आवश्यकता नहीं है । बुद्धिप्रधाना इच्छा आत्मेच्छा है, ईश्वरेच्छा है, यही उत्थाप्याकांक्षा है । मन यदि बुद्धि के अनुगत बन जाता है तो आत्मेच्छा प्रधान बन जाती है, ऐसे मन की कामना अकामना है । यदि मन विषयों की ओर ही मुका रहता है तो आत्मेच्छा से पराङ्मुख होता हुआ, स्वस्वरूप से प्रधान बनता हुआ काममय बन जाता है । यही कामना बंधन का कारण है । निष्कामकर्म में इसी कामना के परिष्कार का आदेश है ।

ब्रह्म-कर्म दोनों आत्मा के स्वरूप हैं । कर्म करो-ब्रह्मार्थ, कभी बंधन न होगा । निवृत्ति-कर्मरूप अविद्या के द्वारा आत्मा पर आया हुआ मृत्युरूप कर्मसंस्कार हट जायगा, अमृतात्मा का साक्षात्कार हो जायगा । मृत्युरूप कर्म-(संस्काररूप कर्म)-समुद्र का तरण निवृत्तिकर्मरूपा अविद्या से ही हो सकता है-‘न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः’ इत्यादि में कर्म शब्द काम्यकर्म का ही वाचक है । त्याग शब्द से कामना का परित्याग ही अभिप्रेत है । कामना का त्याग ही तो वास्तविक त्याग है । कर्म छोड़ दिया, कामना बनी रही, यह तो परित्याग नहीं ग्रहण है । निष्कर्ष यही हुआ कि मध्यस्थ विज्ञानात्मा में विद्या-अविद्या (कर्म) दोनों हैं । दोनों स्वतन्त्र होकर बुरे हैं । मिलकर बंधन को हटाने में समर्थ हैं । इन दोनों के समत्व-भाव से अव्यय के दोनों भाग समता को प्राप्त हो जाते हैं । यह समत्व ही सच्चा बुद्धियोग है, समत्व ही शान्ति है, शान्ति ही आत्मानन्द है ।

इस प्रकार हमारा यह तृतीय अधिकरण (विषयक्रमानुसार चतुर्थ अधिकरण) विद्या-अविद्यात्मक सूर्य का, एवं तदंशभूत विद्या अविद्यात्मिका बुद्धि का स्वरूप बतलाता हुआ, दोनों की समष्टिरूप बुद्धियोग का ही उपदेश देता है । श्रुति को अध्यात्म-अधिदैवत दोनों संस्थाओं का स्वरूप बतलाना अभीष्ट था, अतएव उसने दोनों के (सूर्य और बुद्धि के) सामान्यधर्मों से सम्बन्ध रखने वाले 'विद्या-अविद्या' शब्दों का ही प्रयोग किया है । विद्या-अविद्यात्मक विज्ञानात्माधिकरण समाप्त हुआ, अब क्रमप्राप्त संभृति-असंभृत्यात्मक मज्ञानात्माधिकरण की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

इति-विज्ञानात्माधिकरणम्

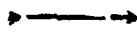
— ५० —

प्रकृतात्माधिकरणे-
विज्ञानात्माधिकरणं समाप्तम्

३



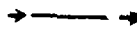
पूर्णमदः



पूर्णमिदम्

४-चन्द्रमाः → → प्रज्ञानवैभव ४-प्रज्ञानात्मा

अधिदेवतम्



अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षरः—

सम्भूति-असम्भूतिमयः प्राकृतात्मा चन्द्रमाः
प्रज्ञानात्मा

३

चन्द्रमाः ← ——— ← ← ← अन्नम् → → → ——— → प्रज्ञानात्मा

(प्राकृतात्माधिकरणे प्रज्ञानात्माधिकरणं चतुर्थम्)

ब्रह्मस्वेदवेदावाच्छिन्नः—सम्भूति-असम्भूतिमयात्मा

यद्वा सञ्चालकः

१-अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां स्ताः ॥

२-अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसंभवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचित्तिरे ॥

३-सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तैर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥

(ईशोपनिषत् १.२-१३-१४-मं०)





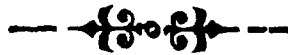
प्रज्ञानात्मस्वरूपनिदर्शनः

- १- यज्जाग्रतो दूरमुदैति देवं तदु सुप्तस्य तथैवेति ॥
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (यजु. ३४।१) ।
- २- यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्जोतिरन्तरमृतम्प्रजाम् ॥
यस्मान्न ऋतं किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (३४।२) ।
- ३- येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिमृष्टीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (३५।३) ।
- ४- अमीय ऋता निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुह चिद्वियुः ।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकञ्चन्द्रमा नक्तमेति ॥ (ऋक्. १।२४।१०) ।
- ५- चन्द्रमा अप्सवन्तरा सुपर्णो भावते दिवि ॥
न वो हिरण्येनमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ (१।१०५।१) ।
- ६- नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेयग्रः ॥
भागं देवेभ्यो विदधासायन् प्र चन्द्रमा स्तिरते दीर्घमायुः ॥ (ऋ. १।०।८५।१६) ।
- ७- चन्द्रमा मनसो जातः (यजुः ३१।१२)
- ८- चन्द्रमा मे मनसि स्थितः" (तै. ब्रा. ३।१०।८५) ।
- ९- तद्यत्तन्मनश्चन्द्रमास्तः (जै० उ० १।२८।५) ॥
- १०- मनो मे, रेतो मे, प्रजा मे, पुनः सम्भूतिर्मे तन्मे त्वयि (चन्द्रमसि) ॥
(जै. उ. ३।२७।४) ।
- ११- यत्तन्मन आसीत्, स चन्द्रमा अभवत् । (जै० उ० २।२।२) ।



॥ श्रीः ॥

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः ।
जानीयादमृतं स्थानं तद् ब्रह्मायतनं महत् ॥१॥
आकाशमण्डलं वृत्तं देवतासु सदाशिवः ।
नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः ॥२॥
चित्रं वर्धति सूर्योऽसौ स्रवत्यक्षतमुन्मुखः ।
तालुमूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधोमुखः ॥३॥
चित्रे चलति संसारो निश्चलं मोक्ष उच्यते ।
तस्माच्चित्रं चिन्तयित्वा प्रज्ञया परया विधे ॥४॥
चित्रं कारुण्यमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम्
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रपद्यते ॥५॥
मनोऽहं गगनाकारं मनोऽहं सर्वतोमुखम् ।
मनोऽहं सर्वमात्म्यं च न मनः केवलः परः ॥६॥
मनः कर्माणि जायन्ते मनो लिप्यति पातकैः ।
मनश्चेदुन्मनीभूयात् पुण्यं न च पातकम् ॥७॥
मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदा भवेत् ।
ततः परं परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम् ॥८॥
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्ति-स्थितिकारणम् ।
मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् ॥९॥



मैदा के सभी कड़ूर नर्मदेश्वर शङ्कर, शालग्राम के सभी कड़ूर शालग्राम । इसी प्रकार ईश्वर प्रजापति के सभी पर्व ईश्वरप्रजापति । समष्टिरूप से भी वही सर्वता, व्यष्टिरूप से भी वही सर्वता । अंग-अंगी दोनों समानधर्मा । 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' । ईश्वरप्रजापति का तीसरा पर्व (सूर्य) जहाँ विद्या-अविद्यात्मक है, वहाँ यह चौथा पर्व (चन्द्रमा) सम्भूति (उत्पत्ति) और असम्भूति का

अविद्याता है । प्रकृत अविकारण तीन मन्त्रों से इसी का निरूपण करता है ।

सृष्टिक्रमानुसार सूर्य के अनन्तर पृथिवी है, सर्वान्त में चन्द्रमा है। परन्तु अध्यात्मसंस्था की दृष्टि से चन्द्रमा सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में प्रतिष्ठित है। पार्थिव प्रजा पर सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में रहने वाले कृष्णपक्ष के अधिप्राता चन्द्रमा का ही अनुग्रह होता है। जब चन्द्रमा पृथिवी के इस ओर आजाता है तो ऐसी अवस्था में चान्द्रसोम का सौर इन्द्र के साथ सम्बन्ध होजाता है। शुक्लपक्ष में, विशेषतः पूर्णिमा में सारा चान्द्रसोम सौर सावित्राग्नि में हुत रहता है। इस शुक्लपक्षावच्छिन्न चान्द्रसोम का पृथिवी पर आगमन नहीं होता। पृथिवी के चारों ओर घूमने वाला चन्द्रमा जब पृथिवी के उस ओर (सूर्य की ओर) आजाता है तो चन्द्रमा का दृश्य भाग पृथिवी की ओर अनुगमन रहता है। फलतः वहाँ सौर रश्मि नहीं पहुँचने पाती। इस काल में (कृष्णपक्ष में), विशेषतः अमावास्या में चान्द्रसोम प्रभूतमात्रा से पृथिवी पर आकर ओषधि-वनस्पतियों में प्रविष्ट हो जाता है। यों तो पूरे कृष्णपक्ष में ही चान्द्रसोम पृथिवी पर आता रहता है, परन्तु जब चन्द्रमा ठीक सूर्य और पृथिवी के मध्य में आजाता है तो सोम सर्वात्मना पृथिवी पर आजाता है। यही सूर्येदुसंगकाल 'अमावास्या' नाम से प्रसिद्ध है। इस दिन चान्द्रसोम पार्थिव अग्नि के साथ निराम करता है, अतएव यह तिथि 'अग्निना-प्रमा (सह) वसति (सोमः)' इस व्युत्पत्ति से अमावास्या नाम से प्रसिद्ध है। इस अमासोम में सन्तानमूत्रपवर्चक पितरप्राण प्रबुद्ध रहता है, अतएव अमावास्या पितृतिथि कहलती है। सोम के साथ पितर प्राण भी ओषधियों में प्रविष्ट होजाता है। ओषधि ही पुरुषाग्नि में हुत होकर शुक्लरूप में परिणत होती हैं। पितरप्राणावच्छिन्न शुक्ल की योषिदग्नि में आहुति होने से प्रजोत्पत्ति होती है। शुक्लगत इसी पितरप्राण के सम्बन्धन के लिए अमावास्या में दर्शेष्टि की जाती है। कहना यही है कि जब चन्द्रमा सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में आता है, तभी वह अध्यात्मसंस्था का उपकारक बनता है। कृष्णपक्ष ही सोम का आदानकाल है, इसी रहस्य को ब्रह्म में रक्ष कर बाजिश्रुति कहती है—

“इन्द्रो ह यत्र वृत्राय बज्रं पञ्चहार—सो ज्वलीयान् मन्यमानो नास्तृषीतीव
विभ्यभिलयाब्धके। स पराः परान्वतो जमाम। तन्वेष्टुं दधिरे। अग्निर्दे-

वतानां, हिरण्यस्तूप ऋषीणां, बृहती छन्दसाम् । तमग्निरनुविबेद । तेनैतां रात्रिं सद्यजगाम । ते देवा अभ्रुवन्-प्रमा वै नोऽद्य वसुर्वसति । + + × + । ते देवा अभ्रुवन्-न वा इममन्यत् सोमाद्विनुयान् । सोममेवास्मै सम्भरोमति । तस्मै सोमं समभरन् । एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः । स यत्रैष एतां रात्रिं न पुरास्ताञ्च पश्चाद्देशे, तदिमं लोकमागच्छति । स ईदं-चापश्रौषधीश्च प्रविशति । स वै देवा नां वसु, अन्नं क्षेपाम् । तद्यदेष एतां रात्रिमिहाभावसति-तस्माद्मावास्या नाम" ।

(शत० ब्रा० १।६।४।१-५) ।

“जिस समय इन्द्रने वृत्रासुर के लिए (वृत्रासुर पर) वज्र फेंका—(उस समय) इन्द्र अपने आप को (वृत्रवध में असमर्थ समझते हुए) दूर से दूर भाग गए । तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रने आंख मीच कर वृत्रासुर पर वज्र फेंकने को तो फेंक दिया, परन्तु उन्हें यह विश्वास न था कि मेरे वज्र से वृत्र मारा ही जायगा । फलतः वज्रप्रहार कर वृत्र के फिर बचकर प्रहार करने के भय से इन्द्र बड़ी दूर निकल गए । (चूंकि इन्द्र देवता, ऋषि, छन्द आदि के अध्यक्ष थे, अतः उनके गुप्त होजाने पर) इन्हें (देवताओंने) ढूंढना आरम्भ किया । (ढूंढने के लिए) देव-ताओं की ओर से अग्नि गए, ऋषियों की ओर से हिरण्यस्तूप गए, एवं छन्दों में बृहती गया । अन्ततः अग्निने इन्द्र को ढूंढ निकाला । इस अग्नि के साथ यह इन्द्र इस (अमावास्या) रात्रि में लौट आए । (अग्नि के साथ इन्द्र को लौट आया देखकर) देवता आपस में कहने लगे कि आज अपना यह (वसु बहुमूल्य निधिरूप इन्द्र) अग्नि के साथ निवास कर रहा है । + ÷ ÷ ÷ । [चूंकि वृत्रवधकर्म में इन्द्र की शक्ति क्षीण होगई थी, इसलिए देवताओंने बल-प्रदान के लिए यह निश्चय किया कि] सोम के अतिरिक्त दूसरा पदार्थ इन्द्र को तृप्त नहीं कर सकता । अपन इन्द्र के लिए सोम का ही सम्भरण करें । फलतः देवताओंने इन्द्र के लिए सोम प्रदान किया । यही वह सोमराजा देवताओं का अन्न है, जो कि आकाश में प्रत्यक्ष दृष्ट यह चन्द्रमा है । यह जिस रात न पूर्व दिखलाई देता, न पश्चिम, उस रात्रि में वह इस लोक

[पृथिवी लोक] में आजाता है। वह यही ओषधि एवं पानी में प्रविष्ट होजाता है। यह देव-
ताओं की निधि है, अन्न है। यह इस रात्रि में इन्द्र के साथ रहता है, इसलिए (भी) यह तिथि
+
“अमानास्या” कहलाती है ॥” ।

हमारी (आध्यात्मिकसंस्था की) सम्भृति एवं असम्भृति का कारण सूर्य-पृथिवीमध्यस्थ
कृष्णपक्षाधिष्ठाता चन्द्रमा है, अतएव उपनिषत् ने सृष्टिक्रम की उपेक्षा कर उक्त स्थितिक्रम
को प्रधान मानते हुए सूर्यात्मिक विज्ञानात्मा के अनन्तर (सृष्टिक्रमप्राप्त पृथिवी का निरूपण
न कर) चन्द्रात्मक प्रज्ञानात्मा का ही निरूपण किया है।

“गायत्री वै पुरुषः” (ऐ० ब्रा० ४।३।) इस निगम श्रुति के अनुसार पुरुष गायत्र है,
एवं ‘पुरुष एवेदं सर्वम् (यजुः सं० ३१।२) के अनुसार सारा प्रपञ्च पुरुष है। पुरुष के यद्यपि
अनेक विवर्त हैं, तथापि प्रकृत में केवल ईश्वरपुरुष, जीवपुरुष (मनुष्यपुरुष) इन दो विवर्तों
की प्रधानता समझनी चाहिए। ईश्वरपुरुष प्राप्तव्य है, उपास्य है। जीवपुरुष प्राप्तिर्हता है,
उपासक है। यह दोनों ही पुरुष परमार्थतः एक पुरुष है। अष्टाक्षर-विभूति के सम्बन्ध से
ईश्वर पुरुष भी गायत्र है, जीवपुरुष भी गायत्र है। शब्दच्छन्द और अर्धच्छन्द का अवि-
नाभाव सम्बन्ध है। जिस प्रकार नियत अक्षर-पद-वाक्यों के समन्वय से शब्दच्छन्द का
स्वरूप निष्पन्न होता है, एवमेव नियत पदार्थों के समन्वय से अर्धच्छन्द का स्वरूप निष्पन्न हो
जाता है। पुरुष आठ पदार्थों की समष्टि है। उधर आठ अक्षर के छन्द का नाम गायत्री है,
अतएव आठ पदार्थ स्वरूप आठ अक्षर की समष्टिरूप इस पुरुष को गायत्री छन्द से छन्दित
होने के कारण अवश्य ही ‘गायत्र’ कहा जासकता है। गायत्र पुरुष में सब कुछ अन्तर्भूत
है, गायत्र पुरुष सान्नात ब्रह्म है—(देखिए छा० उ० ३ प्र० १।१।ख.)—जै० उ० ब्रा०
१ अनु०। ६ ख०। ५ क०)।

+ इस आम्शान का विराट वैदिक विवेचन शतोपनिषद्ज्ञानमध्य में देखना चाहिए।

गायत्रपुरुष का पहिला पर्व रस-बलरूप है, यही मूलपर्व है । रस सत् है, बल असत् है । असद्बलयुक्त सद्रस की समष्टि ही पहिला पर्व है । इसी प्रथमपर्व को परात्पर कहा जाता है (देखिए ई. वि. प्र. सं. २५.५.५.) । आगे के सात पर्व इसी प्रथम पर्व का विकास है । परात्पर का रसभाग मायाकृत अन्तश्चिति से आनन्दविज्ञानमनोमय बनता हुआ 'अमृत' नाम से, एवं बलभाग मायाकृत बहिःचिति से मनप्राणवाङ्मय बनता हुआ 'मृत्यु' नाम से प्रसिद्ध हो जाता है । रस का प्रथम विकास अमृत है, बल का प्रथम विकास मृत्यु है । रस-बलशब्द जहाँ परात्परतत्त्व के लिए नियत हैं, वहाँ अमृत-मृत्युशब्द मायोपाधिक पुरुषविवर्त के लिए नियत हैं । जैसे परात्पर की रस-बल वरा सत्-असत् नाम से प्रसिद्ध हैं, एवमेव पुरुष की उक्त दोनों कलाओं के लिए क्रमशः विद्या-कर्म शब्द नियत हैं । अमृत-मृत्युरूप विद्या-कर्म की समष्टि यह पुरुष (षोडशीपुरुष) उस गायत्रपुरुष का दूसरा पर्व, किंवा दूसरा अक्षर है । पुरुष का रसप्रधान विद्यामय अमृत भाग ही आगे जाकर 'स्थिति' रूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान कर्ममय मृत्युभाग ही आगे जाकर 'गति' रूप में परिणत होता है । स्थिति-गति उस रस-बल का द्वितीय विकास है । यही विकासावस्था 'वेद' नाम से प्रसिद्ध है, इसे ही 'स्वयम्भू' कहा जाता है । यही गायत्रपुरुष का तीसरा पर्व, किंवा तीसरा अक्षर है । रसप्रधाना स्थिति, बलप्रधाना गति इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः अनिरुक्त-निरुक्त शब्द नियत हैं । अव्यक्त स्वयम्भू का रसप्रधान अनिरुक्त स्थितिभाग ही आगे जाकर स्नेहरूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान निरुक्त गतिभाग ही आगे जाकर तेजरूप में परिणत होता है । यह स्नेह-तेज उस रस-बल का तृतीय विकास है । यही विकासावस्था 'सुवेद' नाम से प्रसिद्ध है, यही 'परमेष्ठी' नाम से व्यवहृत होता है । गायत्रपुरुष का यही चौथा पर्व, किंवा चौथा अक्षर है । रसप्रधान स्नेह, बलप्रधान तेज इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः रयि-प्राण शब्द नियत हैं । व्यक्ताव्यक्त परमेष्ठी का रसप्रधान रयिरूप स्नेहभाग ही आगे जाकर (वेदाग्नि के सम्बन्ध से) विद्यारूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान प्राणरूप तेजभाग ही आगे जाकर अविद्या रूप में परिणत होता है । यह विद्या-अविद्या उस रस-बल का चतुर्थ विकास है । यही

विकासावस्था 'हिरण्यगर्भ' नाम से प्रसिद्ध है। इसी को सूर्य कहा जाता है। गायत्रपुरुष का यही पांचवां पर्व, किंवा पांचवां अक्षर है। रसप्रधाना विद्या, बलप्रधाना अविद्या इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः ज्योति-तम शब्द नियत हैं। व्यक्त सूर्य का रसप्रधान ज्योतिर्मय विद्याभाग ही आगे जाकर सम्भूति रूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान तमोमय अविद्याभाग ही आगे जाकर असम्भूति (विनाश) रूप में परिणत होता है। यह संभूति एवं असम्भूति उस रस-बल का पांचवां विकास है। यही विकासावस्था 'विचित्राण' नाम से प्रसिद्ध है, इसी को 'चन्द्रमा' कहा जाता है। गायत्रपुरुष का यही द्वां पर्व, किंवा द्वां अक्षर है। रसप्रधाना संभूति, बलप्रधाना असम्भूति इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः उत्पत्ति-जय यह दो शब्द नियत हैं। मर्य चन्द्रमा का रसप्रधान उत्पत्तिमय संभूतिभाग ही आगे जाकर ज्ञानरूप में परिणत होता हुआ सर्वज्ञ नाम से व्यवहृत होता है, एवं बलप्रधान लयरूप असम्भूतिभाव ही आगे जाकर अर्थरूप में परिणत होता हुआ विराट् नाम से प्रसिद्ध होता है। इन दोनों के मध्य में एक तीसरे क्रियामय हिरण्यगर्भ तत्त्व का विकास और होता है। ज्ञानमूर्ति सर्वज्ञ, क्रियामूर्ति हिरण्यगर्भ, अर्थमूर्ति विराट् की समष्टि ही 'देवसख' नाम से प्रसिद्ध है। इस की प्रतिष्ठा अमृता पृथिवी है। यह उस रसबल का ६ वां विकास है। गायत्रपुरुष का यही ७वां पर्व, किंवा ७ वां अक्षर है। अग्रिमूर्ति देवसख के रसप्रधान ज्ञानभाग से आगे जाकर देवता का विकास होता है, एवं बलप्रधान अर्थभाग से भूत का विकास होता है। यह 'देवता' (प्राण) 'भूत' उस रस-बल का सातवां विकास है। यही विकासावस्था 'भूपिण्ड' नाम से प्रसिद्ध है। गायत्र पुरुष का यही ८ वां पर्व, किंवा ८ वां अक्षर है। रसप्रधान देवता, बल प्रधान भूत इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः अमूर्त-मूर्त-शब्द नियत हैं। यही आठों पर्व जीवपुरुष में हैं। केवल खयम् आदि के नामों में अन्तर है। इस प्रकार एक ही रस-बल चितितारतम्य से उक्त आठ रूपों में परिणत होनाता है। यही तो उस ब्रह्म का पञ्चायत्न, महाअध्व है।

उक्त गायत्रपुरुष-तालिका से पाठकों को विदित हुआ होगा कि चन्द्रमा ही सम्भूति और विनाश का कारण है। चन्द्रमा से पहले सूर्य, सूर्य से पहिले परमेष्ठी की सम्भूति (उत्पत्ति) हो-जाती है। भूपिण्ड सूर्य का उपग्रह है। सर्वान्त में भूपिण्ड से चन्द्रमा का जन्म होता है, अत-एव पृथिवी सूर्य का उपग्रह कहलाती है, एवमेव चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह कहलाता है। पृ-थिवी में रहने वाला सूर्यविरोधी, पारदर्शकता का प्रतिबन्धक धामच्छुद् प्राण 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। यह प्राण वाक्प्रधान है, एवं वाक्त्व आवरण का जनक है। फलतः वाङ्-मय अग्निप्राण का भी आवरकत्व सिद्ध होजाता है। भूपिण्ड अपने अक्ष पर घूमता हुआ इस स्वान्तर्परिभ्रमण से दैनंदिनगति का (अहोरात्र का) स्वरूप संपादन करता हुआ, सूर्य के चारों ओर अपने नियत क्रान्तिवृत्त पर घूमता हुआ संचत्सरगति (वार्षिक गति) का अधिष्ठा-ता बन रहा है। प्रबलवेग से घूमते हुए भूपिण्ड के साथ सहस्रांशु सूर्य के अग्नि का सम्बन्ध होता रहता है। इस सौर अग्नि के ताप से पार्थिव वाङ्मय अग्निप्राण (पार्थिववाङ्मय अग्निरस) द्रुत होता रहता है। पिघला हुआ यह अग्निप्राण भूपिण्ड के साथ साथ ही भूपिण्ड से संलग्न रहता हुआ घूमता रहता है। ऐसी तीन परिक्रमाओं के अनन्तर वह द्रुत अग्निप्राण (अग्निरस) सोमरूप में परिणत होजाता है। सौर अग्नि से परितप्यमान यह सोमभाग अग्नि-नेत्र से बह कर घनीभूत होता हुआ चन्द्रपिण्डरूप में परिणत होजाता है।

वात यह है कि अग्निशरीर का जितना अंश सोमरूप में परिणत होजाता है, वह उस पार्थिव वाङ्मय, अतएव घन अग्नि की अपेक्षा हलका बन जाता है। हलका बनते ही वह पार्थिव अग्नि से पृथक् होकर चारों ओर दिशाओं में ऋतुरूप से व्याप्त होता हुआ पृथिवी की ओर ही अनुग्त होने लगता है। अन्तरिक्ष में हिरण्यगर्भ ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध वायु चन्द्रकक्षा धरातल पर (वायु में इतस्ततः) व्याप्त सोमपरमाणुओं को एककालावच्छेदेन समेट कर उन्हें पुञ्जीभूत बना डालता है। वायु का यह पिण्डसम्पादनव्यापार पृथिवी की २१ प-रिक्रमा पर समाप्त होता है। अर्थात् भूपिण्ड के चारों ओर घूमते हुए सोमपरमाणु क्रमशः घन होते होते वायुव्यापार से पृथिवी के २१ परिक्रमण के अनन्तर दूरस्थ चन्द्रपिण्ड रूप में परि-

युक्त होते हैं। वही पिण्ड पृथिवी के चरों ओर दुधरातल में घूमता हुआ दिखलाई दे रहा है। दिन में सूर्यकिरणों द्वारा पार्थिव पानी वाष्परूप में परिणत होकर अन्तरिक्ष धरातल में व्यक्त होजाते हैं, वही पानी रात्रि में सूर्य के अभाव से फिर पृथिवी की ओर (ओस रूप से) गिरने लगते हैं। यही अवस्था सोम के सम्बन्ध में समझिए। सोम अन्तरिक्ष में जाकर पुनः पृथिवी पर गिरना चाहता है, परन्तु यज्ञवराह नाम से प्रसिद्ध उसी वायु से (देखिए ई० द्वि० खं० अव्यक्तात्माधिकरण ७४ पृ.) वेष्टित होकर पिण्डरूप में परिणत होता हुआ निगृहीत होजाता है। जिस प्रकार आकाश में इतस्ततः व्याप्त केतु (अग्निपुञ्ज) क्रमशः पिण्डीभूत बनकर सूर्यरूप में परिणत हुए हैं—(देखिए ई० द्वि० खं० २३३ पृ.), एवमेव इतस्ततः फैले हुए पार्थिव सोम खण्ड ही क्रमशः पिण्डीभूत होकर चन्द्ररूप में परिणत हुए हैं। इसी चन्द्रोत्पत्ति रहस्य को लक्ष्य में रख कर पुराण कहता है—

पिता सोमस्य वै विषा जज्ञेऽग्निर्भगवानृषिः ।

काष्ठकुण्डयशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महाबुद्धिः ॥१॥

मुदुध्वरं नाम तपो येन तप्तं महत् पुरा ।

श्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति ह नः श्रुतम् ॥२॥

तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिषिषस्य हि ।

सोमं च तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै द्विजः ॥३॥

ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमं च भावितात्मनः ।

नेत्राभ्यामस्रत् सोमो दशधा द्योतयन् दिशः ॥४॥

यदा न धारणे शक्तास्तस्य गर्भस्य ता दिशः ।

ततः सप्तभिः शक्तांश्चुर्निपपात वसुन्धराम् ॥५॥

पतन्तं सोममालोक्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।

रक्मारोपयामास लोकानां हितकाम्यया ॥६॥

गायत्रपुरुषपरिलेख

अष्टाक्षरा वै गायत्री-ईश्वरपुरुषो गायत्रः-जीवपुरुषो गायत्रः

	↓		↓		↓
१-	१-रसः (सत्) २-बलम् (असत्)	}	—→ परात्परः	—→ परात्परः	
	—०—				
२-	१-अमृतम् (विद्या) २-मृत्युः (कर्म)	}	—→ षोडशीपुरुषः	—→ षोडशीपुरुषः	
	—०—				
३-	१-स्थितिः (अनिरुक्तः) २-गतिः (निरुक्तः)	}	—→ स्वयम्भूः	—→ अव्यक्तात्मा	
	—०—				
४-	१-स्नेहः (रयिः) २-तेजः (प्राणः)	}	—→ परमेष्ठी	—→ महानात्मा	
	—०—				
५-	१-विद्या (ज्योतिः) २-अविद्या (तमः)	}	—→ सूर्यः	—→ विज्ञानात्मा	
	—०—				
६-	१-संभूतिः (उत्पत्तिः) २-विनाशः (लयः)	}	—→ चन्द्रमाः	—→ प्रज्ञानात्मा	
	—०—				
७-	१-ज्ञानम् (ब्रह्म) २-अर्थः (कर्म)	}	—→ साक्षीसुपर्णः	—→ भोक्तासुपर्णः	
	—०—				
८-	१-देवताः (अमूर्तम्) २-भूतानि (मूर्तम्)	}	—→ भूपिण्डम्	—→ शरीरम्	
	—०—				

स तेन रथमुख्येन सागरान्तां बभुव्वराम् ।

त्रिःसप्तकृत्वोऽतिशयश्चकाराभिपदन्ति ताम् ॥७॥

तस्य यद्वद्धितं तेजः पृथिवीमन्वपश्यत् ।

ओषधयस्ताः समुद्भूतास्तेजसा ज्वलयन्त्युत ॥८॥

ताभिः पुण्यास्यं लोकान् प्रजाश्चापि चतुर्विधाः ।

पोष्टा हि भगवान् सोमो जगतो हि द्विजोत्तमाः ॥९॥

ततस्तस्मै ददौ राज्यं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ।

बीजौषधीनां विप्राणामपि च द्विजसत्तमाः ॥१०॥

[ब्रह्मण्योपोद्घात]

“हे ब्रह्मणो ! एक बार सोम के पिता भगवान् अत्रि अपने यज्ञ किया । (यज्ञसिद्धि के लिए) पुरायुग में (चन्द्रसृष्टि के आरम्भकाल में) महानेजस्वी अत्रि महर्षिने अपने हाथों को उठाकर, शरीर से स्थिर पाषाण की प्रतिमा समान बनकर ‘सुदुश्चर’ नाम का बड़ा उग्र तप किया । हमने सुना है कि तीन हजार दिव्य वर्ष पर्यन्त लो अत्रिने वह उग्र तप किया । सर्वथा निरचेष्ट एकाम्र रूप से स्थिर ऊर्ध्वरेता उन अत्रि महर्षि का शरीर महाबुद्धिशाली ब्राह्मण सोमरूप में परिणत होगया । सोम की भावना करने वाले अत्रि महर्षि का वह सोम ऊपर की ओर उठा, नेत्रों से सोमरस वह निकला, उसने दसों दिशाओं को प्रकाशित कर दिया । जब दिशाएं उस गर्भीभूत सोम को धारण करने में समर्थ न हो सकीं तो वह शीताशु सोम पृथिवी की ओर गिरने लगा । सोम को पृथिवी की ओर गिरता हुआ देखकर ब्रह्मने उसे लोक-ल्याण के लिए अपने रथ में बैठा लिया । रथ में बैठा कर ब्रह्मने २१ बार उसे भूषिण्ड की परिक्रमा करवाई । परिक्रमा करते हुए सोम का जो प्रवृद्ध भाग पृथिवी में गिर गया, उससे ओषधिएं उत्पन्न हुईं । इन्हीं ओषधियों से चन्द्रमा चतुर्विध प्रजा का पोषण करता है । हे द्विजश्रेष्ठो ! भगवान् सोम जगत् के पोष्टा हैं । वेदविदों में श्रेष्ठ ब्रह्मने चन्द्रमा को राज्य का अधिष्ठाता बनाया, ओषधि और ब्राह्मणों का अधिपति बनाया—‘सोमोऽस्माकं ब्राह्मणां राजा’ ।

उक्त आख्यान समानरूप से आधिदैविक (प्राकृतिक) एवं आधिभौतिक (ऐतिहासिक) चरित्र का निरूपण करता है। भौम ब्रह्माने अत्रि महर्षि के पुत्र चन्द्रमा का राज्याभिषेक कर इन्हे उत्तरदिशा का दिक्पाल बनाया था, एवं सोम और ब्राह्मणों का लोकपाल बनाया था। अग्नो जाकर गुरुपत्नी तारा के अपहरण से भ्रष्टमति चन्द्रमा की उदासीनता से अमुरों द्वारा यज्ञसाधक सोमवृक्ष [सोमवल्ली] का समूल विनाश हुआ। इसप्रकार गन्धर्वकनगराविष्टता चन्द्रमा की कृपा से भौमदेववर्ग सदा के लिए उच्छिन्न होगया। इसीलिए अमुरसम्प्रदाय वाले आज भी अपने धार्मिक कृत्यों में चन्द्रमा को ही प्रधानता देते हैं।

इसी प्रकार महाभारत में भी चन्द्ररूप में परिणत अत्रि द्वारा ही अन्वकार की निवृत्ति मानी गई है, जैसा कि यादरायस्स कहते हैं—

इत्युक्तस्त्वर्जुनस्तृष्णीमभूद्रायुस्तपमव्रीत् ।

शृणु मे दैहयश्रेष्ठ ! कर्मत्रेः सुप्रहात्मनः ॥ १ ॥

घोरे तपस्ययुध्यन्त संहिता देवदानवाः ।

अविध्यत शरैस्तत्र स्वभानुः सोमभास्करो ॥ २ ॥

अथ ते तपसा ग्रस्ता निहन्यन्तेस्म दानवः ।

देवा नृपतिशार्दूल ! सैव बनिभिस्तदा ॥ ३ ॥

अमुरैर्वध्यमानास्ते क्षीणमाणा दिवौकसः ।

अपरयन्त तपस्यन्तमार्त्रिं विप्रं तपोधनम् ॥ ४ ॥

अयं नमश्नुवन् देवाः शान्तक्रोधं जिनेन्द्रियम् ।

अमुरैरिषुभिर्विद्धौ चन्द्रादित्याविषावुभौ ॥ ५ ॥

वयं वध्यामहे चापि शत्रुभिस्तपसाहृते ।

नाधिगच्छाम शान्तिं च मयात्त्रायस्व नः प्रभो ! ॥ ६ ॥

अत्रिवाच

कथं गत्तामि भवतस्तेऽब्रुवंश्चन्द्रमा भव ।

निमिरघ्नश्च सविता दम्ब्युहन्ता च नो भव ॥ ७ ॥

एमुक्तस्तदात्रिवै तमोनुदभवच्छशी ॥

अपरयत सौम्यभावाच्च सोमवत् प्रियदर्शनः ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा नानिषभं सोमं तथा सूर्यं च पार्थिव ।

प्रकाशमकरोदत्रिस्तपमा स्वेन भंगुगे ॥ ९ ॥

जगद्विनिमिरं चापि प्रदीप्तमकरोत्तदा ॥ १० ॥

[महाभारत अनु. पर्व. १.५७ अ.]

“यह सुनकर अजुन चुप होगया। वायु ने पुनः कहा कि हे हेहयवंश में श्रेष्ठ! तुम (अब) महान्याओ में सुप्रसिद्ध अत्रि का कर्म (चरित्र) सुनो। (एकवार) घोर अन्धकार में देव-दानव (देवता और असुर) एक स्थान पर सम्मिलित होकर युद्ध करने लगे। (उस युद्ध में) स्वर्भानु नाम के राहु ने सैकड़ों तीरों से चन्द्रमा और सूर्य का शरीर चलनी बना डाला। हे राजाओं में श्रेष्ठ! इस प्रकार उन महा बलवान दानवों से पीडित वे देवता उस घोर अन्धकार से विर गए। उस समय असुरों से संव्रस्त वे देवता सर्वथा जर्जरित हो गए। (उसी अवसर में) उन क्षीणकाय देवताओं ने (एक स्थान पर) तपस्वी अत्रि को तप करते हुए देखा। सर्वथा शांतमूर्ति एवं जितेन्द्रिय अत्रि से देवता (विनय पूर्वक) कहने लगे कि हे महर्षे! इस युद्ध में सूर्य और चन्द्रमा असुरों द्वारा तीरों से बीध डाले गए हैं। (आज हम सचमुच) इस घोर अन्धकार में इन शत्रुओं से मारे जायेंगे। हमें इस समय जरा भी शान्ति नहीं है। हे प्रभो! आप (ही इस समय) इस भय से हमारी रक्षा कीजिए। (देवताओं की यह कातर प्रार्थना सुन कर) अत्रि कहने लगे—हे देवताओं! तुम्हीं बतलाओ, मैं किस उपाय से तुम्हारी रक्षा करूँ? देवता कहने लगे, हे महर्षे! आप चन्द्रमा बन जाइए, एवं अन्धकार का नाश करने वाले सूर्य

बन जाइए । इस प्रकार सूर्य चन्द्रमा बन कर आप इन दम्युओं के नाश का कारण बनिए । देवताओं से यह सुनकर अग्नि (तत्काल) अन्धकार दूर करने वाले चन्द्रमा बन गए । एक सोम्य-भाववत् सुन्दर बच्चे की तरह दीखने में सुन्दर उस चन्द्रमा को अग्निने देखा । हे राजन् ! उस चन्द्रमा और सूर्य को अधिक प्रकाशयुक्त न देख कर उस युद्ध में अपने तपोबल से अग्नि ने उन दोनों में अधिक प्रकाश कर दिया । इस प्रकार अग्नि ने अपने तपोबल से संसार को अन्धकार शून्य कर दिया, सर्वत्र उजाला कर दिया” ।

इतिहास के साथ साथ उक्त पौराणिक आख्यान में गहन विज्ञान भी छिपा हुआ है, जिसका कि निरूपण विस्तारभय से प्रकृत में नहीं किया जा सकता । इन पौराणिक आख्यानों के मूल श्रौत आख्यान ही हैं । प्रायः इसी से मिलता जुलता आख्यान स्वयं संहिता में, एवं ब्राह्मण में भी उपलब्ध होता है । देखिए—

१-यच्चा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।

अक्षेत्र विद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीशयुः ॥

२-स्वर्भानोरप्यदिन्द्र माया अवो वर्त्तमाना अवाहन ।

गृह्णं सूर्यं तमसापत्रेण तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददग्निः ॥

३-ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवाभमसोपशितन् ।

अग्निः सूर्यस्य दिवि चक्षुगायन् स्वर्भानोरपमाया अमुत्तन् ॥

४-यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।

अत्रयस्तमन्वविन्दन् नहान्ये अशक्नुवन् ॥

(ऋक् सं० ५०।४०।५-६-८६) ।

१-“स्वर्भानुर्दवाऽग्रासुरः सूर्यं तमसा विव्याध । स तमसा विद्धो न व्य-

रोचत, तस्य सोमारुद्रौ एवैतत्तमोऽपाहताम् । स एषोऽपहतपाप्मा तपति” ।

(शत० ५ । ३ । २ । १-२) ।

इस प्रकार आर्यसाहित्य में चन्द्रमा की उत्पत्ति पार्थिव अग्नि से मानी गई है, एवं चन्द्रमा को सोम का पिण्ड, एवं पृथिवी का उपग्रह माना गया है। इधर वर्तमान विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा किसी समय का एक स्वतन्त्र सूर्य है। पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि—“किसी समय चन्द्रमा धीरे उज्ज्वा था, दूसरा सूर्य था। वह धीरे धीरे ठंडा होने लगा, कालान्तर में बाहर का स्तर ठंडा हो गया, गर्भ में अग्नि रह गया, इसी अवस्था का नाम पृथिवी हुआ। पृथिवी का वह भाग जो सर्वथा अग्निशून्य बनता हुआ पृथिवी की पकड़ से बाहर होकर पृथिवी के चारों ओर घूमने लगा, वही चन्द्रमा कहलाया”। अस्तु इन मतमतान्तरों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। यह बात सर्वोत्तमा सिद्ध है कि चन्द्रमा पृथिवी के पीछे उत्पन्न हुआ है, एवं यह पृथिवी का उपग्रह है।

जब यह सिद्ध है कि चन्द्रमा सृष्टिक्रम में सब के अन्त में उत्पन्न होने वाला पर्व है तो ऐसी स्थिति में चन्द्रमा को विश्व की सम्भूति, एवं विनाश का कारण मानना कैसे संगत हो सकता है? हम पार्थिव प्राणियों की उत्पत्ति-नाश का कारण तो फिर भी यथा कथञ्चित् चन्द्रमा माना जा सकता है, परन्तु एकहेलया चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व का उत्पत्ति-परायण मान बैठना कैसे संगत हुआ? उक्त प्रश्न का समाधान करै, इस से पहिले संक्षेप से सम्भूति, एवं विनाश शब्दों का अर्थ जान लेना आवश्यक होगा।

प्रकरण के आरम्भ में ही यह बतलाया गया है कि रस-बल के अवस्थातारतम्य से विश्व में विविध भाव उत्पन्न हो जाने हैं। रस और बल इन दोनों में रस प्रत्येक दशा में असंग रहता है, एवं बल रस की व्यापक अवस्था में असंग, एवं रस की परिच्छिन्न दशा में ससंग बन जाता है। रस की व्यापक एवं परिच्छिन्न दशाभेद से बल की चार अवस्थाएं हो जाती हैं। वे ही चारों अवस्थाएं आविर्भाव, तिरोभाव, सम्भूति, विनाश इन नामों से प्रसिद्ध हैं। रस व्यापक है। इस व्यापक रससमुद्र में असंख्य बल उदित होते रहते हैं, एवं अस्त होते रहते हैं। रस की व्यापकता के कारण इन ससंगधर्मी बलों को परस्पर में ग्रन्थिबंधन करने का अवसर नहीं मिलता। अपि तु जिस प्रकार एक असीम समुद्र में बहरे उठती रहती हैं, एवं

बैठती रहती है, इसी प्रकार उच्चावचभावापन्न बल उस रसधरातल में सहचर सम्बन्ध से ठीक लहरों के समान उदित होते रहते हैं, एवं अस्त होते रहते हैं। बलों का यह सम्बन्ध असंगत-सम्बन्ध है। आविर्भाव-तिरोभाव, उदय-अस्त यही इस सम्बन्ध का स्वरूप है। बलों का ऐसा सम्बन्ध संसृष्टिलक्षण-हृदयग्रन्थिमूलक सृष्टिसम्बन्ध से सर्वथा बहिर्भूत है। आगे जाकर माया की कृपा से रस परिच्छिन्न हो जाता है। इस परिच्छेदभाव के कारण हृदयबल उत्पन्न हो जाता है। हृदयबल से सर्वप्रथम 'सत्तारस' का उदय होता है। पुरुषाभ्याधिकरण की पुरुष-निरुक्ते में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि बल की चिति से एक ही रसतत्त्व आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् भेद से पञ्चकोशरूप में परिणत हो जाता है—(देखिए—ई. भा. द्वि. खं. २६५ से २८५ पृ.)। इनमें मन-प्राण-वाक् की समष्टि ही सत्तारस है। इसी सत्तारस का नाम 'अस्तित्व' है। यही सत्तारस सम्भूति का कारण है। यदि बल हृदग्रन्थिसम्बन्ध से सत्तारस के उदर में आजाते हैं तो उस सत्तायुक्त बलसमुच्चय में अपूर्व नाम-रूप-कर्म का उदय हो जाता है। वस सत्तारस के ग्रन्थिवन्धन सम्बन्ध में वनों का अपूर्व नाम-रूप धारण कर लेना ही बल की 'सम्भूति' है। एवं ग्रन्थिवन्धन के टूट जाने से उस बलसंगत का सत्तारस से पृथक् होने हुए नाम रूप का परित्याग कर देना ही 'विनाश' है।

सत्तार्यक भू धातु से सम्भूति शब्द निष्पन्न हुआ है। 'अयं घटोऽस्ति' घट पदार्थ का यह सत्तालक्षण निर्वचन है। मिट्टी में जो मनप्राणवाङ्मय सत्तारस था, उसे लेकर आज घट सम्भूति का अधिष्ठाता बन रहा है। जिस दिन घट में से मिट्टी की सत्ता निकल जायगी, उस दिन घट अपने नामरूप का परित्याग कर देगा। यही घट का विनाशकाल होगा। बलों पर सत्तारस का अनुग्रह भी दो प्रकार से होता है। आप पृथिवीतल पर प्रतिष्ठित हैं। पृथिवी की धृतिलक्षणा सत्ता ने आपको पकड़ रक्खा है। यदि क्षणमात्र के लिए भी इस पार्थिव सत्ता से आपका वियोग हो जाता है तो आत्मा भयाक्रान्त हो जाता है। आप मार्ग में जा रहे हैं। बिन्दु बिन्दु पर पार्थिव सत्ता आपकी अनुग्राहिका बन रही है। चलते चलते आपकी दृष्टि किसी

सुन्दर दृश्य पर जाती है। उसे देखने में आप इतने तल्लीन हो जाते हैं कि आपको मार्ग में आने वाले गर्त (गड्ढे) का ध्यान नहीं रहता। अकस्मात् पैर फिसल जाता है। उसी समय आत्मा में एक प्रकार का कम्प हो पड़ता है। यह कम्प और कुछ नहीं, केवल क्षणमात्र के लिए पृथिवी की प्रतिष्ठारूपा सत्ता का वियोग है। यदि जानबूझ कर सावधानी से आप तीन फुट के गहरे गर्त में भी पांव रख देते हैं तो भय नहीं होता, कारण इस समय आप का लक्ष्य उस सत्ता पर रहता है। परन्तु अज्ञात दशा में यदि आपका पैर फुटपाथ से सड़क पर भी गिर जाता है तो आत्मा कम्पित हो जाता है, क्योंकि यहां आपकी दृष्टि सत्ता पर नहीं रहती। इस निदर्शन से बतलाना यही है कि हमारे पर पृथिवी की सत्ता का अनुग्रह रहता है। हम पार्थिव-सत्ता के गर्भ में प्रतिष्ठित रहते हैं। एक मिट्टी के डेले को आप कितना ही ऊंचा फेंकिए, उसी पार्थिवसत्ता के आकर्षण से वह तत्काल नीचे आ जायगा। इस प्रकार तत्तल्लोक की तत्तत्प्रजाओं पर तत्तल्लोको की प्रतिष्ठामिका सत्ता का अनुग्रह रहता है। परन्तु इस सत्तारस का हमारे साथ ग्रन्थिवन्धन सम्बन्ध नहीं है, अपितु विभूतिसम्बन्ध है। इस सत्ता से हमारे में किसी अपूर्व नाम-रूप का उदय नहीं होता, केवल स्वरूपरक्षा होती है, अतएव इस सत्तारस के अनुग्रह को हम सम्भूति न कहकर 'विभूति' ही कहेंगे। कुछ मिट्टी का हिस्सा शरीररूप में परिणत हो गया है। हमारा शरीर पार्थिव है। पृथिवी की सत्ता ही ग्रन्थिवन्धन सम्बन्ध से अपूर्व नाम-रूपोदय की जननी बनती हुई हमारी (शरीर की) सम्भूति का कारण बनी है। हृदय एक नियत बिन्दु है। इस एकभावामिका हृदयबिन्दु के साथ पार्थिव सत्ता का जब ग्रन्थिवन्धन हो जाता है, तभी अपूर्वभाव का उदय होता है। इसी अभिप्राय से इस अपूर्ववस्था को 'सम्भूति' कहा है। 'समित्येकीभावे' इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार 'सम्' एकीभाव का सूचक है, 'भूति' सत्ताभाव का द्योतक है। ऐसी भूति (सत्ता), जो ग्रन्थिवन्धन द्वारा बलसमष्टि के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाय, वही 'सम्भूति' है। भूति का एकीभाव से पृथक् हो जाना ही बल का विनाश है। बल नष्ट नहीं होता, ग्रन्थिवन्धन से बल की उत्पत्ति मान ली जाती है, एवं ग्रन्थिविमोकावस्था ही बल का विनाश मान

लिया जाता है। जो बलसंघात ग्रन्थिवन्धन से युक्त सत्तारस से अपूर्व नाम-रूप धारण करता हुआ प्रकट हुआ था, वही ग्रन्थिवन्धन के टूट जाने से आज उसी सत्ता के गर्भ में विलीन हो रहा है। सत्तारस को अपने केन्द्र में रख लेना, दूसरे शब्दों में सत्ता को अपने उदर में रख लेना बल की सम्भूति है, एवं बल का सत्ता के गर्भ में चला जाना बल का विनाश माना जाता है। सत्ता नीचे है, बल ऊँचा है, बल का 'उत्-अयन' (सत्ता के ऊपर गमन) है, यही उदयावस्था है, यही सम्भूति है। उत्-अयन हट गया, बल सत्ता के उदर में लीन हो गया, यही विनाशावस्था है। इसी रहस्य को समझने के लिए उत्पत्तिलक्षणा सम्भूति के लिए जहाँ अधियों ने 'सृष्टि' शब्द प्रयुक्त किया है, वहाँ विनाश के लिए 'प्रलय' शब्द प्रयुक्त किया है। बलों का लयभाव ही इन का विनाश है, उदयभाव ही इनकी उत्पत्ति है। सम्भूति में बलप्रधान है, विनाश में रसप्रधान है। दूसरे शब्दों में सम्भूति में सत्ता बल की अनुगामिनी बन रही है। विनाश में बल सत्ता का अनुगामी बन रहा है। बंधन सम्भूति है, बंधनविमोक विनाश है। एक ही तत्व की अवस्था विशेष सम्भूति है, अवस्थाविशेष विनाश है, परमार्थतः न सम्भूति है, न विनाश है—'न जायते श्रियते वा कदाचित्'।

सम्भूति एवं विनाश का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया गया, अब उक्त प्रश्न का विवेचन किया जाता है। यह प्रकरण सम्भूति-विनाशात्मक चन्द्रमा का निरूपण करता है। सम्पूर्ण विश्व चन्द्रमा से ही उत्पन्न होता है, एवं चन्द्रमा ही विश्वविनाश का कारण है। इस पर पूर्वपक्ष यह हुआ था कि विश्वपूर्वों के अन्त में पृथिवी से उत्पन्न होने वाला चन्द्रमा सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का कारण कैसे माना जा सकता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए थोड़ी देर के लिए हमें यज्ञपुरुष की शरण में चलना होगा। पूर्व के विज्ञानात्माधिकरण में यज्ञाधिकार्य का स्वरूप बतलाते हुए यज्ञपदार्थ का स्वरूप बतलाया गया है—(देखिए ई० वि० २ ख० २६३-३०२)। अग्नि में सोम की आहुति होने से अग्निसोम के समन्वय से जो एक अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, उसी का नाम यज्ञ है। इसी यज्ञ से विश्व में रहने वाली प्रजा

उत्पन्न होती है। इधर हम सत्चारस से युक्त ब्रह्मसंघात को सम्भूति का कारण बतला रहे हैं। दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय कीजिए। मनप्राणवाङ्मूर्चिरस सत्ता है, यह विज्ञानरूप चित्, एवं आनन्द से अविनाभूत है। रसमूर्ति पञ्चकल, किंवा त्रिकल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अव्यय है। अक्षर एवं आत्मक्षर नाम से प्रसिद्ध इस अव्यय की दो अन्तरंग प्रकृति हैं। यह उस पुरुष की स्वभावभूता हैं, अतएव उस से अविनाभूत हैं। रसप्रधान, अतएव रसमूर्ति अन्तरंगप्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही 'षोडशीप्रजापति' है। यद्यपि सम्भूति का कारण सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है, तथापि सत्ताभाग को ही प्रधान माना गया है। आनन्द और विज्ञान (चित्) भी सम्भूति के कारण हैं, किन्तु गौणरूप से। आनन्द विज्ञान उस अव्यय ब्रह्म का मुक्तिसाक्षी भाग है। मन-प्राण-वाङ्मय सत्ताभाग सृष्टिसाक्षी है। मुक्ति में यह गौण है, वह प्रधान है। सृष्टि में यह प्रधान है, वह गौण है। इसी अभिप्राय से मन-प्राण-वाक् की समष्टिरूप सत्चारस के समन्वय-असमन्वय को ही संभूति एवं विनाश का कारण बतलाया गया है। मन से कामना का उदय होता है, प्राणव्यापार उसका तृप है, वाङ्मयापार श्रम है। काम-तृप-श्रम ही सृष्टि के साधारण अनुबन्ध हैं—(ई० भा० २ ख० ३१० पृ०)। वह सत्ताधन प्रजापति अक्षर-मय है, अक्षर वेदमूर्ति है, वेद का यजुर्भाग ब्रह्माग्नि है। ऐसी दशा में सत्चारसरूप वेद-मूर्ति षोडशी प्रजापति को अवरय ही 'अग्नि' (वेदाम्निमूर्ति) कहा जासकता है। पुरुष साक्षात् 'अग्नि' है—“पुरुषो वा अग्निः” (शत० १४।१।१४)—“ब्रह्म वा अग्निः” (कौ० ६।५)। “आत्मा वा अग्निः” (शत० ७।३।१।२)।

इस पुरुषाग्नि में बलप्रधाना पञ्चधा विभक्त प्रकृति की आहुति होती है। यह आहुयमामा प्रकृति ही 'सोम' है। 'सुतो भवति' 'सूयतेऽग्नौ' 'अभिषुतो भवति' इत्यादि निर्वचनों के अनुसार अग्नि में आहुत होने वाला पदार्थ ही 'सोम' है। यह सोम अग्नि में आहुत होकर अग्नि को प्रदीप्त करता हुआ, स्वयमपि रश्मिप्रसार करता हुआ प्रदीप्त होजाता है, अतएव सोम को 'चन्द्रमा' शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है। आप अन्तरिक्ष में चन्द्रिकामय जो पिण्ड देखते हैं, उसी का नाम चन्द्रमा नहीं है। अपितु चन्द्रमा सोमतत्त्व है, चन्द्रमा शब्द सोमतत्त्व का

वाचक है, सोमत्व आहुतिद्रव्य का वाचक है। इस सामान्य परिभाषा के अनुसार आहुत होने वाले जितने भी पदार्थ हैं, सब सोम हैं। एवं जिन पदार्थों में इन सोमरूप पदार्थों की आहुति होती है, वे सब पदार्थ 'अन्नाद' बनते हुए अग्नि हैं। पुरुषप्रजापति में रस की प्रधानता है, प्राण-आप-वागादि पाचों प्रकृतियों में बल की प्रधानता है। वह रस है, यह बल है। वह भोक्ता (अन्नाद) बनता हुआ पूर्वकथनानुसार साक्षात् अग्नि है, यह भोग्य (अन्न) बनता हुआ साक्षात् सोम है। इस की उसमें आहुति होती है, रसबलात्मक अग्नीषोममूर्ति पुरुषप्रकृति का समन्वय होता है, इसी यज्ञ से विश्व सम्भूत हुआ है। सारा विश्व सोम-रूप प्रकृति की पुरुष में आहुति होने से ही उत्पन्न हुआ है। अग्नि में पुरुष की प्रधानता रहती है, दूसरे शब्दों में रस की प्रधानता रहती है, अतएव पुरुष (मनुष्य) को आग्नेय बतलाया जाता है। सोम में प्रकृति की, दूसरे शब्दों में बलत्व की प्रधानता रहती है, अतएव वी को सौम्या कहा जाता है। पुरुष-प्रकृति, रस-बल, अग्नि-सोम सब अभिन्नार्थक हैं। प्रकृति-पुरुष का समन्वय, रस-बल का समन्वय, अग्नि-सोम का समन्वय, एवं असमन्वय ही सम्भूति विनाश का कारण है। इसी रहस्य को सामने रखते हुए हम कह सकते हैं कि चन्द्रमा (सोम-प्रकृति) ही सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का अधिष्ठाता है।

अपेक्षया सभी सोम हैं, सभी अग्नि हैं। हम यदि अन्य पदार्थों के प्रत्यंशों को लेकर उन्हें अपने शरीर अग्नि में आहुत करते हुए उन आहुत पदार्थों की अपेक्षा अन्नाद (अग्नि) हैं तो अन्य पदार्थों के लिए हम अन्न (सोम) भी हैं। हमारा रस सूर्य ले रहा है, सूर्य का रस हम ले रहे हैं। हम सूर्य से उत्पन्न हुए हैं। उस के पदार्थों को जहां हम खा रहे हैं, वह हमारे धातुओं का आदान करता हुआ आदित्य बन रहा है। इसी प्रकार प्रजा में भी एक प्रजा दूसरी प्रजा के प्रत्यंशों को लेती देती रहती है। सर्वत्र आदान विसर्गात्मक अन्नान्नादयज्ञ व्याप्त है। सभी अन्न हैं, सभी सोम हैं। सभी अग्नि हैं, सभी अन्नाद हैं—“अन्नाद-एवाग्निरभवद्भक्षं सोमः। अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च” (शत० ११।१।६।१८)। इसी व्यापक अन्न-अन्नादमात्र का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

महमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्व देवेभ्योऽमृतस्य नाम ।

यो मा ददाति स इ देवमावदहमन्नमन्नमदन्तमग्नि ॥

यह तो हुई शास्त्रदृष्टि । अब प्रयत्नदृष्टि से सोम की सम्भूति विनाश का विचार कीजिए । संभति (मृष्टि) आत्मा-प्रकृति-विकृति इन तीन भागों में विभक्त है । आत्मसृष्टि-प्रकृतिसृष्टि-विकृतिसृष्टि भेद से सम्भूतिरूपा सृष्टि के तीन भिन्न हैं । इन तीनों ही सृष्टियों का अधिष्ठाता सोमत्व है । महदात्माधिकरण में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि सोममूर्ति महान् में ही षोडशी आत्मा गर्भ धारण करता है—‘मम योनिर्महद्ब्रह्म’ । आत्मविकासभूमि एकमात्र महत्सोम (पारमेष्ठ्य सोम) ही है । प्रकृति ब्रह्म से विश्व का निर्माण हुआ है, परन्तु अप्रतत्व की आहुति से । अप्रतत्व साक्षात् सोम है । इस प्रकार प्रकृति का प्रकृतिस्वरूप सृष्टिकर्तृत्व भी सोमसम्बन्ध पर ही निर्भर है । इसी सोमाहुति से सूर्य का विकास हुआ है, इसी सोम से परमेष्ठी का विकास हुआ है, यही सोम अव्यक्त पुण्डरी स्वयम्भू का जनक है । इसी सोमाहुति से भूपिण्ड निष्पन्न हुआ है । इसी सोम का प्रवृक्त अंश चन्द्रमा है । इस प्रकार आगे जाकर चन्द्रमा नाम धारण करने वाला सोम ही सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण बन जाता है । सोम की इसी सम्भूतिलक्षणा विभूति का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

१- महत्तत् सोमो महिषध्वकारापां यदगर्भोऽष्टणीत देवान् ।

अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्येज्योतिरिन्दुः ॥ [ऋक्. ६ । ६७ । ४१] ।

२- अक्रान्तसमुद्रः प्रथमे विधर्मजनयत् व्रजा भुवनस्य राजा ।

वृषा पवित्र अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः ॥ [ऋ. ६ । ६७ । ४०] ।

३- पवित्रेभिः पवमानो नृचक्षा राजा देवानामुत मर्त्यानाम् ।

दिना सुवद्रयिपती रयीष्णामृतं भरतं सुभृतं चार्विन्दुः ॥ [ऋ. ६ । ६७ । २४] ।

४- एष विश्ववित् पवते मनीषी सोमो विश्वस्य भुवनस्य राजा ।

द्रप्सो ईरयन् विदथेऽधिन्दुर्वि वारमव्यं समयाति याति ॥ (ऋ. ६।६७।५६) ।

५- या ते धापानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु ।

तभिर्नो विश्वैः सुमना महेष्वाजन्त्सोमं प्रति हव्या गृभाय (ऋ. १।६१।४) ।

६- त्वमिमा ओषधीः सोमं विश्वास्त्वप्यो अजनयस्त्वं गाः ।

त्वमा ततन्योर्वन्तरिन्त्वं त्वं ज्योतिषा वि तपो ववर्य ॥ (ऋ. १।६१।२२) ।

१- (महानात्मा का स्वरूप सम्पादन करने के कारण)-महिष-(महान् नाम से प्रसिद्ध) सोम ने यह महत् कर्म (बड़ा भारी कर्म) किया है, जो कि पानी के गर्भ बने हुए देव-ताओं का (सौर देवताओं का) वरण कर लिया है । (आपोमय परमेष्ठी मण्डल में प्रतिष्ठित अप्रतत्व की विरजावस्थारूप सोम की आहुति से ही ज्योतिर्मय सौर देवताओं का विकास हुआ है, इसी अभिप्राय से “अपां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्” यह कहा है) । (दूषित भाग को निकालने के कारण) पवमान [नाम से प्रसिद्ध इसी पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति सोम] ने इन्द्र (सौर अमृतप्राण) में ओज [बलप्रद वीर्य] स्थापित किया है-[तभी तो “या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तन्” यह कहा जाता है] । इसी इन्दु (सोम) ने सूर्य में ज्योति (प्रकाश) उत्पन्न की है । “त्वं ज्योतिषा वि तपो ववर्य” इस ऋक्संहितान्त के अनुसार दाह्य पारमेष्ठ्य सोम की दाहक सौर सावित्राग्नि में निरन्तर आहुति होती रहती है । इसी सोमाहुति से सौर मण्डल में प्रकाश हो रहा है । “आ कृष्णेन रजसा वर्चमानः” इस यजुःश्रुति के अनुसार सूर्य, किंवा सौर अग्नि भी स्व-स्वरूप से घोर कृष्ण [काला] है, एवं “ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु-चन्द्रमा वै ब्रह्मा-कृष्णः” इस मन्त्र-ब्राह्मण श्रुति के अनुसार चन्द्रमा (सोम) भी घोर कृष्ण है । न अग्नि में प्रकाश है, न सोम में प्रकाश है । प्रकाश उत्पन्न होता है दोनों के समन्वय से । इस समन्वय में योनि स्थानीय अग्नि स्वस्थान पर प्रतिष्ठित रहता है । इस में रेतः

स्थानीय सोम की आहुति होती है। इसीलिए सोम को ही ज्योति का प्रवर्तक माना जाता है। यही नित्याग्निहोत्र है, यही जराभर्यसत्र है—“सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्”
(शत.२कां.१२अ.१५बा.१कं.) ॥१॥

२- पानी की वर्षा करने के कारण समुद्र नाम से प्रसिद्ध यह सोम राजा इस विशाल अन्तरिक्ष में (त्रैलोक्य में अपनी आहुति से) प्रजा उत्पन्न करता हुआ सब का अतिक्रमण कर रहा है। तात्पर्य यही है कि छान्दोग्य उपनिषत् की पञ्चाग्निविद्या के अनुसार अर्द्धात्मक सोम ही क्रमशः श्रद्धा-सोम-वृष्टि (पानी)-अन्न-रेत रूप में परिणत होता हुआ क्रमशः द्यु-पर्जन्य-पृथिवी-पुरुष-योषित् इन पाँचों अग्नियों में आहुत होता हुआ “इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति” इस सिद्धान्त के अनुसार प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। अभिपूयमाण वर्षणशील वह प्रदीप्त सोम विशेषरूप से प्रवृद्ध होता है ॥२॥

३- सूर्य की पवित्र रश्मियों से पवित्रतम बना हुआ, देवता मनुष्यादि प्रजाओं का अधिपति, सम्पूर्ण सम्पत्तियों का अधिष्ठाता यह सोम भलीभांति संगृहीत होता हुआ कल्याणप्रद सत्यमार्ग को धारण करता है ॥३॥

४- सर्वज्ञ, मनीषी, त्रैलोक्य का राजा यह सोम सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। यही कर्मों में अपनी शक्ति प्रदान करता है। यही सब का वेष्टन करता हुआ, कर्म सञ्चालन करता हुआ आगे चलता है ॥४॥ (शेष दोनों का अर्थ स्पष्ट है)।



वै निरूपण से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि वास्तव में सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का कारण एकमात्र सोम ही है। सोम की इस व्याप्ति को लक्ष्य में रखिए एवं सुप्रसिद्ध सोम (चन्द्रपिण्ड) पर दृष्टि डालिए। उपनिषत् श्रुति को सामान्यरूप से सम्भूति और विनाश का स्वरूप बतलाना है, साथ ही में प्रज्ञानात्मा का भी निरूपण करना है, इधर प्रज्ञानात्मा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष दृष्ट चन्द्रपिण्ड के साथ ही है, अतएव किसी विशेषभाव का उल्लेख न कर सा-

मान्य रूप से “सम्भूति च विनाशं च” इत्यादि कह दिया गया है । सोम सारे विश्व की सम्भूति एवं विनाश का कारण कैसे है ? इस का समाधान होगया । अब यही सोम हमारे आध्यात्मिक प्रपञ्च की सम्भूति एवं विनाश का कारण कैसे बनता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए आपको उस व्यापक सोम ही के प्रत्यक्षभूत सृष्टि के अन्तिम पर्वरूप, पृथिवी के उपग्रहभूत सुप्रसिद्ध चन्द्रपिण्ड को ही सामने रखना पड़ेगा । इस चन्द्रपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाली सम्भूति सम्भूति एवं पुनःसम्भूति भेद से दो भागों में विभक्त है । हमारी प्राथमिक सम्भूति का कारण आधिदैविक चन्द्रमा है, एवं उत्तरोत्तर होने वाली जन्मचक्ररूपा सम्भूति का कारण आध्यात्मिक चन्द्रमा है । प्रकृत अधिकरण प्रधानरूप से इसी आध्यात्मिक चन्द्रमा का निरूपण करता है । आधिदैविक चन्द्रमा हमारी प्राथमिक सम्भूति का कारण कैसे बनता है ? पहिले इसी प्रश्न का विचार कीजिए ।

“अग्नीषोमात्मकं जगत्” (जाबालोपनिषत्) इस श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् (रोदसी त्रैलोक्य) अग्नीषोमात्मक है । सौरत्रिलोकी जंगम प्राणियों के सम्बन्ध से ‘जगत्’ नाम से प्रसिद्ध है । विश्व और जगत् शब्द परस्पर में पर्याय नहीं हैं । संयती-क्रन्दसी-रोदसी इन तीनों त्रैलोक्यों की समष्टि विश्व है, एवं एकमात्र रोदसी त्रिलोकी जगत् है । यह जगत् सचमुच अग्नीषोममय है । जगद्यज्ञस्वरूपसंपादक अग्नि और सोम दोनों ही अनेक भागों में विभक्त हैं । परन्तु इतना ध्यान रखिए कि तेजन अग्नि का सामान्य लक्षण है, एवं स्नेहन सोम का सामान्य लक्षण है । एक की प्रतिष्ठा हृदय है, एक की प्रतिष्ठा परिधि है । अग्निमत्त्व केन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ अर्करूप से निरन्तर परिधि की ओर जाया करता है, एवं सोममत्त्व परिधि से निरन्तर केन्द्र की ओर आया करता है । अग्नि अपने तेजनस्वभाव से उत्तरोत्तर विशकलित होता जाता है । इसी विशकलन से इस की अग्नि-यम-आदित्य यह तीन प्रधान अवस्थाएं हो जाती हैं । ठीक इसके विपरीत सोममत्त्व अपने स्नेहनस्वभाव से उत्तरोत्तर संकुचित होता जाता है । इसी संकोच से इस की आप-वायु-सोम यह तीन अवस्थाएं हो जाती हैं । अग्निअग्नी अक्षिरा है । अक्षिरा पिण्ड से निकलकर निरन्तर ऊपर की ओर

जाया करता है, विशकलन की पराकाष्ठा पर पहुंचने से इसकी विकास क्रिया बंद हो जाती है । विकास की अन्तिम अवस्था पर पहुंचते ही अंगिरा की गति पलट जाती है । विरुद्धगतिभावापन्न अङ्गिरा ही भृगुरूप में परिणत होकर केन्द्र की ओर आने लगता है । केन्द्र की ओर आते आते जब भृगुत्रयी (आप-वायु-सोम) ठीक केन्द्रबिन्दु पर आ जाती है तो स्नेहलक्षणा क्रिया अवरुद्ध हो जाती है, तत्काल तीनों में संघर्ष हो जाता है । इस संघर्ष से अंगिरा का जन्म हो जाता है । दूसरे शब्दों में केन्द्र में आकर भृगु ही अंगिरा रूप में परिणत हो जाता है । इस प्रकार एक ही प्रजापतितत्त्व गति-आगति भेद से अग्नि (अङ्गिरा), सोम (भृगु) यह दो रूप धारण कर लेता है । जो अग्नि है, वही सोम है । जो सोम है, वही अग्नि है । अग्नि अग्नि है, सोम पानी है । अग्नि पराकाष्ठा पर पहुंचकर पानी बन जाता है, पानी उद्ग्राभ की चरमावस्था पहुंचकर अग्नि बन जाता है । इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में तेज-स्नेहलक्षणा अग्नि-सोम का साम्राज्य है । इनमें तेजोरूप अग्नि-त्व के अग्नि, यम, आदित्य, सार्वयाजुष, देव, ऋतु, सत्य, वैश्वानर, आहूत, प्रहृत, उद्धृत, धिष्य आदि अवान्तर अनेक भेद हैं । सोम के भी अवान्तर अनेक भेद हैं । उन सब अवान्तर सोमों का १० जातियों में अन्तर्भाव माना जा सकता है । अग्नि-सोम के इसी वैजात्य से जगत् में वैजात्य उपलब्ध होता है । सोम की वे १० जातिएं निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध हैं ।

१-अरमा—(१-ध्रुवः, २-धर्वः, ३-धरुणः, ४-धर्मः)

२-असुरः—(१-वृत्रः, २-नमुचिः, ३-बलम, ४-जम्भः)

३-अक्षम्—(१-राजा, २-वाजः, ३-ग्रहः, ४-हविः)

४-आपः—(भृगवः-अंगरिस्तः) ।

५-सहः—(अग्निप्रभवः) ।

६-ओषधीः—(अग्निगर्भितः) ।

७-अप्सुः—(अंशुः)

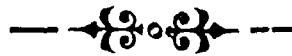
८-पवित्रम्—(ब्रह्मणस्पतिः) ।

९-दिक्—(सर्वव्यापकः) ।

१०-प्रात्मा—(महान्) ।

अग्नि में सोम की आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है । इस आहुतिक्रम का ही नाम यज्ञ है । अतएव हम कह सकते हैं कि पुरुष की सम्भूति का कारण यज्ञ ही है । ‘पाङ्क्तो वै यज्ञः’ के अनुसार यह पुरुषस्वरूप समर्पक यज्ञ पञ्चायज्ञ है । पुरुषयज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले अग्नि के भी पांच ही पर्व हैं, एवं सोम के भी पांच ही पर्व हैं । दोनों की समष्टि दशाक्षर विराट् यज्ञ है । उस महाविराट् से इस क्षुद्रविराट् का जन्म होता है—“अर्द्धेन नारी तस्यां स विराटमसृजत् प्रभुः” । अग्नि पुरुष है, सोम स्त्री है । दोनों पतिपत्नियों के मिथुन से उस महाविराट् की सम्भूति हुई है, एवं उसी से क्षुद्रविराट् सम्भूत हुआ है । पुरुषरूप अग्नि के पांचों पर्व क्रमशः द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, योषित् इन नामों से प्रसिद्ध हैं । एवं सोम-तत्त्व के पांचों पर्व क्रमशः श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न, रेत इन नामों से प्रसिद्ध हैं । दिव्यलोक का अग्नि पहिला अग्नि है, आन्तरिक्ष्य अग्नि दूसरा अग्नि है, पार्थिव अग्नि तीसरा अग्नि है, पुरुषाग्नि चौथा अग्नि है, योषिदग्नि पांचवां अग्नि है । पार्थिव अग्नि घनाग्नि है, आन्तरिद्य अग्नि तरलाग्नि है, यही वायु है । ‘वायुर्ब्रह्मैवमृषा ईशे’ इस वृष्टिविद्यासूत्र के अनुसार पर्जन्य नाम से प्रसिद्ध आन्तरिद्य तरनवायु ही वृष्टि का अधिष्ठाता है । दिव्य अग्नि विरलावस्था-पन्न है, यही आदित्याग्नि है । अक्षिरात्रयी ही अग्नि-वायु-आदित्य है । यही पृथिवी-पर्जन्य-द्यु हैं । पुरुषाग्नि में इन तीनों अग्नियों का समुच्चय है । अग्नित्रय के संयोग से नया तापधर्मा अग्नि उत्पन्न होजाता है, यही वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है । पुरुष साक्षात् वैश्वानर अग्नि की प्रतिमा है । यह चारों अग्नि (द्यु-पर्जन्य-पृथिवी-पुरुषरूप आदित्य-यम-अग्निमय-वैश्वानर) सत्त्वाग्नि हैं । पांचवां योषित् अग्नि ऋतरूप है । ऋतु का स्वरूप इसी ऋताग्नि से संपन्न होता है । इसी ऋताग्नि से स्त्री का आत्मा बनता है । स्त्री ऋताग्निमयी है । सभी समयों में इसमें ऋताग्नि का आविर्भाव नहीं होता, अपि तु ऋतुकाल में ही ऋताग्नि का विकास होता है । ऋतुमती स्त्री के ऋताग्नि में जब सोमाहुति होनी है, तभी प्रजोत्पत्ति होती है ।

१-द्युः—दिव्यविरलाग्निः—→आदित्यः	}—अङ्गिरात्रयी	}-सत्पाग्नि
२-पर्जन्यः—आन्तरिक्ष्यतरलाग्निः—→वायुः		
३-पृथिवी—पार्थिवघनाग्निः—→अग्निः		
४-पुरुषः—अग्नित्रयसंयोगजन्मा—→वैश्वानरः	}	
५-योषित्—ऋतुकाले व्याप्तो ऋताग्निः—→ऋताग्निः		



इसी प्रकार श्रद्धातन्त्र सोम की विरलावस्था है, सोम तग्लावस्था है, वर्षा (पानी) घना-
वस्था है। तीनों की समष्टि 'भृगु' है। उन तीनों के समन्वय से अन्न का विकास होता है,
अन्न ही आगे जाकर रेतोरूप में परिणत होता है। उक्त पाँचों अग्नियों में क्रमशः इन पाँचों
सोमों की आहुति होती है। पाँचवीं आहुति में पुरुष उत्पन्न होता है। प्राणदेवता यह के
संचालक हैं, आहुति देने वाले हैं। दिव्याग्नि में श्रद्धा सोम की आहुति होती है। चान्द्रस का
नाम ही श्रद्धा है। यह रस आपोमय है, चन्द्रमा स्वयं पानीयपिण्ड है, श्रद्धा का पिण्ड है।
प्रत्येक पानी में यह चान्द्रस प्रतिष्ठित रहता है, इसी रसभाग के लिए 'यो वः शिवतमो रसः'
यह कहा जाता है। अपिच इसी आधार पर—'आपो वै श्रद्धां सनमन्ते' "श्रद्धा वा मेध्या-
वा आपः" इत्यादि श्रुतिवचन प्रसिद्ध हैं। यही चान्द्रश्रद्धारस दिव्याग्नि में आहुत होकर सोमरूप में
परिणत हो जाता है। श्रद्धा पहिली अवस्था है, सोम दूसरी अवस्था है। इस सोम की पर्जन्या-
ग्नि में आहुति होती है। इस आहुति से वृष्टिरूप 'स्थूल पानी' उत्पन्न होता है। यह स्थूलपानी उस
श्रद्धा नाम के सूक्ष्मपानी की तीसरी अवस्था है। इस वर्षा की तीसरे पार्थिवाग्नि में आहुति होती है।
इस आहुति से 'अन्न' उत्पन्न होता है। यह चौथी अवस्था है। आध्यात्मिक प्राणदेवताओं द्वारा
(इन्द्रियों द्वारा) इस अन्न की पुरुषाग्नि (वैश्वानराग्नि) में आहुति होती है। शरीराग्नि में आहु-
त अन्नसोम रस-मल के क्रमिक विशकलन से क्रमशः रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा
रूप में परिणत होता हुआ सर्वान्त में रेतोरूप में परिणत हो जाता है। यह रेत अवमूर्ति उस
श्रद्धासोम की पाँचवीं अवस्था है। ऋतुकाल में स्त्री के ऋताग्नि में (अर्चव में) इस रेतः सोम

की आहुति होती है। इसी से पुरुषोत्पत्ति होती है। इस प्रकार वह भद्रारूप अप्सव श्रद्धा-सोम-वर्षा-अन्न-रेतोरूप में परिणत होता हुआ पांचवीं आहुति में पुरुषरूप में परिणत हो जाता है, जैसाकि निम्न लिखित उपनिषद्वाचन से स्पष्ट है—

६

“इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति”

(छान्दोग्य ३. ५. ११) ।

उक्त यज्ञादिस्य से यह सिद्ध होजाता है कि वह श्रद्धारूप चान्द्रसोम ही परम्यया पुरुष की प्रथमसम्भूति का कारण बनता है। पुरुष वस्तुमात्र का उपलक्षण है। रोदसी त्रैलोक्य में जिनमें भी पदार्थ हैं, सब की सम्भूति का कारण चन्द्रमा ही है। त्रैलोक्यव्यापक स्वयं साक्षि-देवसत्य (साक्षीसुपर्ण) भी देवसत्यात्मक चन्द्रमा से ही सम्भूत है। इतर सारे जड़ चेतन पदार्थ भी इसी से उत्पन्न हुए हैं। सूर्य कश्यप प्रजापति है, चन्द्रमा दत्तमज्जारति है, चन्द्रमा जिस चक्र पर पृथिवी की परिक्रमा लगाता है, वह वृत्त ‘वत्तवृत्त’ नाम से प्रसिद्ध है। यह दक्ष चान्द्रसोम से व्याप्त रहता है। दक्षवृत्तावच्छिन्न इस चान्द्र सोम के सूर्यसम्बन्ध से १२ विभाग होजाते हैं। १२ मास ही १२ विभाग हैं। चान्द्रसोमावच्छिन्न ३० राशिरूप खगोल का एक एक प्रदेश एक एक मास है। एक सप्तसरचक्र में ऐसे १२ मास हैं। इन १२ दाक्षायणियों के साथ सौर-कश्यपप्रजापति का भोग होता है। दिति के साथ भोग होने से दैत्य, अदिनि से आदित्य, कद्रु से सर्प, विनता से गरुड़, आदि प्रजाएं उत्पन्न होती हैं। संसार की सारी प्रजाएं कश्यप प्रजापति द्वारा इन्हीं १२ दाक्षायणियों से उत्पन्न हुई हैं। धर्म-अरिष्टनेमि-शिव-कुशाब्बा-स्वयं चन्द्रमा-कश्यप आदि भेद से वह सोम-धरातल ६० भागों में विभक्त होजाता है। दक्षप्रजापति की इन ६० कन्याओं से ही सृष्टि का संचालन होता है। इन्हीं सब कारणों से हम सोमघन चन्द्रमा को अवश्य ही ‘सम्भूति’ का कारण मानने के लिए तय्यार हैं।

प्रत्येक वस्तु अपने अपने नियत समय पर उत्पन्न होती है। यह नियत समय ही लोकभाषा

में 'मोसम' नाम से प्रसिद्ध है। मोसम ऋतु है। ऋतुकाल में ही वस्तु की उत्पत्ति होती है। ऋतुसमष्टि संवत्सर है। इस संवत्सर का स्वरूप ऋतुसम की आहुति से ही संपन्न होता है। चान्द्रेत ही ऋतुरूप संवत्सर का अधिष्ठाता है। संवत्सर के १२ विभाग चन्द्रमा के सम्बन्ध से ही 'मास' नाम से प्रसिद्ध हैं। चन्द्रमा नक्षत्र सम्बन्ध से बदलता रहता है। इस परिणाम-भाव से ही चन्द्रमा 'मास' (मसि परिणामे) नाम से प्रसिद्ध है। मास का (चन्द्रमा) जो भोग काल है, वही (मासः-अयं-मासः) के अनुसार 'मास' (महिना) नाम से प्रसिद्ध है। इस दृष्टि से भी चन्द्रमा को ही सम्भूति का कारण मानना पड़ता है। इसी प्रकार विनाश का अधिष्ठाता भी यही चन्द्रमा है। जैसी स्थिति अवरोहक्रम में है, वैसी ही स्थिति आरोहक्रम में है। अवरोह सम्भूति है, आरोह विनाश है। "तदन्तर प्रतिपत्तौ रंढति संपरिष्वक्तः प्रजननिरूपणाभ्याम्" "ऽयात्मकत्वात्तु-भूयस्त्वात्" "प्राणगनेश्च" (शा.सू. ३अ. १-२-३सू.) इत्यादि सूत्रों से आरोह-अवरोह क्रम का ही निरूपण किया गया है। जिस क्रम से ग्रन्थिबन्धनरूपा सम्भूति हुई थी, उसी क्रम से ग्रन्थिविमोकरूप विनाश होता है। दोनों का अधिष्ठाता चन्द्रमा ही है। चन्द्रमा के द्वारा ऋतुरूप से होने वाली इसी सम्भूति एवं विनाश का स्वरूप बतलाते हुए महर्षि कौषीतकि कहते हैं—

"स होवाच-ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति । तेषां प्राणैः पूर्वपक्ष आप्यायते, तानपरपक्षे न प्रजनयति । + + + + । तं यत् प्रसाह तमतिष्ठजते, अथ य एनं न प्रसाह, तमिह दृष्टिर्भूत्वा वर्षति । स इह कीटो वा, पतङ्गो वा, शकुनिर्वा, शार्दूलो वा, सिंहो वा, मत्स्यो वा, परश्वा वा, पुरुषो वा, ग्रन्थो वा-एतेषु स्थानेषु प्रसाजातते यथा कर्म, यथा विध्यम् । तमागतं पृच्छति-कोऽसि ? इति । तं प्रतिब्रूयात्-विचत्तुर्ग्राह्य-वो रेत आभूतं, पञ्चदशात् प्रसूतात् पिब्यवत्स्तन्या पुंसि कर्त्तव्यैर्यध्वम् । पुंसा कर्त्ता मातरि निषिद्य स जाय उपजायमानो, द्वादशत्रयोदश उपमासो, द्वादशत्रयोदशेन पित्राऽऽसंतद्विदे, प्रतितद्विदेऽहं, तन्म ऋतवो अपर्लव आभर-

ध्वम् । तेन सखेन तेन तपसा-ऋतुरस्मि, आर्चवोऽस्मि, कोऽस्मि, त्वमस्मीति, तमति सृजते । ÷ ÷ ÷ ÷ । तं ब्रह्मा पृच्छति-कोऽसीति ? तं प्रतिब्रूयात्-ऋतुरस्मि, आर्चवोऽस्मि । आकाशाद्योनेः संभूतो, भार्यायै रेतः संवत्सरस्य तेजो-भूतस्य भूतस्य भूतस्याऽऽत्मा त्वमान्मासि । यस्त्वमसि-सोऽमस्मि-इति" ।

(कौ० उ० १ अ० ६ ख०) ।

चन्द्रमा ही विचक्षण है । यही पूर्वदर्शित क्रमानुसार ऋतु द्वारा रेत बनकर सब की सम्भूति का कारण बनता हुआ सर्वरूप में परिणत होता है । इसी विज्ञान के आधार पर निम्न लिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१—"असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः" (कौ० उ० ७।७।४।१०) ।

२—"चन्द्रमा वै जायते पुनः" (तै० ब्रा० ३।६।५।४) ।

३—"एष वै (चन्द्रमाः) रेतः" (शत० ६।१।२।४) ।

४—"चन्द्रया एव सर्वम्" (गो० ब्रा० पू० ०० ५।१५) ।

जो चन्द्रमा सम्भूति का कारण है, पूर्वकथनानुसार वही विनाश का भी अविष्टाता है । सोम शिवतत्त्व है । जब तक यह अग्नि में आहुत होता रहता है, तभी तक सम्भूतिरूप शिवभाव है, तभी तक यज्ञ है । यम वायु के आने ही सोममंतान टूट जाती है, यज्ञ बंद हो जाता है । क्लृप्तप्रणिपं टूट जाती हैं, रम से बल (ग्रन्थिमन्वन्ध की अवेक्षा से) पृथक् होकर अमदम्ब में परिणत हो जाता है । इसी का नाम विनाश है । जिस क्रम से संचर है, उसी क्रम से प्रतिमंचर है । यही कारण है कि सम्भूत आत्मा शरीर छोड़ने ही पहिले मीमा चन्द्रलोक में जाता है, चाहे वह पापात्मा हो, अथवा पुण्यात्मा । चन्द्रमा से दक्षिण-उत्तर भेद से आत्मगति के लिए दो मार्ग विभक्त होते हैं । यज्ञ-तप-दान करने वाले विद्यानिष्ठ पुरुषों का आत्मा चन्द्रमा में पहुँच कर उत्तरमार्ग में जाता है, एवं इष्टा-पूर्त्त-दत्तानुयायियों व। आत्मा चन्द्रमा में जाकर दक्षिणमार्ग में जाता है । शरीर की छाया (तमोभाग), रात्रि, कृष्णपक्ष,

दक्षिणायन यह सब चान्द्रभाग हैं। शरीरज्योति, अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, संवत्सर यह सब सौरभाग हैं। चन्द्रमा में जाने के लिए प्रेतात्मा को १३ मास (चान्द्रमास) लगते हैं। यह आत्मा चिरकाल तक पृथिवी पर रहा है, अनएव इम का चान्द्र आत्मा (महानात्मा) पार्थिव आकर्षण से बद्ध रहता है। शरीरत्यागानन्तर इधर से इसे पृथिवी खींचती है, उधर से चन्द्रमा खींचता है। दुर्भाग्य से यदि (पार्थिवसंपत्ति में अधिक आसक्ति रहने से) पार्थिव आकर्षण प्रबल होता है तो इसे ऊपर (चन्द्रलोक में) जाने में महा कष्ट होता है। यही कष्टावस्था 'अश्रुमुखपिार' नाम से प्रसिद्ध है। इस समय पार्थिव आकर्षण को निर्वल बनाने के लिए चान्द्रबल बढ़ाना अत्यावश्यक है, इस का एक मात्र उपाय है—'पिण्डदाननक्षण आद्र'। प्रेतपिता के श्रद्धामुत्र से युक्त पुत्र द्वारा प्रदत्त सोममय तण्डुलभिण्ड इसे चान्द्रस से युक्त कर सवल बना देने हैं। पिण्डभोग से सवल बनता हुआ प्रेतात्मा बिना कष्ट के स्वलोक में जाने में समर्थ होजाता है। अस्तु आद्रविषय अप्राकृत है, यहां यही कहना है कि जो चन्द्रमा उत्पादक है, वही संहारक है।

प्रकरण के आरम्भ में यह बतलाया गया है कि हमारी प्रथम सम्भूति का कारण चन्द्रमा है, एवं पुनःसम्भूति का कारण चन्द्रप्रत्यंशभूत प्रज्ञान मन है। इन दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष का समाधान हो गया, अब क्रमप्राप्त पुनःसम्भूति के अधिष्ठाता आध्यात्मिक चन्द्रमा का स्वरूप उपस्थित किया जाता है। अध्यात्मसंस्था में दो प्रकार से चान्द्र सोम का भोग होता है। चान्द्रसोम ही पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार 'रेत' बनता है। उस रेत की आहुति से हम उत्पन्न होते हैं, यह पहिला भोग है। हम सायं प्रातः प्रतिदिन जो अन्न खाते हैं, उस में पार्थिव-आन्तरिक्ष-दिव्य तीनों लोकों के रस प्रतिष्ठित हैं। पार्थिव घनरस से अन्न का घन भाग (दाना) बनता है, आन्तरिक्ष तरलरस से अन्न में रहने वाले घृतभाग (चिकनाई-स्नेहन) का उदय होता है। इसी स्नेहरस से चूर्ण (आटे) को गौंदने से एक प्रकार का लुआव आजाता है। दिव्य विरलरस के आगमन से अन्न में मिठास उत्पन्न होता है। यह

१ इन सब विषयों का विराद विवेचन 'आञ्जलिज्ञान' में देखना चाहिए।

मधुभाग सूर्य का रस है। चौथा रस चान्द्रसोम है। इस का दिव्यरस में ही अन्तर्भाव है। मधु और रेत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अन्न में जो एक स्वादविशेष (जायका) होता है, वह यही सोमरस है। विज्ञानभाषा में यही दिव्यरस अमृत नाम से प्रसिद्ध है। कहीं कहीं इसे चौथे लो- का रस भी माना जाता है। पृथिवी-अन्नरित्त-द्यौ-दिक्-यह चार लोक हैं। इन चारों लोकों के कपशः अग्नि-वायु-आदित्य-चन्द्रमा यह चार देवता अधिष्ठाता हैं। अन्न में अग्नि से दधि (घन) रस आता है। वायु से घृत (तरल) रस आता है। आदित्य से मधु (विरल) रस आता है। एवं चन्द्रमा से अमृतरस आता है। भुक्त अन्न में जो पार्थिव दधिभाग (घनभाग) है, वह रस, अमृत, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र इन सात भागों में विभक्त है। शुक्र पर्यन्त पार्थिवरस है। पार्थिव भाग के हट जाने से केवल आन्तरिद्य वायु, एवं दिव्य सौर-चान्द्ररस रह जाते हैं। इन रसों की समष्टि ही 'ओज' है। ओज वायुप्रधान वायव्य धातु है। आगे जाकर आन्तरिद्य रस भी हट जाता है। इसी मधुमय विशुद्ध सोमरस का नाम 'मन' है। इस प्रकार लोकरसों के तारतम्य से एक ही भुक्तान्नरस शुक्र-ओज-मन इन तीन रूपों में परिणत हो जाता है। पार्थिव समवायुरूप शुक्र वाकतत्त्व है, आन्तरिद्य वायुमय ओज प्राणतत्त्व है, दिव्य आदित्यमय चान्द्ररस मनस्तत्त्व है। मन-प्राण-वाक् की समष्टि ही 'हम' (आत्मा) है।

- १-पार्थिवरसः — (पृथिवी — अग्निः — दधि) — सप्तधातवः-शुक्रम-वाक्
 २-आन्तरिद्यतरलरसः (अन्नरित्तम्-वायुः — घृतम्) — ओजः — — — प्राणः
 ३-दिव्यविरलरसः — (द्यौः — — आदित्यः-मधु) } मनः — — — मनः
 ४-दिव्यामृतरसः — (दिगः — चन्द्रमाः-अमृतम्)

—:०:—

शुक्र भी चान्द्र है, मन भी चान्द्र है। शुक्रावृत्ति से हम उत्पन्न होते हैं। इस शुक्र में सजातीय आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार चान्द्ररस आया करता है, साथ ही में अन्नद्वारा भी

चान्द्रस आया करता है । जो चान्द्रस स्वतन्त्ररूप से शुक्र में आता है वह—‘सहांसि’ नाम से प्रसिद्ध है । नक्षत्र सम्बन्ध से शुक्रप्रतिष्ठ चान्द्र सशोभाग २८ भागों में विभक्त होजाते हैं । यही आध्यात्मिक संतानप्रवर्त्तक पित्र हैं । इन का मन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । एवं अन्नद्वारा जो चान्द्रस हमारेमें आता है, वही पूर्वोक्त विशकलन प्रक्रिया के अन्तर्प्रार ‘मन’ बनता है—‘अन्नमयं हि सौम्य मनः’ । ‘षोडशकनो वै चन्द्रमाः’ (पड़विश ब्रा० ४।६।) के अनुसार चन्द्रमा षोडशकल है । एक एक चान्द्र संवत्सर में एक एक मनःकला का विकास होता है । इस क्रम से मन की सर्वात्मकता में आयु के १६ वर्ष लग जाते हैं । मन-स्विता १६ वें वर्ष में संपन्न होती है । यही चान्द्रसोम का दूसरा भोग है । हमारा मन साक्षात् आध्यात्मिक चन्द्रमा है, यह अन्न द्वारा संपन्न हुआ है, अन्नद्वारा ही अव्यात्मसंस्था में स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है । मन का उपादान चन्द्रमा है, हमारा मन चन्द्रमा में प्रतिष्ठित है, इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

१—“तद्यत्तन्मनश्चन्द्रमाः सः” (जै० उ० १।२८।५) ।

२—“मनश्चन्द्रमाः” (जै० उ० ३।२।६) ।

३—“चन्द्रमा मे मनसि श्रितः” (तै० ब्रा० ३।१०।८।५) ।

४—“यत्तन्मन एष स चन्द्रमाः” (शत० १०।३।३।७) ।

चन्द्रमा से (अन्नद्वारा) उत्पन्न मन में स्नेहतत्त्वप्रधान वही श्रद्धारस प्रतिष्ठित है । इसी श्रद्धारूप स्नेह के कारण हमारा मन विषयों में आसक्त होना हुआ उनके साथ बद्ध होजाता है, जैसा कि पूर्व के विज्ञानात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है । वही विषयसंस्कार-पुञ्ज ‘वासना’ है । यही वासनापुञ्ज हमें आगे जन्म लेने के लिए बाध्य करता है । जब तक संस्काररूप अविद्याशुक्र मन पर प्रतिष्ठित रहता है, तब तक प्राणी अवश्य ही पुनः-सम्भूति के चक्र में फंसा रहता है । कामनामय अविद्यावच्छिन्न मन ही आगे के जन्मों के लिए शुक्र (उपादानकारण) बनता है, अतएव पूर्व के महदात्माधिकरण में काम-अविद्या को शुक्र बतलाया गया है । प्रणिविमोक विनाश है, प्रणिवन्धन सम्भूति है । आत्मा के प्रणिवन्धन

का कारण (वासनामय) मन ही है, एवं बंधनमुक्ति का कारण भी (वासनाशून्य) मन ही है । पुनःसम्भूति एवं विनाश दोनों का कारण यही मन है । जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परंतप ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः ॥

शुक्र हमारा वास्तविक रेत (उपादान) नहीं है, अपितु सम्भूति का प्रधान रेत तो काम-मय हमारा मन ही है । यही पुनःसम्भूति का कारण है । इसी अभिप्राय से उगनिष-च्छ्रुति कहती है—

“मनो मे, रेतो मे, प्रजा मे, पुनःसम्भूतिर्मे तन्मे त्वयि (चन्द्रमसि)” ।

(जै० उ० ३१२७।१४) ।

हमारा चन्द्रमा आध्यात्मिकसंस्था की सम्भूति — विनाश का कारण है, उधर आकाश विहारी ईश्वर का मन आधिदैविक संस्था की सम्भूति-विनाश का कारण है । पूर्व में चन्द्रमा शब्द को सोमपरक मानते हुए हमने सोमदृष्ट्या चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण बतलाया था, आज हम प्रत्यक्ष दृष्ट इसी चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण कह सकते हैं । हिरण्यगर्भ विद्या के अनुसार विश्वेन्द्रस्य मूर्त्ये ही विश्व का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण है । सूर्य से ऊपर के स्वयम्भू-गणेशी दोनों अमृतलोक सूर्य के अमृतभाग से प्रतिष्ठित हैं, एवं मूर्त्ये से नीचे के मर्त्यलोक सूर्य के मर्त्यभाग से स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं । इस प्रकार सूर्य ही व्यक्तविश्व का मूलस्कम्भ (स्तम्भ) बन रहा है । इस सूर्य को जीवित रखने वाला है, यही प्रत्यक्ष दृष्ट चन्द्रमा । सूर्ये स्वरश्मियों से पार्थिव रसों का निरन्तर आदान करता रहता है । इसी आदान से सूर्यप्रजापति का विलसत भाग पूरा होता रहता है । इस कमी को पूरा करना चान्द्रनाडी पर निर्भर है । भूषिण्ड से संलग्न चान्द्रनाडी द्वारा ही पार्थिव रस सूर्य में आहुत होते रहते हैं । जब तक चन्द्रमा है, तब तक चान्द्रनाडी है, जब तक चान्द्रनाडी है, तभी तक सौरयज्ञस्थिति है, जब तक यज्ञ है तभी तक सूर्य जीवित है, जब तक सूर्य

जीवित है, तभी तक अमृतमृत्युमय विश्व की सम्भूति है । इस प्रकार परम्परया इस सम्भूति का श्रेय एकमात्र चन्द्रमा को ही है ।

अध्यात्मजगत को देखिए ! हम उत्पन्न हुए हैं, चन्द्रमा से । हमारी पुनःसम्भूति होती है चन्द्रमा (मन) से । एवं अपनी आयु के भोगकाल में हम जो कुछ सम्भूति (वैभव) प्राप्त करते हैं, वह भी इसी चन्द्रमा (मन) से । यदि मन नहीं हो तो हमारे विज्ञान(बुद्धि), महान्, अव्यक्तादि कुछ नहीं कर सकते । मन पर ही विज्ञान प्रतिष्ठित है । मन धीध्र पात्र है । इसी पर विज्ञानसूर्य प्रतिबिम्बित होता है । विज्ञानात्माधिकरण में बतलाई गई प्रक्रिया के अनुसार विज्ञानसूर्य के दर्शपूर्णमास से ही महान् में त्रैगुण्यभाव का उदय होता है । त्रैगुण्य महान् ही चिदात्मा की योनि है । यदि मन नहीं तो विज्ञान नहीं, विज्ञान नहीं तो त्रिगुणभावापन्न महान् नहीं, महान् नहीं तो चिदाभास नहीं, चिदाभास नहीं तो कुछ नहीं । यह तो हुई मन से उधर (आभ्यन्तर) की स्थिति, अब चलिए इधर की ओर । 'स उ देवो युनक्ति' (केनोपनिषत्) के अनुसार सारी इन्द्रिय मन से युक्त होकर ही तत्तद्विषयभोग में समर्प होती हैं ! विषयज्ञान में प्रज्ञामात्रा-प्राणमात्रा-भूतमात्रा यह त्रिपुटी रहती है । मन में सोम-चित्-प्राण यह तीन कलाएं हैं । इन में चिदंश से प्रज्ञामात्रा पर, सोमांश से भूतमात्रा पर, एवं प्राणांश से प्राणमात्रा पर मन का अनुग्रह होता है । 'न हि प्रज्ञापेना काचन धीः सिध्येत्, नाप्राज्ञासिषम्, अन्यत्र म मनोऽभूत्' (कौ० उ० ३ अ० ८ ख०) के अनुसार बिना मन के इन्द्रिय विषयभोग में एकान्ततः असमर्थ हैं । बिना विषयान्न के शरीर नहीं, शरीर नहीं तो कुछ नहीं ।

इस चान्द्रमन को 'प्रज्ञान' नाम से व्यवहृत किया जाता है । हमारी अध्यात्मसंस्था में तीन प्रकार का मनोराज्य है । पञ्चकल अव्यय वाला मन सर्वालम्बन है । यह जड़-चेतन सब में समानरूप से विद्यमान है । इसी चिन्मन की अपेक्षा से भारतीय आर्यसाहित्य का सर्वव्यापक चैतन्यवाद प्रतिष्ठित है । इस अव्यय मन को 'श्रोत्रसीयसमन' 'श्रोत्रस्यसब्रह्म' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । दूसरा है चान्द्रमन । 'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्' इन्द्रिय

का यह लक्षण है । सभी इन्द्रिं अपने अपने रूप-रस-गंधादि नियत विषयों को ही भोगने में समर्थ हैं । यही इन्द्रियो का इन्द्रियत्व है । भोग ज्ञानसापेक्ष है । अवश्य ही सब इन्द्रियों के मूल में एक ऐसा ज्ञानयन्त्र मानना पड़ता है कि जिसकी ज्ञान रश्मियों को लेकर इन्द्रिं स्वरूप विषयभोग में समर्थ बनती हैं । उसी ज्ञानयन्त्र का नाम प्रज्ञान मन है । यह सब इन्द्रियों का प्रभु है । बिना इस का सहारा लिए कोई भी इन्द्रिय अपना काम नहीं कर सकती । चूंकि यह सब इन्द्रियों में अनुपयुक्त रहता है, अतएव हम इसे 'सर्वेन्द्रियमन' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं । इस का विषय नियत नहीं है, यह सब में है, अतएव नियतविषय लक्षण इन्द्रिय मर्यादा से पृथक् रहता हुआ यही 'अनिन्द्रियमन' नाम से भी प्रसिद्ध है । इस का सोम भाग चिदंश से युक्त रहता है, अतएव इसे 'प्रज्ञानमन' कहना भी न्यायप्राप्त होता है । एक तीसरा मन और है । उसका काम है—अच्छे बुरे का अनुभव करना । अनुकूल वेदना, प्रतिकूल वेदना इस का नियत विषय है, अतएव यह तीसरा मन इन्द्रियकोटि में प्रविष्ट होता हुआ 'इन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध है । इसी के लिए 'मनः पृष्ठाणीन्द्रियाणि' (अथर्व) यह कहा जाता है । अस्तु इन सब विषयों का विशद निरूपण प्रज्ञान निरूपणात्मिका आगे की केनोपनिषत् में होने वाला है । अतः हम विषय को अधिक विस्तृत न कर केवल यही कहना चाहते हैं कि प्राणोन्द्र-प्रज्ञा-सोम की समष्टिरूप यह सर्वेन्द्रिय, अतएव अनिन्द्रिय, प्रज्ञानब्रह्म नाम से प्रसिद्ध अन्नमय मन ही अव्यक्त-महत्-विज्ञान-शरीर-इन्द्रिं-शरीरदेवता-भूत-शरीरलोक आदि सब की सम्भूति का कारण है । प्रज्ञानब्रह्म की इसी सर्वता का निरूपण करते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा ? इति । येन वा पश्यति, यन वा शृणोति, येन वा गन्थानाजिघ्राति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादुं वा स्वादुं च विजानाति, यदैतत्-हृदयं, मनश्च (इन्द्रियमनश्च), एतत् स-ज्ञानमाज्ञानं, विज्ञानं, प्रज्ञानं, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जृतिः, सकल्पः, क्रतु, रसुः कामो, वश इति । सर्वाश्चेवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ।

एष ब्रह्म, एष इन्द्र, एष प्रजापति, ऐते सर्वे देवा, इमानि च पञ्चमहाभूतानि
पृथिवी-वायु-राकाश-आपो-ज्योतीर्णीषीत्यतानि, इमानि च क्षुद्रमिश्राणीव वी-
जानीतराणि, चेताराणि चाण्डजानि च, जारुजानि च ध्वेदजानि च, उद्भि-
जानि च, अश्वा, गावः, पुरुषा, दस्तिनो, यत्किंचिदेदं प्राणि. जङ्गमच पतन्निच,
यच्च स्थावरं, तत् प्रज्ञानेत्रं, प्रज्ञाने परिष्ठितम् । प्रज्ञानेत्रो लोकः । प्रज्ञा
प्रतिष्ठा । स एतेन प्राज्ञेनात्मनाऽऽस्मात्लोकोदुत्क्रम्य अमुष्मिन्स्वर्गे लोके
सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्, समभवत्” ॥

(ऐतरेय आरण्यक २।६।१)।

संभूति-एवं विनाश का क्या स्वरूप है ! अधिदैवत, एवं अध्यात्म में चऽऽमा और मन
ही सम्भूति-विनाश के अधिष्ठाता कैसे है ! इत्यादि बहिरंग प्रश्नों का समाधान हो चुका । अब
मूलग्रन्थ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

उपनिषत् में प्रकृत अधिकरण के तीन मन्त्रों का ‘अन्धं तमः प्रविशन्ति’ ‘अन्यदेवाहुः
सम्भवात्’ ‘सम्भूतिं च विनाशं च’ यह क्रम उपलब्ध होता है, परन्तु विज्ञानदृष्टि से पूर्व के
विज्ञानात्माधिकरण की तरह यहां भी ‘अन्यदेवाहुः सम्भवात्’ ‘अन्धं तमः प्रविशन्ति’
‘सम्भूतिं च विनाशं च’ यही क्रम समझना चाहिए । ‘अन्यदेवाहुः’ यह प्रथम मन्त्र प्रज्ञा-
नात्मा का स्वरूप बतलाना है, ‘अन्धं तमः प्रविशन्ति’ यह मन्त्र प्रतिपादित आत्मस्वरूप से
विरुद्ध ज्ञान वालों की अधोगति बतलाता है, एवं ‘सम्भूतिं च विनाशं च’ इत्यादि मन्त्र प्रति-
पादित आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करता है । इस क्रम को प्रधान मानते हुए, सम्भूति-विना-
शात्मक प्रज्ञानात्मा का निरूपण करते हुए निम्नलिखित प्रथम मन्त्र हमारे सामने आता है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुःसम्भवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिते ॥१॥

(ई० उ० १३ मं०) ।

“विद्वान् लोग उस (प्रज्ञानात्मतत्त्व) को सम्भव से भी पृथक् कहते हैं, असंभव से भी पृथक् कहते हैं। जिन वैज्ञानिकों ने हमारे लिए आत्मस्वरूप बतलाया है, उन धीरे विद्वानों के द्वारा हम यही सुनते आए हैं—(कि वह आत्मतत्त्व सम्भूति और असम्भूति दोनों से पृथक् है)” यह है मन्त्र का अन्तरार्थ। सम्भूति अस्तित्व है, असम्भूति नास्तित्व है। सत्तारस से अनुगृहीत पदार्थ सम्भूति है, सत्तारस से वियुक्त पदार्थ असम्भूति है। उत्पत्ति और विनाश दोनों भाव प्रत्यक्ष दृष्ट हैं। यह उत्पत्तिरूपा सम्भूति, विनाशरूपा असम्भूति आत्मा के धर्म नहीं हैं। प्रज्ञानात्मा में जो आत्म अंश (चिदंश) है, न वह उत्पन्न होता, न उस का कभी विनाश होता। बलों की ही रसरूप आत्मा के अनुग्रह से सम्भूति होती है, रसपरित्यागवस्थाकस्या में बलों की ही असम्भूति होती है। सम्भूति-असम्भूति दोनों बल के धर्म हैं। वह इन दोनों का आलम्बन बनता हुआ दोनों से पृथक् है। सम्भूति और असम्भूति जिसके आधार पर होती है, उसे आत्मा (प्रज्ञानात्मा) समझना चाहिए।

अपि च रस-बलसमष्टिरूप वह आत्मा न केवल सम्भूति का अधिष्ठाता है, न केवल असम्भूति का अधिष्ठाता है। अपितु दोनों उसी के विवर्त हैं। वह असम्भूतिरूप है, इसलिए तो उसे सम्भूति नहीं कहा जा सकता। सम्भूतिरूप है, अतः उसे असम्भूति भी नहीं कहा जा सकता। सम्भूति एवं असम्भूति का परस्पर में विरोध है, अतः उसे उभयात्मक भी नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में यदि उसके सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है तो यही कि वह सम्भूति-असम्भूति दोनों से पृथक् है।

अपि च आत्मा का रसभाग सम्भूति का अधिष्ठाता है, बलभाग असम्भूति का अधिष्ठाता है। वह न शुद्ध रसरूप है, न शुद्ध बलरूप ही है। उस का स्वरूप दोनों से विलक्षण है। अर्थात् दोनों की समष्टि आत्मा है। ‘सतो बन्धुमसति निरवन्दिनः’ ‘अन्तरं मृत्पूरमृतं मृत्वावमृतमाहितम्’ अमृतं चैव मृत्युश्च सदसञ्चाहमर्जुन’ ‘नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्’ इत्यादि श्रौत-स्मार्त वचनों के अनुसार लोकदृष्ट संभव एवं असंभव दोनों से अन्यत् होता हुआ वह दोनों की समष्टि ही है। ऐसी अवस्था में —

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां स्ताः ॥२॥

(ई० उ० १२ मं.) ।

जो व्यक्ति केवल असंभूति की उपासना करते हैं, वह घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, एवं इनसे भी अधिक वे मनुष्य अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, जो केवल सम्भूति में ही रत हैं । अर्थात् जो चार्वाकादि केवल ज्ञानिक बल को ही प्रधान मानते हुए संसार को शून्यं शून्यं समझते हैं, वे तो शून्यरूप अंधकार में हैं ही, परन्तु आस्तिक बनने का गर्व करने वाले जो महानुभाव ज्ञानिक बल का निरादर कर केवल सांसारिक अस्तिरूप विषयों में ही आसक्त रहते हैं । जो यह नहीं समझते कि जिन की हमने सम्भूति समझ रखी है, कालांतर में उन सब का नाश होने वाला है, ऐसे आसक्त पुरुष और भी अधिक आवरण में हैं ।

अपिच 'समितेकीभावे' के अनुसार सत् का अर्थ है दो वस्तुओं का एकीभाव । प्रकृत में वे दो तत्त्व सुगुणित रस-बल ही हैं । रस से सत्ता, किंवा सत्तत्त्व अभिप्रेत है, बल से असत्तत्त्व अभिप्रेत है । इस असत् बल में जो सत् रस का सम्बन्ध है, वही बल की सम्भूति है, जैसा कि पूर्व में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है । सत्तारस स्वरूप से सर्वथा एक है । असत्त्व-‘मृयोः स मृत्युपाप्नोति य इह नानेव पश्यति’ के अनुसार नाना है । जब तक यह बल सत्तारूप एकरस से पृथक् रहता है, तब तक एकीभाव से शून्य रहता हुआ यह नानाभावापन्न है । यही रस से अनुग्रहीत होकर एकीभाव को प्राप्त होता हुआ सम्भूतिरूप में परिणत हो जाता है । वस-‘रसबलयोः-सदसतोः-एकीभावः’ ही सम्भूति है । सम्भूति सत्तास है, शुद्ध बल असम्भूति है । बल आवरण स्वरूप होने से ‘तम’ है । ऐसी अवस्था में जो असम्भूतिरूप केवल इस बल भाग की ही उपासना करते हैं, वे सचमुच आवरणरूप अन्धतम में प्रविष्ट रहते हैं । बल असत् (नास्ति) भाव है, नास्ति शून्यभाव है, शून्यभाव अन्धकार है । ‘अममेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चतु’ के अनुसार केवल असत् के

उपासक स्वयं असत् बन जाते हैं। परन्तु वे और भी अधिक गहरे अंधकार में हैं, जो कि केवल रसरूप सम्भूति की ही उपासना करते हैं। रस बलक्षण है। बिना बल के विशुद्ध रसतत्त्व—

आसीदिदं तपोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।

अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रमुसमिव सर्वतः ॥

के अनुसार सर्वथा अप्रज्ञात-अलक्षण-अप्रतर्क्य-अनिर्देश्य-प्रमुस तम है। जब तक बल का आश्रय नहीं लिया जाता, तब तक स्वस्वरूप से रस अनुपाक्यतम है। यह तम बलतम से भी गहरा है। बल संसार का स्वरूप है, अतः इस की उपासना करने वाला, आवरणरूपा सांसारिक संपत्ति तो प्राप्त करलेता है। परन्तु विशुद्ध रसरूप सम्भूति का अनुयायी न इधर का रहता, न उधर का। यही इस का भूयान्वेष्टक है। एभी अवस्था में क्या करना चाहिए? सुनिष्ट—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥३॥

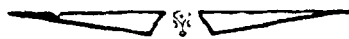
(ई० उ० १४ मं०) ।

जो धीर विद्वान् सम्भूति और विनाश दोनों को एक बिन्दु पर प्रतिष्ठित देखता है, वह विनाश से मृत्यु का तरण कर सम्भूति से अमृतत्व प्राप्त करने में समर्थ होजाता है। मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। मृत्यु ही अमृतप्राप्ति का साधन है। अतः दोनों के समुच्चितरूप की ही उपासना करनी चाहिए। निष्कामभाव से मृत्युलक्षण संसार की उपासना करते हुए अमृत पर दृष्टि रखिए! यही आदेश है, यही उपदेश है, यही संपन्न है, यही ब्राह्मी उपनिषत् है।

उपनिषत् का प्रधान लक्ष्य आत्मा है। अत एव प्रत्येक प्रकरण में अन्तिम लक्ष्य असूतमृत्युसंज्ञा आत्मा ही बन जाता है। आत्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए आत्मसृष्टि का स्वरूप

जानना भी आवश्यक होजाता है। अतएव अगत्या उपनिषत् को इस का भी स्वरूप बतलाना पड़ता है। यही कारण है कि उपनिषत् आत्मा-एवं आत्मसृष्टि दोनों के किसी विशेषभाव का निरूपण न कर सामान्य शब्दों का उपयोग करती है। उपनिषत् ऐसे अक्षर बोलती है, जिन से आत्मा-एवं आत्मसृष्टि दोनों का स्वरूप गतार्थ होजाता है। अतएव प्रकृत के तीनों मन्त्रों में जहाँ रसबलात्मक आत्मा का परिज्ञान होता है, एवमेव सम्भूति-विनाशमयी यज्ञरूपा चान्द्रसृष्टि का भी परिज्ञान होजाता है। न केवल अधिदैवतचरित्र का ही, किन्तु अध्यात्मस्थिति का भी उन्ही अक्षरों से स्पष्टीकरण होजाता है। ईश्वरीय जगत् की अपेक्षा से प्रकृत प्रकरण से ब्रह्मसत्तात्वरूप अभ्रमय सम्भूति-विनाश के कारणभूत 'चन्द्रमा' का स्वरूपज्ञान होता है। एवं अध्यात्मजगत् की अपेक्षा से मनुष्य की पुनःसम्भूति के अधिष्ठाता प्रज्ञानात्मा का स्वरूप परिचय होजाता है। साथ ही में दोनों विश्वों के आलम्बनभूत सदसदात्म सम्भूति-विनाशरूप अमृतमृत्युमय आत्मा का बोध होजाता है। इसी सारे प्रज्ञानवैभव का प्रतिपादन करता हुआ प्रज्ञानात्माधिकरण समाप्त होना है।

इति प्रज्ञानात्माधिकरणम् ।



प्राकृतात्माधिकरणे—
प्रज्ञानात्माधिकरणं
समाप्तम्

४

— ४०५ —

पूर्णमदः → → → पूर्णमिदम्
 साक्षी-देवसत्यः → → → प्राणवैभव भोक्ता-देवसत्यः
 अधिदेवतम् → → → अध्यात्मम्

देवसत्याक्षरः—

ज्ञान-क्रिया-अर्थमयः-वैकृतात्मा साक्षी
 प्राणात्मा

५

साक्षीदेवसत्यः ← — ← — अमृतान्नादः ← — ← — भोक्तादेवसत्यः

(प्राकृतात्माधिकरणे प्राणात्माधिकरणं पञ्चमम्)

यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्नः—ज्ञान-क्रिया-अर्थमयात्मा

भूतात्मा

- १— हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं सुखम् ।
तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥
- २— पूषन्नेकषे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् ।
समूह तेजो, यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥
योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि ॥
- ३— वायुरानिलममृतम् ।
..... ॥



देवसत्यात्मस्वरूपनिदर्शन

१- अग्निर्यैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

२- वायुर्यैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

३- सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चतुर्न लिप्यते चातुर्षैर्वाद्यदोषैः ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाद्यः ॥

४- एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपरयन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

(कठोपनिषत् २ अ० ५ व० ६-१०-११-१२ मं०) ।

५- अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।

ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् । (कठ० २-४-१२) ।

६- अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।

तं स्वाच्छरीरात् प्रवृत्तेन मुञ्जादिवेष्टीकां धैर्येण ॥ (कठ० २।६।१७) ।

७- द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृत्तं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ (मुण्डक० ३।१।१) ।

८- समाने वृत्ते पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ (मुण्डक० ३।१।२) ।

- ६- यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ मुण्डक ३।१।३)
- १०- प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ (मु० ३।१।४) ।
- ११- युञ्जानः प्रथमं मनस्तच्चाय सविता धियः ।
अग्नेज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ (श्वे० २।१) ।
- १२- सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठदशाङ्गुलम् ॥ (श्वे० ३।१।४) ।



॥ श्रीः ॥

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।

य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ १ ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्रागुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ॥ २ ॥

अचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निपेदुः ।

यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत ॥ ३ ॥

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।

स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिबर्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ४ ॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पादंकार समन्वितो यः ।

बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ५ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ६ ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ७ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेऽयाहुर्मनीषिणः ॥ ८ ॥

—:०:—



ह्यसत्य से सन्बन्ध रखने वाले स्वयम्भू, परमेष्ठी सूर्य, चन्द्रमा, इन चार आधिदैविक सत्यात्माओं का, एवं इन्हीं के अंशभूत अव्यक्त, महान्, विज्ञान्, प्रज्ञान् इन चार आध्यात्मिक सत्यात्माओं का पूर्व के—
१-अव्यक्तात्माधिकरण, २-महदात्माधिकरण, ३-विज्ञानात्माधिकरण, ४-प्रज्ञानात्माधिकरण इन चार अधिकरणों में निरूपण किया जा चुका है । हमारी स्थिति के अनुसार स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह क्रम

है। यह पांचो पिण्ड क्रमशः प्राणब्रह्म, आपोब्रह्म, वाग्ब्रह्म, अन्नब्रह्म, अन्नाद्ब्रह्म इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन पांचों में आत्मा-पद-पुनःपद यह तीन तीन पर्व हैं। अतएव पांचो पिण्ड सहृदय-सशरीरी बनते हुए 'सत्य' हैं। इसी आधार पर इन पांचों ब्रह्मों को हमने 'सर्वात्मा' 'ब्रह्मसत्यात्मा' 'ब्रह्मसत्यात्मा' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया है। अब तक चार ब्रह्मसत्त्यों का निरूपण हुआ है। पृथिवी नाम का पांचवां ब्रह्मसत्य शेष रहा है। उचित यह था कि चान्द्रब्रह्मसत्य के अनन्तर ही उपनिषद् पांचवें पार्थिव ब्रह्मसत्य का निरूपण करती। परन्तु ऐसा न कर पार्थिव ब्रह्मसत्य से पहिले, एवं चान्द्रब्रह्मसत्य के अनन्तर श्रुतिने पार्थिव देव-सत्यात्मा का ही निरूपण किया है।

ब्रह्मसत्यरूप पृथिवी के भूत-प्राण मेद से दो विवर्त हैं। इन दोनों में भूतप्रधाना पृथिवी (भूपिण्ड) ब्रह्मसत्य है। ब्रह्मसत्यात्मक इस भूपिण्ड पर प्राणप्रधाना पृथिवी (महिमापृथिवी) प्रतिष्ठित है। इसी प्राणमयी पृथिवी के साथ देवसत्यात्मा का सम्बन्ध है। देवसत्यप्रतिष्ठाप्यो प्राणपृथिवी देवरूपा है। यह ब्रह्मसत्यरूप चन्द्रमा, एवं ब्रह्मसत्यरूप भूपिण्ड दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। इसी प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य में रखकर उपनिषद् ने चान्द्रब्रह्मसत्य निरूपण के अनन्तर ही प्राणपृथिवी पर प्रतिष्ठित देवसत्यात्मा का निरूपण किया है। इस के अनन्तर बाकी बचे हुए भूपिण्डात्मक पांचवें ब्रह्मसत्यात्मा का निरूपण होगा।

औपनिषद् ज्ञान के लिए जैसे शोडशी प्रजापति का स्वरूप जानना आवश्यक है, एवमेव बिना ब्रह्मसत्य-देवसत्य के स्वरूपज्ञान के भी उपनिषदर्थ का समन्वय करना कठिन है। आगे आने वाली कठोपनिषत् में इस कठिनता का विस्तार के साथ निराकरण किया गया है। अतः प्रकृत में प्रकरणसङ्गति के लिए दो चार शब्दों में इन दोनों का परिचयमात्र करा दिया जाता है। ब्रह्मसत्य—देवसत्य के परिज्ञान के लिए निम्न लिखित श्रौतवचन पर दृष्टि डालिए—

द्वौ सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पनं स्वादति, अन्नश्चन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

(मुण्डको० ३।१।१) ।

“एक वृक्ष की एक शाखा के अग्रभाग पर दो सुनहरी रंग के पक्षी बैठे हैं । दोनों सयुक् (जोड़ने) हैं । दोनों में घनिष्ठ मित्रता है । इन दोनों में से एक पक्षी फल को चब रहा है, दूसरा पक्षी बिना खाए उस खाने जाने की चौकसी कर रहा है ।” यह है मन्त्र का फलितार्थ ।

यत्र वृक्ष वही आप का सुपरिचित महामायावच्छिन्न ब्रह्म-ब्रह्म-शुक्लमूर्ति महेश्वररूप ‘अश्वत्थवृक्ष’ है । इस अश्वत्थवृक्ष में सहस्रवन्शा (एक हजार टहनिएं) हैं । प्रत्येक टहननी में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह पांच पर्व (ग्रन्थिएं) हैं , यही सहस्रवन्श ब्रह्माश्वत्थ है । पक्षी वृक्षपर नहीं बैठता, वृक्ष की टहननी पर बैठता है । टहननी के भी ओर किसी भाग में न बैठकर टहननी के आगे के छोर पर बैठता है । यही परिस्थिति यहां समझिए । अश्वत्थवृक्ष की एक टहननी में स्वयम्भू मूलभाग है, सूर्य मध्यभाग है, पृथिवी सबसे अन्त का भाग है । इसी पर दोनों पक्षी बैठे हुए हैं । इन दोनों में एक पक्षी फल खाता हुआ ‘भोक्ता’ बन रहा है । इसी को कठोपनिषत् ने ‘मध्वद्’ नाम से व्यवहृत किया है । दूसरा फल न खाता हुआ ‘साक्षी’ बन रहा है । भोक्ता एवं साक्षी दोनों पक्षियों का स्वरूप देव-ताओं से सग्न होता है, अतएव यह दोनों ‘देवसत्य’ नाम से प्रसिद्ध हैं ।

जीवात्मा-और परमात्मा का युग्म माना जाता है । परमात्मा ईश्वर है, जीवात्मा जीव है । जीव और ईश्वर केवल देवसत्य का नाम है । स्वयम्भू आदि उपेश्वर हैं, अश्वत्थ महेश्वर है, परात्पर परमेश्वर है । स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-भूषिण्ड यह ईश्वर के उपकरण हैं,

* इस अनुगम मन्त्र के ६ अर्थ होते हैं । इन ६ अर्थों का हिरण्यगर्भनिद्याप्रतिपादक मुण्डकोपनिषत् में विस्तार से निरूपण हुआ है ।

अव्यक्त—महान्—विज्ञान—प्रज्ञान—शरीर यह जीव के उपकरण हैं । कर्म भोगने वाला, योन्यन्तर में जन्म लेने वाला जीवात्मा केवल भोक्ता देवसत्य है । महान्—विज्ञान अव्यक्तादि का कर्मभोग से कोई सम्बन्ध नहीं है । इस आत्मपृथक्करण से ही आत्मविषयक सन्देह निवृत्त होते हैं। 'जब जीवात्मा कर्म भोगने के लिए लोकान्तर में, किंवा योन्यन्तर में चला गया तो फिर श्राद्ध किसके लिए किया जाता है ? जब आत्मा अजन्मा है तो उस की उत्पत्ति कैसे बतलाई जाती है ? ऐसे ऐसे प्रश्नों का उस समय कोई मूल्य नहीं रहता, जब कि सर्वथा विभक्त आत्मसंस्थाओं का स्वरूपज्ञान होजाता है । श्राद्ध महानात्मा के लिए ही किया जाता है । कर्मभोक्ता उक्त देवसत्य ही है । षोडशी पुरुष सर्वथा अजन्मा ही है । अस्तु आगे आने वाली उपनिषदों में इन सब विषयों का स्पष्टीकरण होता रहेगा । प्रकृत में केवल ईश्वर और जीव का स्वरूप ही विजिज्ञेय है ।

पञ्चब्रह्मों में सबसे अन्त का ब्रह्म 'अन्नम्' है । अन्नितत्त्व को ही अन्नाद कहा जाता है । 'अग्निः सर्वा देवताः' 'अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्' के अनुसार अन्नाद अग्नि ही २३ देवताओं की मूलप्रतिष्ठा है । अतएव सब देवताओं के लिए अग्नि में ही आहुति दी जाती है । अग्नि ही देवताओं का मुख है । 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' इस निगम के अनुसार यह प्रजापति अग्नि अमृत—मृत्यु भेद से दो भागों में विभक्त है । अमृताग्नि प्राणाग्नि नाम से, मर्त्याग्नि भूताग्नि नाम से प्रसिद्ध है । यज्ञपरिभाषानुसार अमृताग्नि को 'चित्तेनिधेयाग्नि' एवं मर्त्याग्नि को 'चित्ताग्नि' कहा जाता है । भूतरूप मर्त्याग्नि से भूपिण्ड का निर्माण हुआ है । आप—फेन—मृत्—सिकता—शर्करा—अशमा—अय—हिरण्य इन आठ चित्तियों में परिणत होकर वह मर्त्याग्नि भूपिण्डरूप में परिणत हुआ है, अतएव इसे 'चित्ताग्नि' कहना न्याय संगत होता है । दूसरा अमृताग्नि, किंवा प्राणाग्नि भूकेन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ, अर्क—(रश्मि)—रूप से भूपिण्ड से बाहर निकल कर अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है । जहांतक यह अमृताग्नि व्याप्त रहता है, वहांतक का अमृताग्नि-मण्डल 'महिमापृथिवी' नाम से प्रसिद्ध है । चयनाग्निपरिभाषा के अनुसार चित्ताग्निमय भूपिण्ड 'कृष्णाग्नि' कह-

जाता है, एवं चित्तेनिधेयान्निमय भूमण्डल 'पुष्करपर्णी' नाम से प्रसिद्ध है। इस पुष्करपर्णीरूप महिमामण्डल में व्याप्त रहने वाले अग्नि की क्रमशः घन-तरल-विरल-यह तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। एक ही अग्नि की यह तीनों अवस्थाएं क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य नान से प्रसिद्ध हैं। भूपृष्ठ के मण्डल की सीमा तक व्याप्त रहने वाले प्राणाग्नि के तीन विभाग कर डालिए। इन तीनों में भी अवस्थातारतम्य मानना पड़ेगा। घनाग्नि की घनावस्था के तारतम्य से आठ अवयव माने जाते हैं, अग्नि के यही आठ अवयव आठ वसु हैं। मध्य के तरलस्तर की (तरलता के तारतम्य से) ११ अवस्थाएं हैं, यही ११ रुद्र हैं। अन्त के विरलस्तर की (विरलता के तारतम्य से) १२ अवस्थाएं हैं, यही १२ आदित्य हैं। इन तीन अवस्थाओं में दो सान्ध्य प्राणों का उदय होता है। इस प्रकार अग्निज्येष्ठ आठ वसु, वायुज्येष्ठ ११ रुद्र, इन्द्रज्येष्ठ १२ आदित्य, २ सान्ध्यप्राण, संभूय ३३ देवता हो जाते हैं। एक ही अग्नि पहिले अग्नि-वायु-आदित्यरूप से तीन रूप धारण करता है, वही अवान्तर अवस्थाओं से आगे जाकर ३३ रूप धारण कर लेता है—“अग्निः सर्वा देवताः”।

अदिसां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम्।

आदिशा वसवो रुद्रा अश्विनौ च परंतप ॥ (वा० रा०)।

पृथिवी में वाग्-गौ-घ्नौ यह तीन मनोता हैं। माध्य के प्रथम खण्ड में शुक्रनिरुक्ति में वाक्-आप-अग्नि नाम के तीन शुक्र बतलाए गए हैं—(देखिए ई० वि० १ खं० पृ० ३३७)। स्वा-यम्भुव वाक्स्तर घ्नौ है, पारमेष्ठ्य आपस्तर गौ है, एवं सौर अग्निस्तर वाक् है। यौ-(वाक् शुक्र)-भाग भूपिण्ड के केन्द्र से आरम्भ कर महापृथिवी के ४८ वें स्तोम तक व्याप्त है। गौ-भाग ३३ वें स्तोम तक व्याप्त है, एवं वाक्भाग (अग्निशुक्र) पृथिवी के २१ अर्हण तक व्याप्त है। 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वाग्नेषोपनिषत्' (शत० १०।५।१।१) के अनुसार वाक्स्तर अग्नि है। इस अग्निस्तर की ही अग्नि-वायु-आदित्य यह तीन अवस्थाएं हैं। पृथिवीपृष्ठ से आरम्भ कर ६ वें अर्हण तक (जो कि अर्हणों की समष्टि त्रितृस्तोम नाम से प्रसिद्ध है) घनावस्थापन्न अग्नि प्रतिष्ठित है। यहां से पञ्चदशअर्हण पर्यन्त तरलावस्थापन्न अग्नि (वायु)

प्रतिष्ठित है। एवं यहां से २१ पर्यंत विरल अग्नि (इन्द्र) प्रतिष्ठित है। त्रिवृत्स्तोम इस महिम्न पृथिवी का पृथिवीलोक है, इस का अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) अग्नि है। पञ्चदशस्तोम महिमा पृथिवी का अन्तरिक्षलोक है, इस का अतिष्ठावा वायु है। एकविंशस्तोम महिमापृथिवी का द्युलोक है, इस का अतिष्ठावा इन्द्र है। इस प्रकार केवल महिमा पृथिवी में ही स्तोमभेद से त्रैलोक्यभाव का उदय होजाता है। यही पार्थिवत्रिलोकी 'स्तौम्यत्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव त्रैलोक्य में व्याप्त इन्हीं तीनों अग्नियों के सर्वहुतयज्ञ से वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति ईश्वरीय देवसत्य का जन्म होता है।

पार्थिव त्रिवृदग्नि को आधार बना कर अन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य इन्द्र की आहुति होने से, तीनों के समन्वय से वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है। वैश्वानर अग्नि में यद्यपि त्रैलोक्य का अग्नि है, परन्तु प्रधानता पार्थिव अग्नि की है। अन्तरिक्ष्य वायु में पार्थिव अग्नि, दिव्य इन्द्र की आहुति होने से हिरण्यगर्भ का जन्म होता है। इसमें भी तीनों हैं, परन्तु प्रधानता अन्तरिक्ष्य वायु की ही है। एवं दिव्याग्नि में पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्ष्य वायु की आहुति होने से सर्वज्ञ का जन्म होता है। इसमें भी तीनों अग्नि हैं, परन्तु प्रधानता दिव्य अग्नि की ही है। अग्नि अर्थशक्ति का अधिष्ठाता है, अतः तत्प्रधान वैश्वानर अग्नि अर्थमूर्ति ही है। वायु क्रियाशक्ति का अधिष्ठाता है, अतः तत्प्रधान हिरण्यगर्भ क्रियामूर्ति ही है। एवं इन्द्र ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता है, अतः तत्प्रधान सर्वज्ञ ज्ञानमूर्ति ही है। वैश्वानर अग्नि का प्रभव वायु-इन्द्रगर्भित पार्थिव अग्नि है, प्रतिष्ठा त्रिवृत्स्तोम है, आशय (व्याप्तिस्थान) सारा त्रैलोक्य है। इसी आधार पर-वैश्वानरो यतते 'मूर्येण' (ऋक्० १।७।६), 'आ यो यां भासा-पृथिवीम्' (या.नि.दे.७।२२) इत्यादि कहा जाता है। हिरण्यगर्भ-वायु का प्रभव पार्थिवाग्नि-इन्द्रगर्भित अन्तरिक्ष्य वायु है, प्रतिष्ठा पञ्चदशस्तोम है, आशय सारा त्रैलोक्य है। एवं सर्वज्ञ इन्द्र का प्रभव अग्निवायुगर्भित दिव्य इन्द्र है, प्रतिष्ठा एकविंशस्तोम है, आशय त्रैलोक्य है। यही त्रिदेवसमष्टि स्वज्ञान-क्रिया-अर्थशक्ति से सारे भौतिक विश्व का आत्मा बन रही है। भूतों के अधिष्ठाता होने से ही इस देवसत्य को 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहा जाता है। केनोपः

निषत् में जिन अग्नि-वायु-इन्द्र का त्रैलोक्य में विजय बतलाया गया है, वह यही सर्वभूता-न्तरात्मा है। इस देवसत्य की प्रतिष्ठा ब्रह्मसत्य है, ब्रह्मसत्य की प्रतिष्ठा आत्मसत्य है।

आत्मा के अमृत-ब्रह्म-देव-भूत यह चार विवर्त हैं। षोडशीपुरुष स्वयं अमृतात्मा है। स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि पाँचों पर्व ब्रह्मविवर्त है। अग्नि-वायु-इन्द्र की समष्टि देवविवर्त है, भूतप्रपञ्च प्रसिद्ध है। यही चारों संस्थाएं अध्यात्म में हैं। इन चारों आध्यात्मिक संस्थाओं में से अमृतात्मा असंस्करणीय है। ब्रह्म-देव-भूत तीनों का संस्कार किया जाता है। लौकिक शुद्धिसंस्कार भूतसंस्कार है, १६ स्मार्त्तसंस्कार ब्राह्मसंस्कार है, ३२ श्रौतसंस्कार दैव-संस्कार हैं। इन संस्कारों से ब्रह्म-देव-भूत यह तीनों विवर्त शुद्ध संस्कृत बनकर ब्रह्मविभूति-मय बनजाते हैं। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरपि संस्कृतः ।

निसमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्रह्म लौकिकम् ।

ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः ॥

अध्यात्मसंस्था की उक्त चारों संस्थाओं में अमृतसंस्था के तो वे ही नाम रहते हैं, इतर संस्थाओं के नाम बदल जाते हैं। ईश्वरीय देवसत्य का सर्वज्ञ भाग यहां प्राज्ञ नाम से, हिरण्य-गर्भ भाग तैजस नाम से, वैश्वानर भाग वैश्वानर नाम से ही प्रसिद्ध है। यही भूतात्मा है। इस की प्रतिष्ठा वही सर्वभूतान्तरात्मा है। यह भोक्ता सुपर्ण है, वह साक्षी सुपर्ण है। यह कर्मकर्म्या है, वह कर्मसाक्षी है। दोनों सखा हैं, दोनों सयुक्त हैं। दोनों स्तोम्यत्रिलोकीरूप ब्रह्माश्चत्य की शाखा के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं। दोनों की मूलप्रतिष्ठा भूमिमण्ड है।

सर्वज्ञभाग सहस्रशीर्ष है, हिरण्यगर्भभाग सहस्राक्ष है, वैश्वानरभाग सहस्रपाद है। मूल-मध्य-अन्त भेद से वह त्रिपर्वा है। त्रिपर्वा देवसत्य पादरूप वैश्वानर भाग से भूमिण्ड पर प्रतिष्ठित होरहा है। अध्यात्मसंस्था में जीवरूप से यही दश अंगुल का अतिक्रमण कर (प्रादेशमात्र बनकर) प्रतिष्ठित होरहा है। इसी देवसत्य का सगष्टिरूप से निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

- १-प्रभवः-पार्थिव-दिव्याग्निगर्भित-आन्तरिद्यो वायुः }
 २-२-प्रतिष्ठा-पञ्चदशस्तोमः } हिरण्यगर्भोवायुः-आन्तरिद्यः
 ३-आशयः-स्तौम्यत्रिलोकी } (क्रियाशक्तिपवर्चकः)

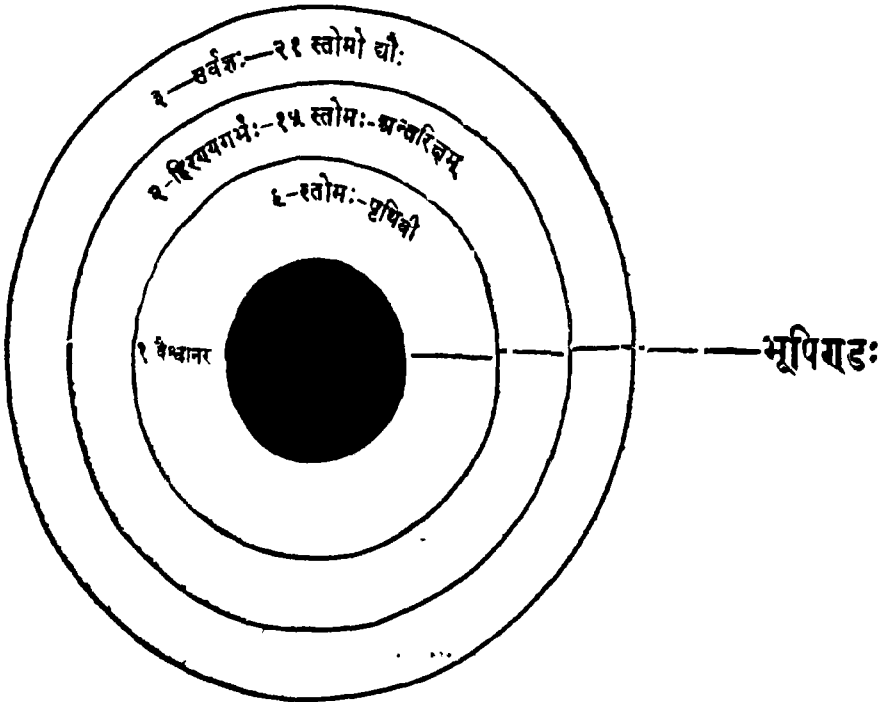
०

—:०:—

- १-प्रभवः-पार्थिव-आन्तरिद्य-अग्निगर्भितोदिव्येन्द्रः }
 ३-२-प्रतिष्ठा-एकविंशस्तोमः } सर्वज्ञ-इन्द्रः-दिव्यः
 ३-आशयः-स्तौम्यत्रिलोकी } (ज्ञानशक्तिपवर्चकः)

—:०:—

एष सर्वभूतान्तरात्मा



अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों ही प्राणात्मक । हैं अतएव प्राणाग्निवयी से संपन्न इस देवसत्य को हम 'प्राणात्मा' कहने के लिए तय्यार हैं । इन्द्रियवर्ग, प्रज्ञानमन, एवं बुद्धि के सहारे स्थूल-शरीररूप रथ में प्रतिष्ठित यह रथी कर्मात्मा इस लोक की यात्रा करता है, एवं आतिवा-हिकशरीररूप (स्थूलशरीररूप) रथ में प्रतिष्ठित होकर परलोक की यात्रा करता है । इस रथी कर्मभोक्ता कर्मात्मा के उस छोर में मन (प्रज्ञान)-बुद्धि (विज्ञान)-महत्-अव्यक्त-षोडशी हैं, इस छोर में शरीर है । विज्ञानात्मा सौर है । महद्गर्भित चिदात्मा के चितभाग का साक्षात् सम्बन्ध चित्तिधर्मावच्छिन्न इसी सौरविज्ञान के साथ होता है । विज्ञान चिदात्मा से साक्षात् सम्बन्ध रखता है, अतएव 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' यह कहा जाता है । अध्यात्म-संस्था में विज्ञानपुरुष ही प्रधान तत्व है । इसी विज्ञानज्योति से प्रज्ञान प्रकाशित है, इसी से देवसत्यरूप का त्वा प्रकाशित है । कर्मात्मा-मन-बुद्धि तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है । बिना मन-बुद्धि के कर्मात्मा कर्मभोग करने में सर्वथा असमर्थ है । अत एव मन बुद्धि को भोगसाधन होने से) भोक्तात्मा में अन्तर्भूत मान लिया जाता है । इसी अभिप्राय से इस कर्मात्मरूप देव-सत्यात्मक भोक्तात्मा का - 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनोषिणः' (कठोपनिषत्) यह लक्षण किया जाता है । प्रज्ञानयुक्त चालुषपुरुषावच्छिन्न (सौरविज्ञानात्मावच्छिन्न) भोक्ता देव-सत्य 'अहम्' है, यही जीवात्मा है । चान्द्रयुक्त सौपुरुषावच्छिन्न साक्षी देवसत्य 'ओम्' है, यही परमात्मा है । सौर एवं विज्ञानावच्छिन्न देवत्रयसमष्टिरूप साक्षी और भोक्ता देवसत्य के लिए ही उपनिषत् ने 'सत्यधर्म' शब्द का प्रयोग किया है ।

अब जरा मन्त्रों की संगति का विचार कीजिए । 'हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्' इत्यादि मन्त्र चालुषपुरुष (विज्ञानात्मा) की उपासना का, दूसरे शब्दों में उसके प्रत्यक्ष करने का उपाय बतलाता है । ऐसी अवस्था में उचित यह था कि विज्ञानात्मप्रतिपादक ६-१०-११ मन्त्रों के अन्त में ही (विज्ञानात्माधिकरण में ही) 'हिरण्यमेन पात्रेण' इत्यादि पढ़ा जाता । परन्तु ऐसा न कर श्रद्धिने सम्भूतिविनाशात्मक प्रज्ञानात्माधिकरण के अन्त में (१४-वें मन्त्र से आगे) इसे पढ़ा है । ऐसा व्यतिक्रम क्यों किया गया ? उत्तर स्पष्ट है । उपनिषदुप-

देश प्रधानरूप से जीवात्माके स्वरूपज्ञान करवाने के लिए प्रवृत्त हुआ है । जीवसंस्था में—
 'स वा एष विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मना संपरिष्वक्तः' के अनुसार विज्ञान प्रज्ञान में ओतप्रोत है, प्रज्ञान विज्ञान में संपरिष्वक्त है । बिना विज्ञान के प्रज्ञान कुछ नहीं कर सकता, साथ ही में विना प्रज्ञान के विज्ञान भी स्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । न केवल जीवसंस्था में ही, अपितु ईश्वरसंस्था में भी यही स्थिति है । चन्द्रमा (सोम) के बिना सूर्य कभी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । सौरपुरुष भारूप है, ज्योतिर्मय है । इसका यह ज्योतिर्भाव चान्द्रसोमाहुति पर निर्भर है । 'त्वं ज्योतिषा यितवो ववर्थ' के अनुसार सोम ने ही सूर्य को ज्योतिर्मय बना रखा है, जैसा कि पूर्व के प्रज्ञानात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है । इसी प्रकार चन्द्रमा सौरप्रकाश से ही चन्द्रिकामय बन रहा है । यही स्थिति अध्यात्म में है । मन पर ही सौरविज्ञानपुरुष प्रतिबिम्बित होता है । यदि मन न हो तो उसी क्षण विज्ञानात्मा उत्क्रान्त होजाय । ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि चान्तुपुरुष का चान्तुपपना प्रज्ञान सम्बन्ध पर ही अवलम्बित है । निष्कैवल्य चान्तुपुरुष की उपासना असंभव है । क्योंकि वह कभी निष्कैवल्य (एकाकी) रहता ही नहीं । इसी सारी परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर ऋषिने विज्ञानात्माधिकरण के अन्त में विज्ञानपुरुष की प्राप्ति के उपायभूत 'हिरण्मयेन०' इत्यादि मन्त्र को न पढ़कर प्रज्ञानात्माधिकरण के अन्त में पढ़ा है । इससे ऋषि को यही सिखाना है कि जिस चान्तुपुरुष की तुम उपासना करने चले हो, वह उपासना बिना प्रज्ञानमन के सहयोग के असंभव है । मनोयोग ही चान्तुपुरुष की उपासना का आधार है ।

“विज्ञानात्मा की उपासना का प्रकार बतलाने वाले 'हिरण्मयेन.' इत्यादि मन्त्र को उसी अधिकरण के अन्त में न पढ़कर प्रज्ञानात्माधिकरण के अन्त में क्यों पढ़ा ? इस प्रश्न का समाधान तो होगया, परन्तु इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न और उपस्थित होता है । प्रकरण विभाग के अनुसार 'हिरण्मयेन०' इत्यादि मन्त्र का हमने प्राणात्माधिकरण नाम से प्रसिद्ध कर्मात्म्यप्रकरण में समावेश माना है । ऐसा क्यों ? पूर्व कथनानुसार तो पूर्व के प्रज्ञानात्माधिकरण में उक्त मन्त्र का समावेश होना चाहिए था ? इस प्रश्न का उत्तर उपासक कर्मात्मा

ही है । विज्ञानात्मा उपास्य है, प्रज्ञाना मा उपासना का साधन है, कर्मा मा उपासक है । उपासक कर्मात्मा ही मनोयोग (प्रज्ञानयोग) द्वारा उस विज्ञान पुरुष की उपासना करता है । ऐसी अवस्था में उपासक कर्मात्मा के साथ उस उपास्य विज्ञानात्मा का सम्बन्ध बतलाना आवश्यक है । इसी सम्बन्ध परिज्ञान के लिए उपासनाप्रकारप्रतिपादक 'हिरण्यमेन०' इत्यादि मन्त्र का कर्मात्माधिकरण के अन्त में समावेश करना उचित होता है ।

अपि च जबतक कर्मात्मा शरीर में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक अन्य आत्मसंस्थाएं प्रतिष्ठित रहती हैं । जीवसंस्था में प्रधानता कर्मात्मा की ही है । कर्मात्म (भोक्तात्म)-प्रतिपादक कठोपनिषत् में यह विस्तार से बतलाया जानें वाला है कि वस्तुतः जीवात्मा देवसत्यरूप कर्मात्मा का ही नाम नहीं है, अपितु कर्मात्मापरपर्यायक इस भोक्तात्मा का भोक्ता पना "आत्मोन्द्रियमनोयुक्तं भोक्त्याहुर्मनीषिणः" के अनुसार बुद्धिरूप चाक्षुषपुरुष, एवं मनोमय प्रज्ञानपुरुष के समन्वय पर ही निर्भर हैं । इसीलिए तो उपनिषत् में मन एवं बुद्धि को कर्मात्मा के साथ नित्य सम्बद्ध माना है । यद्यपि चाक्षुषपुरुष का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध प्रज्ञानात्मा के साथ है, उतना देवसत्यरूप प्राणात्मा के साथ नहीं है, तथापि बिना इसके सम्बन्ध के भोक्तात्मा का भोक्तृत्व ही नहीं बन सकता । विज्ञान-प्रज्ञान एक श्रेणि में हैं, भोक्तात्मा दूसरी श्रेणि में है । प्रज्ञान-विज्ञान दोनों का सम्बन्ध इसके साथ होता है । इस देवसत्य की 'अद्वैता' (आत्मता) प्रज्ञानसंपरिध्वक्त सौरविज्ञान के आधार पर ही प्रतिष्ठित है, जैसा कि-'मूर्त्य आन्मा-जगतस्तस्थुपश्च' इत्यादि से स्पष्ट है । देवसत्यप्रतिपादक प्राणात्माधिकरण के मध्य में 'हिरण्यमेन०' इत्यादि का पढ़ा जाना ही यह सूचित करता है कि चाक्षुषपुरुष का सम्बन्ध प्रज्ञान-कर्मात्मा दोनों से है । 'मैं क्या हूँ' ? इस प्रश्न का उत्तर है 'देवसत्य' । इस देवसत्य का 'मैं पना' उसी चाक्षुषपुरुष पर निर्भर है । पूर्व में ही बतलाया गया है कि देवसत्य की अपेक्षा से विज्ञान का प्रज्ञान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसी स्थिति को लक्ष्य में रखकर प्रज्ञाननिरूपण के अन्त में ही पहिले उस विज्ञान का स्वरूप दो मन्त्रों से बतलाकर तीसरे 'वायुरनिल-ममृतं' मन्त्रभाग से देवसत्य का स्वरूप बतलाया गया है । इस प्रकार इस प्रकार के तीन

मंत्रों में से आरम्भ के दो मन्त्र चानुषपुरुष की उपासना का प्रकार बतलाते हैं, तीसरा मन्त्रभाग प्राणात्मा का स्वरूप बतलाता है। इसी चानुषपुरुष की उपासना का प्रकार बतलाता हुआ निम्न लिखित मन्त्र हमारे सामने आता है।

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्मय दृष्टये ॥१॥

(ई० उ० १५ मं०) ।

“हिरण्यमयपात्र से सत्यका मुख ढका हुआ है। हे पूषादेवता! सत्यधर्म की दृष्टि के लिए (साक्षात्कार के लिए) आप उस आवरण को हटाइए” यह है मन्त्र का अन्वयार्थ। देवसत्यगर्भित चानुषपुरुष सौर पुरुष है। यह हृदयस्थ मन पर प्रतिष्ठित होकर दक्षिणचक्षु से प्रादेश मात्र बाहर निकलता है, जैसा कि विज्ञानात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इस विज्ञानपुरुष का आप अनूकदृष्टि से साक्षात्कार कर सकते हैं। परन्तु इतना अवश्य है कि चानुषकृष्ण, दक्षिणाक्षिपुरुष आदि नामों से प्रसिद्ध यह सत्यत्व सूर्य के हिरण्यमय प्रकाश में नहीं दीखता। धूप में आप इसे नहीं देख सकते। यह देखा जा सकता है—पार्थिव-कृष्णप्राण की सत्ता में। पशुभागप्रधाना पृथिवी ही ‘पूषा’ कहलाती है। शुद्रसृष्टि का पवर्चक, तमोमय पार्थिव बाह्यमय प्राण ही ‘पूषा’ है। ‘छाया’ इस प्राण का वास्तविक स्वरूप है। इस छायामय पूषाप्राण के आगमन से हिरण्यपात्ररूप आवरण हट जाता है, उसी समय चानुषपुरुष के दर्शन होजाते हैं। प्राचीन व्याख्याताओं के मतानुसार चानुषपुरुष अखण्डात्मा नहीं है, जिसका कि साक्षात्कार न होसके। आप छाया में अपनी दहिनी आंख से अनूकदृष्टि से एक प्रादेश पर दृष्टि-अवरोध का अभ्यास करते जाइए। मनोयोगरूप इस अभ्यासयोग से एक दिन सर्षपाकार इस पुरुष के आपको अवश्य ही दर्शन होजायंगे। जिस दिन आप इसके दर्शन करलेंगे, विश्वास कीजिए उस दिन वेदत्व आपके लिए अपने आप प्रकट होजायगा। कारण चानुषपुरुष सौर है, एवं सूर्यदेवता-‘सैषा त्रयीविद्या यज्ञः’ के अनुसार वेदधन है।

अपि च प्रकारान्तर से मन्त्रार्थ का समन्वय कीजिए । सांसारिक संपत्ति हिरण्यपात्र है , संसार सुनहरा है । सुवर्ण (संपत्ति) ने आत्मतत्त्व को आवृत कर रखा है । इस हिरण्यपात्ररूप वित्तमोह से मुग्ध मनुष्य अन्तर्हृदय में प्रतिष्ठित सत्य आत्मतत्त्व के दर्शन करने में असमर्थ हो रहा है । इस पार्थिव भौतिक सम्पत्ति का अधिष्ठाता पृथिवी का अभिमानी देवता 'पूषा' है । उसी की आराधना से भौतिक आवरण हट सकता है । जो पूषादेवता आवरण का अधिष्ठाता होता है, वही आवरण दूर करने में समर्थ है । हमें प्रणतभाव से उसी पार्थिव अभिमानी देवता से प्रार्थना करनी चाहिए कि हे पूषन् ! आपने स्वशक्ति से सत्यात्म-तत्त्व पर जो भौतिक संपत्तिरूप आवरण लगा रखा है, उसे हटाइए, हमारे आत्मा को भौतिक बंधन से मुक्त कीजिए, जिससे कि हम आत्मस्वरूप पहिचान सकें । पूषा देवता आवरण को हटाकर सत्यधर्म का साक्षात्कार करवाती है, यह उक्त मन्त्र से सिद्ध हुआ । वह पूषा देवता किस प्रकार से आवरण हटाती है ? इस प्रश्न का समाधान करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है—

पूषन्नेकैषं यम सूर्यं प्राजापत्यं व्यूह रश्मीन्, समूह तेजः ।

यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि-योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥२॥

(ई० उ० १६ मं०) ।

सृष्टि के मूलप्रवर्तक प्राण को 'ऋषि' कहा जाता है । स्वायम्भुव असत्प्राण का ही नाम ऋषि है । पूर्व के अव्यक्तात्माधिकरण में हमने स्वायम्भुव वेद को 'ब्रह्मनिश्चित' कहा है, एवं उस वेद के यजुर्भाग को 'ब्रह्म' कहा है । उस यजु का यजु भाग ही प्राण है, यही ऋषि है । इसी से आगे की सारी सृष्टिएं होती हैं । इस ऋषिप्राण की सप्तर्षि, द्व्यर्षि, एकर्षि, त्र्यर्षि आदि अनेक जातिएं हैं । विश्व में उपलब्ध होने वाले एकत्व, द्वित्व-त्रित्व-आदि जितने भाव हैं, उन सब के मूलाधार यही एकर्षि—द्व्यर्षि आदि ऋषिप्राण हैं । सात रस, सात उपरस, सात धातु, सात उपधातु, सात विष, सात उपविष, सात लोक, सात पाताल, सात द्वीप, सात समुद्र, सात मरुद, सात रंग, सात छन्द, सप्ताह्यज्ञ, शरीर सात धातु, सप्तनाड़ी, सप्ताचि, सप्तसमिध, सप्तहोम आदि आदि जितने भी सप्तक हैं, उन सब का प्रवर्तक एकमात्र 'सप्तर्षिप्राण' है ।

६ ऋत-सत्य, अग्नी-सोम, सत्य-अमृत, द्यावा-पृथिवी, योषा-वृषा, रयि-प्राण, ब्रह्म-सुब्रह्म, स्थिति-गति, आदान-विसर्ग, ब्रह्म-कर्म, ज्ञान-क्रिया, मूर्त्त-अमूर्त्त, निरुक्त-अनिरुक्त, अमृत-मृत्यु, सत्-असत्, अहो-रात्र, शुक्र-कृष्ण, पुरुष-प्रकृति, पत्नि-पत्नी, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, आत्मा-शरीर, आग-पानी, अन्न-वस्त्र, ओष-धि-वनस्पति, सूर्य-चन्द्र, ओन्नद्वय, चतुद्वय, पादद्वय आदि आदि जितने भी द्वैत-भाव हैं, सब की मूलप्रतिष्ठा 'द्व्यर्षि' प्राण ही है।

त्रैलोक्य, त्रेताग्रि, वीर्यत्रयी, प्रजात्रयी, वेदत्रयी, त्रिसंख आदि जितने भी त्रित्व-भाव हैं, उन सबका मूल त्र्यर्षिप्राण है। एवं एकत्वभावापन्न पदार्थों की मूलप्रतिष्ठा 'एकर्षि' प्राण है। इन प्राणों के अध्यात्म-अधिदैवत-अधिनत्तत्र-अधिभूत भेद से भिन्न भिन्न कार्य हैं, जैसा कि भाष्यप्रथमखण्ड की विश्वनिरुक्ति में बतलाया जा चुका है—(देखिए ई. वि. अ. १ खं ३५२-३६२)।

उसी प्रकरण में साकृज्ज नाम से प्रसिद्ध सप्तर्षिप्राण का निरूपण किया गया है। इस सप्तर्षिप्राण के समष्टि एवं व्यष्टिरूप से सप्तर्षि-द्व्यर्षि-एकर्षि यह तीन भेद होजाने हैं, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

१- १-गोतमः	}	श्रोत्रे	←←←	द्व्यर्षिः	} सप्तर्षिः (शत० १४।५।२।४।५।६।७)
२- २-भरद्वाजः					
३- १-विश्वामित्रः	}	चक्षुषी	←←←	द्व्यर्षिः	
४- २-जमदग्निः					
५- १-वसिष्ठः	}	नासिके	←←←	द्व्यर्षिः	
६- २-करयणः					
७- १-अत्रिः	}	वाक्	←←←	एकर्षिः	

उक्त सप्तविंशतिप्राणों में से सातवां अत्रि प्राण वाङ्मय है । यह वाङ् (अग्नि) —मय प्राण ही मुख में प्रतिष्ठित होकर अन्न खाता है, अतएव—‘अन्नमग्नि’ इस व्युत्पत्ति से इस वाङ्मय प्राण को—‘अग्नि’ कहा जाता है । अग्नि ही देवताओं की परोक्षभाषा में ‘अत्रि’ नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि श्रुति कहती है—

‘वागेवात्रिः । वाचा (अग्निना) ह्यन्नमद्यते । अग्निर्ह वै नाभैतद्यदत्रिः । सर्वस्याचा भवन्ति, सर्वमस्यान्नं भवन्ति, य एवं वेद’ (शत० १४।५।२।६) ।

यह वाक्तत्त्व अङ्गिरा ऋषि है । पूर्व में जिन ऋषिप्राणों का दिग्दर्शन कराया गया है, वे अनन्त प्रकार के हैं । उन सब की मूलप्रतिष्ठा वाङ्मय अंगिरा नाम का एकविंशतिप्राण ही है, जैसा कि ‘तेऽङ्गिरसः सूनवः’ (ऋक्. १०।६२।५) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । यद्यपि भृगु—अंगिरा—अत्रि भेद से अंगिराप्राण अत्रि से पृथक् तत्त्व माना गया है । परन्तु परमार्थतः तीनों एक ही हैं । अङ्गिरा अग्नि ही विशकलन की पराकाष्ठा पर पहुँच कर भार्गव सोमरूप में परिणत होजाता है । एवं अंगिरा ही चितिभाव को प्राप्त होकर धामच्छुद्ध बनता हुआ ‘अत्रि’ कहलाने लगता है । यही आंगिरस अत्रिप्राण भूपिण्ड का स्वरूपसमर्पक है । इसी एकविंशति—वाङ्मय—पार्थिव अत्रिप्राण के द्रुत भाव से अत्रेय चन्द्रमा उत्पन्न होता है, जैसा कि पूर्व के प्रज्ञानात्माधिकरण में चन्द्रोत्पत्ति-प्रकरण में बतलाया जा चुका है । अंगिरा धामच्छुद्ध अवस्था में आकर अत्रि है, यही वामग्नि रूप है । यही अग्निमय प्राण वाक् रूप से (वाग्निन्द्रिय रूप से) मुख में प्रतिष्ठित होता है—‘अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्’ । अत्रि नाम से प्रसिद्ध यह अंगिरा ही मन्त्रगत ‘एकविंशतिप्राण’ है । ‘प्रजापतिर्वा एकः’ (तै० ब्रा० ३।५।१६।१) के अनुसार यह एकाकी है । इसी अंगिराग्नि से (अंगिराग्नि के मर्त्यभाग की चिति से) भूपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न हुआ है । इसी एकविरूप पार्थिव वाग्नि, किंवा अंगिराग्नि, किंवा अत्रि का नाम ‘पूषा’ है । धामच्छुद्धभाव के कारण यह अत्रिमूर्ति पूषाप्राण पारदर्शकता का प्रतिबन्धक होता हुआ तमोमय है, कृष्ण है, छाया रूप है । इसी पूषा प्राण के सम्बन्ध से पृथिवी को पूषा कहा जाता है, जैसा कि निम्न वचन से स्पष्ट है—

१

१.—स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्, इयं वै पूषा, इयं हीदं सर्वं पुष्यति—यदिदं किञ्च” (शत० १४।४।२।२५) ।

यज्ञविद्या के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में एक प्रश्न किया गया गया है कि, “आज्य (घृत) तरल पदार्थ है। इस की अग्नि में आहुति दी जाती है। इस तरल आज्यद्रव्य की आहुति से घनभावापन्नयुक्त पुरुष कैसे उत्पन्न हो जाता है ?” । इस प्रश्न का समाधान करते हुए आगे जाकर ब्राह्मणश्रुति ने उत्तर दिया है कि—“घृत अवश्य तरल पदार्थ है, परन्तु इसमें हिरण्यशकन (सुवर्णखण्ड) डालकर इस की आहुति दी जाती है, अतएव अस्थिभावयुक्त पुरुष उत्पन्न होता है” । इस प्रश्नोत्तर का रहस्य यही है कि घृत शुक्र है, यह पार्थिवद्रव्य है, साथ ही में तरल है। परन्तु इस पार्थिव तरल शुक्र में हिरण्यशकल-रूप घनता सम्पादक सौर हिरण्य तेज प्रविष्ट रहता है। इसीसे अस्थिभाग का निर्माण होता है। जिस प्रजा के शुक्र में सौरप्राण कम होता है, उस की हड्डिएं निर्बल रहती हैं। सौर संवत्सर के जितने पर्व हैं, पुरुष में उतनी ही हड्डिएं हैं। एक एक पर्व से एक एक अस्थि का निर्माण होता है। “सप्त च ह वै शतानि विशतिश्च संवत्सरस्याहानि च रात्रयश्च (७२०), इत्येतावन्त एव पुरुषस्थीनि च मज्जानश्च” (गो. ब्रा० पू० ५।५।) । यद्यपि पारचात्य विद्वान् (स्वयं भारतीय विद्वान् सुश्रुत भी) दांतों को हड्डी नहीं मानते, परन्तु वैदिकसंवत्सरविज्ञान के अनुसार दांत हड्डी का प्राथमिक रूप है। कहना यह है कि अस्थि-निर्माण सौर तेज से होता है। उत्पन्न शिशु में एक वर्ष तक दांत पैदा नहीं होते। कारण इस का यही है कि एक वर्ष तक इसमें पार्थिवपूषा प्राण की ही प्रधानता रहती है। अतएव सौरप्राण प्रबल नहीं होने पाता, फलतः दांत उत्पन्न नहीं होते। वर्ष भर दांत उत्पन्न न होने का एकमात्र कारण पार्थिव पूषाप्राण की ही प्रधानता है। इसी आधार पर—‘तस्य दन्तान्-परोवाप, तस्मादाहुरदन्तकः पूषा’ (को० ६।१३) यह कहा जाता है।

श्रुति में पूषा शब्द की अनेकधा व्याप्ति देखी जाती है। सूर्य को भी पूषा कहा जाता है। वायु भी पूषा नाम से प्रसिद्ध है। पृथिवी को भी पूषा माना गया है। रेवती नक्षत्र

भी पूषा नाम से व्यवहृत होता है। पूषणो हस्ताभ्यामाददे नार्यसि(यजुः५।२२)का पूषा शब्द रेवती नक्षत्र का वाचक है। “सोमः पूषा च चेतुः श्वः । मुत्तितीनाम्”(साम.२।६।१०) का पूषा शब्द पृथिवी का वाचक है। “पूषणः पोषेण मन्त्रं दीर्घायुत्वाय शतशारदाय शतं शरदभ्य आयुषे वर्चसे” (तैत्ति.भा.१।२।१।१२) का पूषा शब्द सूर्य का वाचक है। “अग्रं वै पूषा योऽयं (वायुः) पवने, एष हीदं सर्वं पुष्यति—यदिदं क्रिञ्च” (शत. १४।२।१।६) का पूषा शब्द वायु का वाचक है। प्रकृतमन्त्र के ‘पूषन्’ शब्द से रेवती नक्षत्र को छोड़कर शेष तीनों (पृथिवी—वायु—सूर्य) पूषाओं का ग्रहण है। पृथिवी अग्निमयी है, अन्तरिक्ष वायुमय है, सूर्योपलक्षित ब्रह्मलोक आदित्यमय है। १२ आदित्यों में से एक पूषा नाम का आदित्य है। प्रकृत में सूर्य शब्द से इसी आदित्य विशेष का ग्रहण है। पार्थिव पूषा पूर्व कथनानुसार ‘एकर्षि’ है। रोदसी त्रैलोक्य के अन्तरिक्ष में रहने वाला आङ्गिरस वायुरूप पूषा ‘यम’ है। ब्रह्मलोकस्थ आदित्यरूप पूषा ‘सूर्य’ है। एकर्षि (पार्थिव पूषा), यम (अन्तरिक्ष पूषा), सूर्य (दिव्य पूषा) तीनों ही प्राजापत्य हैं, प्राजापति की सन्तान हैं। भूपिण्ड चित्वाग्निमय है। इसमें चितेनिधेय अंगिरा नाम का पूषाग्नि प्रतिष्ठित है। केन्द्रस्थ यही पूषा पार्थिव प्राजापति है। इसी उक्त्य प्राजापति की एकर्षि—यम—सूर्य (आदित्य) यह तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। पूर्वप्रदर्शित देवसत्य स्वरूप में महिमा पृथिवी में रहने वाले जिन अग्नि—वायु—आदित्य इन तीन देवताओं का दिग्दर्शन कराया गया है, वे यही तीनों हैं। त्रिवृत्स्तोम तक अग्निप्रधान एकर्षि प्राजापत्य, पञ्चदशस्तोम तक वायुप्रधान यम प्राजापत्य, एवं एकविंशस्तोम पर्यन्त आदित्य-प्रधान सूर्य प्राजापत्य प्रतिष्ठित है। एक ही मूलप्राजापति की यह तीन तत्त्वावस्थाएं हैं। अग्नि—वायु—आदित्य तीनों एक ही पार्थिव अंगिरा के विवर्त हैं, अतएव तीनों के लिए (समष्टि दृष्टि से) ऋषि ने पहिले ‘पूषन्’ यह कहा है। एवं आगे जाकर इसके व्यष्टिरूप प्राजापत्य भावों का दिग्दर्शन कराते हुए—“एकर्षे ! यम ! सूर्य ! प्राजापत्य” यह कहा है।

सूर्य में ज्योति, गौ, आयु, यह तीन मनोता हैं। ज्योति इन्द्र है, हिरण्यभाग है, यही देवभाग है। गौ भाग पशु है, यही पूषा है—“पशवो वै पूषा”। आयुभाग आप है, यही

वरुण है। सूर्य में यानी है, ज्योति है, पशु है, तीनों की समष्टि सूर्य है। प्रयाज, अनुयाज, छन्द आदि पशु हैं। सूर्य देवमय है, इस लिए वह इन्द्र है। आपोमय है, इस लिए वरुण है। पशुमय है, इस लिए 'पूषा' है। इन तीनों में पूषाभाग देवता (ज्योति-हिरण्यमयात्र-प्रकाश) का विरोधी है। पृथिवी से सूर्य तक वह एक ही पूषाप्राण व्याप्त हो रहा है। पृथिवीभुक्त पूषा एकर्षि है, अन्तरिक्षभुक्त पूषा यम है, स्वयं दिव्यलोकस्थ पूषा सूर्य है। जहां एकर्षिप्राण (पार्थिव तमोमय छायाका पूषाप्राण) रहता है, वहां ऐन्द्र ज्योतिर्भाग नहीं रहता। वस इसी एकर्षि पार्थिव पूषाप्राण को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—हे पूषा ! आप पृथिव्यवच्छेदेन एकर्षि हैं, अन्तरिक्षवच्छेदेन यम हैं। दिव्यलोकावच्छेदेन सूर्य हैं। आपमहिमारूप से त्रिलोक्य में व्याप्त होकर, अपने प्रजापति (मूल-उक्थ'-रूप को प्राजापत्य (तूल-अर्क) रूपों में परिणत कर एकर्षि-यम-आदित्य भेद से तीन स्वरूपों में परिणत हो रहे हैं। आप स्वयं (केन्द्रावच्छेदेन) प्रजापति हैं, एवं एकर्षि-यमादि आप के तीनों रूप आप के ही विवर्तभूत होते हुए प्राजापत्य हैं। ऐसे आप अपनी (कृष्ण) रश्मियों को फैलाइए ! साथ ही मैं त्रिलोक्य में व्याप्त हिरण्यमय सौर तेज का (सत्यधर्म के दर्शन के लिए) संवरण कीजिए, समेटिए ! आर का जो कल्याणतम रूप है, मैं उसे ही देखना हूँ—(देखना चाहता हूँ)। जो वह सौर हिरण्यमय पुरुष है, वही मैं हूँ"।

तात्पर्य यह है कि त्रैलोक्य व्यापक पूषा में सत्यधर्म के अनुकूल-प्रतिकूल दो भाव हैं। पूषा में रहने वाला हिरण्यमय (देवरूप ज्योतिर्मय)-भाग सत्यधर्म के दर्शन का विरोधी है, कारण इस की सत्ता में चान्द्र कृष्ण के दर्शन नहीं हो सकते। एवं तमोमय त्रिवृदवच्छिन्न मूलभाग अनुकूल है, क्योंकि इसी की सत्ता में चान्द्रकृष्ण के दर्शन होते हैं। पूषा का यह पार्थिव तमोमयरूप ही सत्यधर्मदृष्टि में उपयोगी बनता हुआ हमारे लिए कल्याणतमरूप है। सत्यधर्मदर्शन में यही रूप अपेक्षित है। तमोमय भूतभाग पूषा का प्रातिस्विक रूप है। हिरण्यमय-भाग आगन्तुक है। यह हिरण्यमय सौर भाग तो मेरा आत्मा है, वह तो स्वयं द्रष्टा है, उपासक है, उसे देख कर मेरा क्या लाभ होगा। वह तो स्वयं मैं हूँ। मैं देखना चाहता हूँ—उस उपा-

स्य कृष्णतत्त्व को, पूषाचिह्न कल्याणतमरूप को । इसी विज्ञान को सद्य में रखकर श्रुति कहती है—

यत्ते कल्याणतमं रूपं तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः (हिरण्यमयः) सोऽहमस्मि”
(न तं पश्यामि—स तु—अहमेवेति भावः) ।

पृथ्वी के सन्दर्भ का निष्कर्ष यही हुआ कि पार्थिव अंगिरा भाग पूषा है । त्रिवृत्—पञ्चदश—एकविंश भेद से इसके एकर्वि—यम—सूर्य—यह तीन प्राजापत्य रूप हैं । पूषा पृथिवी है । इसके साथ अहः (दिन) का भी सम्बन्ध है, रात्रि का भी सम्बन्ध है । अहः सौर भाग है, यह चाक्षु-पुरुष का आवरक होने से अकल्याणरूप है । रात्रि का घोरतम भी आगन्तुक होता हुआ, अतएव चाक्षुषपुरुष का आवरक बनता हुआ अकल्याणरूप ही है । प्रातिस्विक छायाभाग ही इसका कल्याणतम रूप है । चाक्षुषपुरुष को न आप दिन में (धूप में) देख सकते, न रात्रि के अन्धकार में देख सकते : वह दीखता है—छाया में । सत्यधर्मदर्शन के लिए हमें पूषा के छायारूप इसी कल्याणतम रूप पर दृष्टि जमानी चाहिए, छायामय भूतप्रधान पूषादेवता की ही उपासना करनी चाहिए ।

मन्त्रार्थ के आरम्भ में हमने—पूषन्नेकर्षे यम सूर्य०’ इत्यादि मन्त्र को “पूषाप्राण का कौनसा रूप सत्यधर्म का साक्षात् करवाने में समर्थ है” इस प्रश्न का समाधान करने वाला बतजाया था । वास्तव में मन्त्र उक्त प्रश्न का ही प्रधान रूप से समाधान करता है । परन्तु केवल इसी अर्थ पर मन्त्र की व्याप्ति समाप्त नहीं होजाती । अपितु उक्तार्थ के साथ साथ ही यह मन्त्र वैश्वानर—तैजस—प्राज्ञरूप जीव देवसत्य का भी निरूपण करता है । पूषा को चित्त्य भूषिण्ड समझिए । इस पर प्रतिष्ठित त्रिवृत्स्थानीय अग्नि एकर्वि है, पञ्चदशस्थानीय वायु यम है, एकविंशस्थानीय आदित्य सूर्य है । एकर्वि अग्निप्रधान वैश्वानर का, यम वायुप्रधान हिरण्यमय का, सूर्य इन्द्रप्रधान सर्वज्ञ का स्वरूप संपादक है । पार्थिव पूषा प्राजापतिरूप ब्रह्मसत्य है, जिसका कि निरूपण आगे के प्रकरण में होने वाला है । तीनों की समष्टि देवसत्य है, यही

प्राणात्मा है। मर्त्याग्निभूतमय शरीर है। इस भौतिक पूषाभाग का यह देवसत्यरूप अमृताग्नि ही कल्याणतम रूप है। सत्यवर्मरूप विज्ञान की उपासना के द्वारा मैं इसे ही देखना चाहता हूँ। पूषा का कल्याणतम अमृतरूप 'मै' (भोक्ता-देवसत्य) हूँ, यह अमृत भाग उस ईश्वरीय अङ्गपुरुष से अभिन्न है, मैं उसी का प्रत्यंश हूँ।

१-एकर्वि	प्राजापत्यः-	अमृताग्निः-	त्रिवृत्स्थानीयः-	अग्निः-	वैश्वानरः (वैश्व)	} देवसत्यात्मा
२-यमः-	प्राजापत्यः-	अमृताग्निः-	पञ्चदशस्थानीयः-	वायुः-	हिरण्यगर्भः (तैजसः)	
३-सूर्यः*	प्राजापत्यः-	अमृताग्निः-	एकविंशस्थानीयः-	इन्द्रः-	सर्वज्ञः (प्राज्ञः)	



वैश्वानर अग्नि-तैजस वायु-प्राज्ञ इन्द्र तीनों की समष्टि देवसत्यरूप जीवात्मा है। इसप्रकार यद्यपि 'अह' भाव में अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों प्रविष्ट हैं, तथापि हमारे में प्रधानता वायु की ही है। वायु ही हमारा वास्तविक आत्मा है। चिदाभास को ही जीवात्मा कहा जाता है। चित् का प्रतिबिम्ब ही चिदाभास है। इस चित् का प्रतिबिम्ब-'यम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' के अनुसार महान् पर ही प्रतिष्ठित है। भृगुतत्त्व ही महद्ब्रह्म है। इस भृगु की आप-वायु-सोम यह तीन अवस्थाएं हैं। महद्ब्रह्म की इन तीन अवस्थाओं के कारण ही वह महत् प्रतिबिम्ब पानी-हवा-सोम इन तीन ही स्थानों में प्रतिष्ठित होता है। अतएव जीवसर्ग आप्य जीव, वायव्य जीव, सौम्य जीव मेद से तीन ही भागों में विभक्त है। पानी में रहने वाले मत्स्यादि जीव आप्य हैं। इन की चेतना का मूलाधार पानी ही है। यदि इन्हें हवा में रख दिया जाता है तो इन आप्य जीवों की चेतना उत्क्रान्त होजाती है। दूसरा विभाग वायव्य जीवों का है। पृथिवी पृष्ठ पर उत्पन्न होने वाले जीव 'वायव्य' हैं। कृमि-कीट-पक्षि-पशु-मनुष्य-वृक्षादि सब वायव्य जीव हैं। बिना वायु के इन की जीवनसत्ता नहीं रह सकती। हम

१-एकविंशस्तोम पर सूर्य है। २१ पर ही पार्थिव अमृतेन्द्र है। इसी स्थानामिन्नता को लक्ष्य में रखकर उपनिषद् ने इन्द्र के लिए सूर्य शब्द का प्रयोग कर दिया है।

वायव्य जीवों को यदि अधिक समय तक पानी में रक्खा जाय तो हमारी जीवनसत्ता उत्क्रान्त होजाय । तीसरा विभाग सौम्य जीवों का है । राक्षस-पिशाच-यक्ष-गंधर्व-ऐन्द्र-पैत्र्य-प्राजापत्य-ब्राह्म मेदमिन्न अष्टविध सत्त्वविशालजीव सौम्य हैं । चान्द्रसोम ही इनकी चेतना का आधार है । उक्त जीवविभागों में से उपनिषदुपदेश हम वायव्य जीवों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । हमारी अध्यात्मसंस्था में वायु ही प्रधान है । वैश्वानर अपान सम्बन्धी है, प्राज्ञभाग प्राण सम्बन्धी है, मध्यस्थ वायुरूप तैजसभाग व्यान सम्बन्धी है । जब तक मध्यस्थ व्यान वायु स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक जीवनसाधक प्राणरूप वैश्वानर-प्राज्ञ प्रतिष्ठित रहते हैं ।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥१॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ।

मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥२॥ [कठ ५५—३ ।]

उक्त श्रुति के अनुसार मध्यस्थ व्यानवायुमय तैजस ही जीवनसत्ता का कारण है । बीच में बैठा हुआ यह तैजस वायु इस ओर से पार्थिव रस लेता है, उस ओर से दिव्यरस लेता है । पार्थिवभाग अर्थप्रधान होने से मर्त्य है, दिव्यभाग ज्ञानप्रधान होने से अमृत है । मध्यस्थ वायु इधर अनुगत बनता हुआ मर्त्यभावापन्न है, उधर अनुगत रहता हुआ अमृतभावापन्न है । पार्थिवरस 'इरा' नाम से प्रसिद्ध है । महर्षि ऐतरेय ने इस पार्थिव इरा रस के सम्बन्ध से ही प्रज्ञानपुरुष को 'इरामय' बतलाते हुए परोक्षभाव से इसे हिरामय कहा है । विज्ञानपुरुष भी हिरामय है, प्रज्ञानपुरुष भी हिरामय है । दोनों ही हिरामय हैं, केवल स्वरूप में अन्तर है । विज्ञानपुरुष हिरण्य (अग्नि) मय होने से हिरामय है, एवं प्रज्ञानपुरुष इरामय [पार्थिवान्नरसमय] होने से हिरामय है । (देखिए ऐ० आरण्यक २ । ७ ।) । इस निदर्शन से प्रकृत में हमें यही कहना है कि पार्थिव मर्त्य भौतिक रस 'इरा' कहलाता है । सारा अर्थप्रपञ्च पार्थिव इरामय वैश्वानर से सम्बन्ध रखता है । भूतप्रधान होता हुआ यह बन्धन का कारण बनता हुआ मृत्यु-

१.५ है। जिस पुरुष का वायुमय आत्मा पार्थिव मर्त्य इरा की ओर [पार्थिव संपत्ति की ओर] झुक जाता है, उसका वह वायुरूप आत्मा इराप्रधान बनता हुआ मृत्युरूप बन जाता है। जब तक पार्थिव इरावित्त में आसक्ति है, तब तक अमृतत्व का अभाव है। 'नामृतत्वस्य तु-आशुस्ति विचेन'। यदि वायुमय आत्मा पार्थिव इरास की आसक्ति छोड़कर ज्ञानमूर्ति प्राज्ञ का आश्रय लेता हुआ 'अनिर' (इरा रहित) बन जाता है तो अमृतप्राज्ञ की प्रधानता से यह भी अमृतरूप बन जाता है—'ज्ञानान्मुक्तिः'। "देवसत्य ही जीवात्मा है। उसमें प्रधान मध्यस्थ तैजस वायु है। यदि आप आत्मकल्याण चाहते हैं तो अपने इस वायुप्रधान आत्मा को 'अनिर' बनाइए, पार्थिव संपत्ति से आसक्ति करना छोड़िए। अनासक्ति-योगरूप बुद्धियोग द्वारा जब आपका वायुभाग अनिर बन जायगा तो विश्वास कीजिए, मर्त्यभाव से पृथक् होता हुआ वह उसी समय—'अमृत' बन जायगा। इसी रहस्य का निरूपण करते हुए आगे जाकर ऋषि कहते हैं—

“वायुरानिलममृतम्..... ।

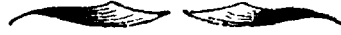
..... ॥”

(ई० उ० १७ मं०)।

(यदा वायुः (मध्यस्थस्तैजसात्मा) अनिलो—(अनिरो-पार्थिवरसासक्तिविरहितो) भवति—अथ स आत्मा अमृतभावयुक्तो भवति)—

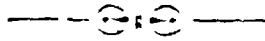
पार्थिव धातु इरा है, इस से भौतिक शरीर बनता है, यही वाक्स्वभा भूतचिति है। आन्तरिद्ध धातु वायु है, यही ओज बनता है, यही प्राणचिति है। दिव्य धातु इन्द्र है, इस से मन बनता है, यही देवचिति है। इस प्रकार त्रैलोक्य के तीनों विवर्तों से अध्यात्म के उक्त तीनों विवर्तों का निर्माण होता है। दिव्यलोक मनोमय है, आन्तरिक्षलोक प्राणमय है, पृथिवीलोक वाङ्मय है—(देखिए मैत्रायणीसंहिता.....)। शरीर मर्त्य है, मन अमृत है। प्राणवायु दोनों के मध्य में है। यदि यह इधर है तो मृत्युभावापन्न है, अनिर है तो अमृत है।

- १—शरीरम्—वाक्—पार्थिवधातुः—अग्निः (मृत्युः)—इरामयः (वायुर्भृत्युमयः)
 २—ओजः—प्राणः—अन्तरिद्वयं बलम्—वायुः—
 ३—मनः—मनः—दिव्यज्ञानम्—इन्द्रः (अमृतम्)—हिरण्मयः (वायुरनिलममृतम्)



इस प्रकार हमारा यह प्राणात्माधिकरण देवसत्य से अवेनाभूत चानुग्रहुरूप की उपा-
 मना का उपाय बतलाता हुआ, देवसत्य का निरूपण करता हुआ, सर्वान् में उसे वायुमयान
 बतलाता हुआ, साथ ही में आत्मा के अमृतभाव के लिए पार्थिव विषयो में अनामक्ति रखने
 का आदेश देता हुआ समाप्त होता है ।

इति—प्राणात्माधिकरणम्



प्राकृतात्माधिकरणे
प्राणात्माधिकरणं

समाप्तम्

५



पूर्णपदः →→→→

ई-भूः →→→→

अविद्वत्तम् →→→→

भूतवैभव

पूष्पमिदम्

ई-शरीरम्

अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षरः—

बीज-दैवत-भूतमयः प्राकृतात्मा भूः

शरीरम्

६

भूः ← ——— ←←← मर्त्यान्नादः →→→ ——— → शरीरम्

(प्राकृतात्माधिकरणे शरीरात्माधिकरणम्)

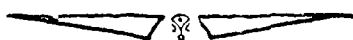
यज्ञमात्रिकवेदावाच्छिन्नः-बीज-देव-भूतमयात्मा

चित्पात्मा

१-.....अथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।

ओं क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥

(ईशोपनिषत् १७ मन्त्र) ।





शरीरात्मस्वरूपनिदर्शनः॥←

१-पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्त्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम् ।

तं सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधाहारमयं शरीरम् ॥

(गर्भोऽनिषत्) ।

२-खं-वायु-ज्योति-रापञ्च-पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

(कैवल्योपनिषत्) ।

३-भस्मनिष्ठस्य दहन्ते दोषा भस्माग्निसंगमात् ।

भस्मस्नानविशुद्धात्मा भस्मनिष्ठ इति स्मृतः ॥

(बृहज्जाबालोपनिषत्)

४-अथ येतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, यो, रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन् । तदस्य

शिरोऽभवत् । यच्चिद्रूपं समुदौहन्, तस्माच्छिरः । तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त,

तस्माद्वैतच्छिरः । अथ यत् सर्वस्मिन् अश्रयन्त, तस्माद् शरीरम् ॥

(शत. ६ ब्रा० ६ का । १ प्र. । १ ब्रा. । ४ कं.) ।

५-“आत्मा वै तनूः” (शत० ६।७।२।६।) ।

६-“आन्मनो ह्येवाध्यङ्गानि प्ररोहन्ति” (शत० ८।७।२।१५ ।)

७-“पाङ्क्तु इतर आत्मा (शरीरं) लोम-त्वङ्-मांस-मस्थि-मज्जा” (तां. ब्रा. ५।१।४) ।

८-“षडङ्गोऽयमात्मा (शरीरं) षड्विधः” (कौ० ब्रा० २०।३) ।

९-“तस्मादितर आत्मा (शरीरं) मेघति च कूरयति च” । (तां. ब्रा. ५।१।७) ।

१०-“भूमोऽणोऽङ्गानां यदात्मा (शरीरम्)” (शत. ६।६।१।१०) ।

११-‘तस्मादयं सर्वं एवात्मा (शरीरं) उष्णः (अग्निमयः) ।

तद्धैतदेव जीविष्यतश्च मरिष्यतश्च विज्ञानम् ।

उष्ण एव जीविष्यन्, शीतो मरिष्यन्” (शत. ८।७।२।११) ।

१२-“तत् सर्वं आत्मा (शरीरं) वाचमप्येति, वाङ्मयो भवति” (कौ. ब्रा. २।७) ।

१३-“बाह्यो ह्यात्मा (शरीरम्)” (शत. ६।६।२।१६) ।

१४-“सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषः [शरीरं], यच्चत्वार आत्मा,

त्रयः पक्षपुच्छानि” [शत० ६।१।१।६।) ।

१५-“आत्मा [शरीरं] एव-उत्सा” (शत० ६।५।३।४) ।



॥ श्रीः ॥

महाभूतानि सत्वानि संहृतानि क्रमेण च ।

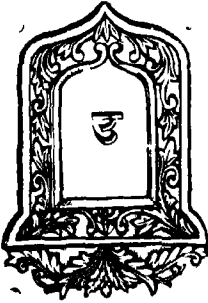
सप्तधातुमयो देहो दग्धो योगाग्निना शनैः ॥१॥

यथाकाशस्तथा देह आकाशादपि निर्मलः ।

सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरौ दृश्यः स्थूलात् स्थूलो जडाजडः ॥२॥

घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।

सततं मन्ययितव्य मनसा मन्यानभूतेन ॥३॥



पनिषत् का वक्तव्य विषय प्रायः समाप्त है । आत्मदृष्टि की अपेक्षा से अध्यात्मसंस्था में जो तात्त्विक अंश थे, उनका क्रमिक निरूपण कर उपनिषदर्थ गतार्थ है । जो संसारी उक्त आत्मविकर्षों को न पहिचान कर केवल शरीर की आराधना में ही निमग्न रहते हुए भोग-ऐश्वर्यों में तल्लीन रहते हैं, जिन यथाजात मूढ मनुष्यों के जीवन का एकमात्र उद्देश्य शरीर परिपालन ही है, जिन्होंने—“खाना-पीना मौज उड़ाना” (eat drink and be marry) इसी सिद्धान्त को अपने जीवन का परम पुरुषार्थ मान रक्खा है, उन का वह प्रियतम शरीर एक दिन भस्मसात् (राख की ढेरी) होने वाला है । यदि उन्होंने इसी शरीर में प्रतिष्ठित उक्त आत्मसंस्थाओं को न पहिचाना तो अन्त में शरीर तो एक दिन मिट्टी में मिलही जायगा, साथ ही में यह यथाजात इस जन्म-मृत्युपरम्पराजक्षण दुःखार्णव से भी कभी छुटकारा न पासकेंगे । अमृतात्मा निकल गया, रह गया भस्मान्त शरीर ।

विश्वास करो जो शरीर एक दिन भस्म बनने वाला है, इसी भस्मान्त शरीर में अमृतात्मा से अनुग्रहीत कर्मात्मा प्रतिष्ठित है । उसके स्वरूप को पहिचानों । कर्मात्मा द्वारा प्रज्ञानात्मा [अन्तर्मन] पर, प्रज्ञानद्वारा विज्ञानात्मा [बुद्धि] पर, विज्ञानद्वारा महानात्मा पर, महान् द्वारा

युक्त नाम से प्रसिद्ध शान्तात्मा पर पहुंचते हुए, पराकाष्ठा रूप उस पुरुष तत्व को प्राप्त कर अपना जन्म, एवं जीवन सफल करलो। इस दुर्लभ मानव शरीर को पाकर भी यदि तुमने अपना जन्म एवं जीवन, निरर्थक ही गमा दिया तो तुमने अपना सबसे बड़ा अनिष्ट कर लिया। यही शरीर आत्मदृष्टि से तुम्हारे उद्धार का साधन है, यही शरीर तुम्हारे सर्वनाश का कारण है। इसी भाव का बड़े सुन्दर शब्दों में दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है —

१-इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनाष्टः ।

भूतेषु भूतेषु निचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ (केनोपनिषत् २।१३) ।

२-अस्य विस्त्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।

देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ (कठोप० ५।४।) ।

३-इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्त्रंसः ।

ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ (कठ० ६।४) ।

जिस प्रकार महाविश्व उस विश्वव्यापक ईश्वर का शरीर है, एवमेव हमारे जीवात्मा का यह भौतिक शरीर हमारा विश्व है। ईश्वरतत्व शरीरापेक्षया ८४ अंगुल का है, इधर जीवतत्व भी अपने विश्व की अपेक्षा से ८४ अंगुल का ही है। दोनों का आकार समान है, तभी तो “पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्” (मनुष्य ईश्वर के बहुत समीप है, ईश्वर से मिलता जुलता है—(शत. २।५।१।१) यह श्रुति चरितार्थ होती है। ईश्वर और पुरुष ही क्या, प्रत्येक प्राणी का शरीर अपने अंगुल के परिमाण से ८४ अंगुल का ही होता है। एक ६ महीने का बच्चा भी ८४ अंगुल का ही है, एक युवा भी ८४ अंगुल का ही है। कारण इस का यही है कि आत्मसृष्टि का मूल स्तम्भ अष्टाक्षर गायत्री छन्द माना गया है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है—(देखिए ई. उ. द्वि. खं. प्रज्ञानात्माधिकरण पृ. सं. ३१० से ३१३ पर्यन्त)। “अष्टाक्षरा वै गायत्री” इस सिद्धान्त के अनुसार गायत्री को आठ अक्षर का छन्द माना गया है। प्राणतत्व का ही नाम अक्षर है। एवं “प्रदेशमितः प्राणः” (ऐ. आ. १।२।४) के

अनुसार प्राणतत्त्व प्रादेश परिमित स्थान में अपनी व्याप्ति रखता है । अंगुष्ठ और तर्जनी फैला दीजिए । इन दोनों के मध्य का जितना प्रदेश होगा, वही प्रादेश कहलावेगा । यह अंगुली-परिमाण की अपेक्षा से १०॥ अंगुलमित होगा, जैसा कि—“अत्यतिष्ठदशाङ्गुलम्” इत्यादि से स्पष्ट है । निष्कर्ष यह हुआ कि प्रत्येक प्राण की व्याप्ति १०॥ अंगुलावच्छिन्न प्रदेश में रहती है । गायत्री में ऐसे आठ प्राण, किंवा आठ अक्षर हैं । पलतः पूरे गायत्री छन्द की व्याप्ति ८४ अंगुलमयी बन जाती है । ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ तक एक प्रादेश है । कण्ठ से हृदय तक दूसरा प्रादेश है । हृदय से नाभि तक तीसरा प्रादेश है । नाभि से ब्रह्मग्रन्थि (गुदस्थान) पर्यन्त चौथा प्रादेश है । ब्रह्मग्रन्थि से गोडों की कगली तक दो प्रादेश हैं । यहां से पाद पर्यन्त दो प्रादेश हैं । सम्भूय आठ प्रादेश हो जाते हैं । इस प्रकार आठ प्रादेशों से शरीर चौरासी अंगुल का होजाता है । इन आठों प्रादेशों में क्रमशः सत्य, तप, जनत, महः, स्वः, भुवः, पृथिवी, भूः इन आठ पर्वों का उपभोग है । ईश्वर शरीर सप्तवितस्तिकाय नाम से प्रसिद्ध है । जैसा कि—“संवैष्टित्वाण्डघटसप्तवितस्तिकायः” (भागवत) इत्यादि पुराण-सिद्धान्त से स्पष्ट है । अंगुष्ठ से कनिष्ठिका अंगुली पर्यन्त जो वितत प्रदेश है, उसे ही वितन्त्रि (विलांत) कहा जाता है । यह प्रदेश १२ अंगुल मित है । ईश्वर शरीर में भूः-भुवः-स्वः-महः-जनत-तपः-सत्यम्—यह सप्तलोकात्मिका सात वितस्तिष्ठ हैं । सम्भूय विश्वात्मक ईश्वर शरीर भी चौरासी अंगुल का ही हो जाता है—(१२+७=८४) । जैसी स्थिति इस आध्यात्मिक पुरुष की है, ठीक वही स्थिति उस आधिदैविक पुरुष की है । केवल मध्यस्थ आधिभौतिक प्रपञ्च ने दोनों में भेद उपस्थित कर रखा है । देखिए !

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः ।

यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः ॥

[श्रीमद्भागवत द्वि० स्क० १० अ० ८ श्लो०]

ईश्वर के उक्त सात पर्वों के आठ पर्व होजाते हैं । सातवें, किंवा पहिले भूपर्व के भूः-पृथिवी दो विभाग हैं, जैसा कि पूर्व के प्राणात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है ।

एव आठो ही पर्व—‘अदं ह वै प्रजापेतरात्मनो मयमासीदर्द्धममृतम्’ इस सिद्धान्त के अनुसार अमृत-मर्त्य भेद से दो दो भागों में विभक्त हैं। इन अमृत भागों की समष्टि आत्मसंस्था है, एवं मर्त्य भागों की समष्टि विश्वसंस्था है। विश्व तत्त्वप्रधान है, आत्मा अव्ययगर्भित अक्षरप्रधान है। अक्षर भूतभाग है, भूत ही भूति है, भूति ही भस्म है, यही भस्मान्त विश्व है। ठीक वही क्रम अध्यात्म में है। अविदेवत की अमृतमयी आत्मसंस्था से अध्यात्मसंस्थाओं का उदय होता है, एवं विश्वसंस्था से शरीर का स्वरूप निष्पन्न होता है। विश्व का क्या स्वरूप है? एवं विश्वाशभूत शरीर का क्या स्वरूप है? इन सब विषयों का विशद निरूपण ईशोपनिषत् के प्रथमखण्ड में किया जा चुका है—(देखिए ई. उ. प्र. ग्वं. विश्वनिरुक्ति ३४७ से ३८० पृष्ठ पर्यन्त)। अतः यहाँ पिछले पर्व की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि हमारे शरीर का निर्माण यद्यपि भूषण्ड से हुआ है, परन्तु भूषण्ड पञ्चात्मक, किंवा सप्त लोकात्मक है। अतः तदुत्पन्न शरीर में भी विश्व के सभी भौतिक प्रत्यक्षों का समावेश सिद्ध हो जाता है। आपाद-मस्तक शरीर भौतिक है। इसमें उक्त आठो पर्वों का भोग हो रहा है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जायगा।

उक्त शरीरसंस्था का निरूपण करना हुआ ही निम्न लिखित मन्त्र हमारे सामने आता है—

.....अथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।

ओं क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥

(ई० उ० १७ मन्त्र) ।

‘अथेदं भस्मान्तं शरीरम्’ इस वाक्य से उपनिषत् को यही बतलाना है कि मध्य का वायुरूप आत्मा अनिल (अनिर) बनना हुआ अमृतभाव को प्राप्त हो जाता है, परन्तु शरीर भस्मीभूत बनकर यहीं रह जाता है। इस प्रकार यह ईशोपनिषत् उपक्रमस्थानीय षोडशी-पुरुष से आरम्भ कर उपसंहार स्वरूप शरीरपर्यन्त सम्पूर्ण आत्मविभागों का सञ्चय से निरूपण करती हुई अपने—“सर्वोपनिषत्” “पृथ्वीपनिषत्” इत्यादि नामों को चरितार्थ कर रही है।

उपनिषदादेश समाप्त हुआ । ईश्वर-एवं जीव दोनों का स्वरूप हमारे सामने रखकर सर्वान्त में उपनिषत् हमें आदेश करती है कि “यदि तुम ज्ञानकर्ममय पूर्वोक्त आत्मस्वरूप का यथार्थ स्वरूप जानना चाहते हो तो ऋतु का स्मरण करो, एवं कृत का स्मरण करो ! अध्य-वसायवृत्ति ऋतु है । ‘अहमिदं करिष्यामि’ (मैं यह करूँगा) इस मानसवृत्ति का नाम भी ऋतु है । इस ऋतु की सफलता ‘दत्त’ है । कार्यसिद्धि दत्तभाव है, तदर्थ होने वाला संकल्प (इरादा) ऋतुभाव है । पहिले ऋतु होता है, अनन्तर कृतरूप दत्तभाव का उदय होता है । प्रत्येक कर्म में ऋतु-दत्त (ऋतु-कृत, दोनों भाव निविष्ट हैं । मनोयुक्त प्राणव्यापार ऋतु है, वाग्व्यापार कृत है, दोनों का आलम्बन मन है । मन से कामना का उदय होता है, तदनु-कूल प्राणव्यापार हो पड़ता है, तदनन्तर वाग्व्यापार होता है, कर्म सिद्ध होजाता है । प्राण-व्यापार कामनामय है, अतएव ऋतु को मानस व्यापार भी मान लिया जाता है, जैसा कि—
श्रुति कहती है—

“स यदेव मनसा कामयते—इदं मे स्यात्, इदं कुर्वीय-इति, स एव ऋतुः ।”

(शत० ४।१।४।१) ।

“हृत्तु ह्ययं ऋतुर्मनोजवः प्रविष्टः” (शत० ३।३।४।७) ।

इरादा ऋतु है, इरादे से जो कर्म किया जाता है वह कृत है । जो मनुष्य अपने ऋतु और कृत पर पूर्ण दृष्टि रखता है, वही आत्मबोध में समर्थ होता है । लौकिक विषय-सम्बन्धी ऋतु और कृत आसक्ति के कारण हैं, आत्मानुग्राहक ऋतु एव कृत अनासक्ति के कारण हैं । ‘क्या इरादा था, क्या क्रिया’ इस प्रकार प्रत्येक कर्म में दोनों पर दृष्टि रखो । इस से सदसद्विवेक होगा, अच्छे बुरे की पहिचान होगी । फलतः सत्कार्य में प्रवृत्ति होगी, असत् कर्मों से निवृत्ति होगी । आत्मबोध के लिए प्रत्येक दशा में—‘हमारा क्या इरादा था, हमने क्या करडाला’

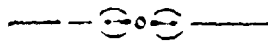
* किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वता ।

इति सचिन्त्य मेधावी सततं कर्म आचरेत् ॥

उ विचारधारा को लक्ष्य में रखो ! इस विचारधारा से कालान्तर में तुम्हें ययार्थ परिस्थिति का ज्ञान होजायगा । आत्मज्ञान के लिए क्रतु और कृत के स्मरण से अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ उपाय नहीं है ।

अपि च तुमने आत्मोपनिषत् सुनी, आत्मा का शब्दद्वारा (शब्दद्वारा) तुम्हें परिज्ञान हुआ । परन्तु यह शब्दिक ज्ञान तब तक सर्वथा निरर्थक है, जब तक कि तुम तदनुकूल क्रतु-और कृत का आश्रय न लो । “आत्मा निख है, हम और वह अभिन्न हैं, हम साक्षात् ब्रह्म हैं” इस प्रकार केवल मुख से शब्द कह देने से ही आत्मबोध नहीं हुआ करता । आत्मबोध के लिए जहां आत्मस्वरूप श्रवण आवश्यक है, तथैव (श्रवणानन्तर) मनन-निदिध्यासन भी आवश्यक हैं । “आत्मावे वायं द्रष्टव्यः—(कथं द्रष्टव्यः) ? श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” । सुनो, मनन करो, अन्तरात्मा में दृढ़ करो, तभी आत्मसाक्षात्कार होगा । मन्तव्यः—क्रतुभाव है, निदिध्यासितव्यः—कृतभाव है । श्रवणानुकूल संकल्प रखो, संकल्पानुकूल आत्मोपयोगी निष्काम कर्म करो, यही आत्मबोध के मुख्यद्वार हैं—“क्रतो स्मर-कृतं स्मर” । “अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते” के अनुसार पुनरुक्ति दृढ़ता के लिए है । साथ ही में यही उपनिषत् समाप्त है, इस समाप्ति सूचना के लिए भी द्विरुक्ति है । “क्रतु का स्मरण करो, कृत को स्मरण में रखो” यही कल्याण का अन्यतम मार्ग है ।

इति शरीरात्माधिकरणम् ।



६

उभयोः सत्यात्मनोरभिना-ऐकात्म्यम्

स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह पांच ईश्वरीय ब्रह्मसत्य हैं, अव्यक्त-महान्-विज्ञान प्रज्ञान-शरीर यह पांच जीव ब्रह्मसत्य हैं । सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर

इन तीनों की समष्टि ईश्वरीय देवसत्य है, एवं प्राज्ञ-तंजस-वैश्वानर की समष्टि जीवदेवसत्य है। यह ब्रह्मसत्य और देवसत्य दोनों ही सत्यात्मा अग्निरूप हैं। देवसत्य की अग्निता तो स्पष्ट ही है। उधर ब्रह्मसत्य के पांचों पर्वों में स्वयम्भू वागग्निमय है, सूर्य देवग्निमय है, पृथिवी अन्नादाग्निमयी है। मध्यपतित परमेष्ठी एवं चन्द्रमा अन्नसोमरूप होने से अग्निगर्भित होनेझर अग्निरूप ही हैं। वेदाग्निमूर्ति षोडशी पुरुष भी अग्निविभूति से पुष्ट नहीं है। इस प्रकार आत्मा-ब्रह्मसत्य-देवसत्य सब का अग्निमयत्व सिद्ध होजाता है। आत्मसत्य से ब्रह्मत्व सत्य है, ब्रह्मसत्य से देवत्व सत्य है—‘सत्ये सर्वं प्रणिष्ठितम्’। यह सत्यत्व साक्षात् अग्नि है। सम्पूर्ण आत्मविभूति का इसी अग्निरूप से निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

(ईशोप० १८ मं०) ।

मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है। केवल ‘वयुन’ शब्द का अर्थ जानलेना आवश्यक है। अग्नी-बाद के अनुसार सारा विश्व ‘वयुन’ है। सत्तादृष्टि से, भातिदृष्टि से, एवं उभयदृष्टि से आप जो कुछ पदार्थ प्राप्त करते हैं, एवं देखते हैं, वे सब वयुन है। विश्वरूप वयुन ईश्वरप्रजापति का मोक्ष्य पशु है, अतएव वयुन को ‘अन्न’ कहा जाता है। इस वयुन में वय-वयोनाथ यह दो विभाग हैं। प्रत्येक वस्तु में वस्तु और उस का आकार यह दो भाग रहते हैं। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिस का कोई आकार न हो। इस आकार से वह वयरूप वस्तु घिरी रहती है, बद्ध रहती है। अतएव वय को बद्ध रखने वाला यह आकारभाव ‘वयोनाथ’ नाम से प्रसिद्ध है। यही वयोनाथ याज्ञिक परिभाषा में ‘छन्द’ नाम से व्यवहृत हुआ है। वयोनाथ रूप छन्द से छन्दित (सीमित) वस्तुभाव ही वय है। वय-वयोनाथ की समष्टि ही वयुन है। अनन्त वयुनों की समष्टि विश्व है। विश्व एक महा वयुन है, विश्व में रहने वाले अवान्तर सारे वयुन जुद्ध वयुन हैं। इन वयुनों का जानन वाला (स्वरूपसंपादन करने वाला), अतएव ‘जातवेदा’

नमः से प्रसिद्ध अग्नि ही है । इसी वयुनवित् विश्वमूर्ति अग्नि का स्वरूप बतलाते हुए ऋषि कहते हैं—

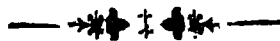
“हे अग्ने ! आप संपत्ति, आत्मसंपत्ति-एवं विश्वसंपत्ति के लिए हमें अच्छे मार्ग से ले चलें।” क्योंकि संसार की वयुनरूप जितनी भी संपत्ति है, आप ही उस सबके अन्यतम ज्ञाता हैं । हमारे आत्मा को कुटिल बनाने वाला [असन्मार्ग में ले जाँने वाला] जो पाप्मा है, उसे हमसे पृथक् कीजिए । हे अग्ने ! हम आपके लिए बार बार नमः वाक् का उच्चारण करते हैं— [आपके अन्न बनते हैं] ” । स्वाहा-स्वधा-स्वगा-वौषट्-श्रौषट्-नमः आदि भेद से अन्न के कई भेद हैं । इनमें मनुष्यरूप अन्न ‘नमः’ है । ‘हम आपको नमस्कार करते हैं’ इसका तात्पर्य यही है कि हम आपके भोग्य (अन्न) बनते हैं । अग्नि अन्नाद है । रुद्र इसकी प्रसन्नता का कारण है । आज हम स्वयं ‘नमः’ बोलते हुए इस अग्नि के नमः रूप अन्न बन रहे हैं । इस प्रकार ब्रह्मसत्य-देवसत्यान्मभूत वयुनाधिष्ठाता, सन्मार्गप्रवर्तक इसी अग्निदेव को भूयो-भूयः नमस्कार करते हुए यह उपनिषत् समाप्त होती है ।

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओं शान्तिः ! शान्ति !! शान्ति: !!!

इति वाजसनेयोपनिषत्-विज्ञानभाष्यं सम्पूर्णम् ।



➔ एषा वाक् ब्राह्मी उपनिषत् ➔



उपनिषत्-निष्कर्ष

तत्त्वविवेक के अभाव से मनुष्य अपना स्वरूप भूलता हुआ यावज्जीवन फलाशापन्नक भोगों में ही प्रवृत्त रहता है ।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेनसाम् ।

व्यवसायात्मिकां बुद्धिः समाधौ न विधीयते” (गीता० २।४४)

इस स्मार्त्ती उपनिषत् के अनुसार जो व्यक्ति भोगैश्वर्य का वास्तविक रहस्य न समझते हुए कामना पूर्वक इनमें अहोरात्र प्रवृत्त रहते हैं, दूसरे शब्दों में जिनके जीवन का चरम लक्ष्य एक मात्र सासारिक भोग-वैभव ही है, उन अविवेकी मनुष्यों का भोगासक्त मन चञ्चल रहता है । मन के साथ बुद्धि का घनिष्ठ सम्बन्ध है । दूसरे शब्दों में सोमरसमय मन पर प्रतिबिम्बरूप से बुद्धि प्रतिष्ठित है । जिस प्रकार वायु के आघात से समुद्र से पार लेजाने वाली नौका डगमगा जाती है—(वायुर्नावमिवाभसि—गीता), अथवा जिस तरह पानी के हिल जाने से तत्प्रतिष्ठ सूर्यप्रतिबिम्ब हिल पड़ता है, ठीक इसी तरह कामासक्तिस्थानीय वायु के आघात से चञ्चल बना हुआ समुद्र, किंवा अस्थायीय मन तत्प्रतिष्ठ नौकास्थानीय बुद्धि को चञ्चल बना देता है । बुद्धि के साथ 'महान्' नाम से प्रसिद्ध 'चित्त' की स्वाभाविक स्थिरता मारी जाती है । चित्त का सत्त्वभाव उत्क्रान्त होजाता है, रजोमिश्रित तमोभाव बुद्धि और मन पर आक्रमण कर लेता है । ऐसी मलिन बुद्धि कभी आत्मशान्तिलक्षणा समाधि में प्रतिष्ठित नहीं रह सकती । भले ही ऐसा संसारी कहनें भर को अपने आप को सुखी समझता रहे, परन्तु यदि इस से शपथ पुरस्सर पूँजा जाय तो इसे वही उत्तर देना पड़ेगा, जो कि उद्धार कामकामी महाराज ययाति के मुख से निकले थे । पुरु द्वारा प्राप्त युवावस्था से भी जब ययाति की तृप्ति न हुई तो खिन्न होकर अन्त में उन्हें कहना पड़ा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

इविषा कृष्णवर्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

इस प्रकार अविवेक के द्वारा दुःखाणव में निमग्न प्राणियों के समुद्वार के लिए ही 'ईशोपनिषत्' प्रवृत्त हुई है। उपनिषत् का वक्तव्यार्थ केवल यही है कि "तुम ईशदृष्टि से भोग मार्ग में प्रवृत्त रहते हुए निष्कामबुद्धि से यावज्जीवन कर्म करते रहो"। निष्कामभाव से कर्म करते करते कालान्तर में तुम्हारा मन अनासक्त बन जायगा, प्रज्ञा स्थिर होजायगी, मन की स्थिरता से बुद्धि स्थिर होजायगी। बुद्धि की स्थिरता से चित्तप्रसाद होगा—'प्रसादे सर्व-दुःखानां हानिरस्योपजायते'। प्रकृत उपनिषत् में निम्न लिखित ६ वाक्यों पर ही दृष्टि रखनी चाहिए—

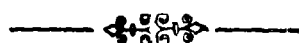
- १—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा !
- २—मा गृधेः कस्यस्विद्धनम् !
- ३—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् !
- ४—योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम् !
- ५—कतो स्मर, कृतं स्मर !
- ६—अग्ने नय सुपथा राये !

—:०:—

- १—ईश से छोड़े हुए भाग का (ही) भोग करो !
- २—किसी की सम्पत्ति धैर नियत मत ढिगाओ !
- ३—काम करते हुए ही जीवित रहने की इच्छा करो !
- ४—जो आदित्य में आत्मा है, वही तुम हो !
- ५—अपने इरादे को लक्ष्य में रक्खो, जो करचुके हो उसे लक्ष्य में रक्खो !
- ६—सांथ ही में अपने बल (अग्निबल) का ठीक मार्ग में उपयोग करो !



१- तुम्हें अपने जीवन में जो कुछ भोग मिलने वाला है, वह उस अन्तर्यामी की प्रेरणा (तुम्हारे ही सञ्चित कर्मों के अनुसार) पहिले से ही नियत है । 'जायायुर्भोगाः' इस सिद्धान्त के अनुसार तुम्हारी जाति (योनि), आयु, और भोग तीनों पहिले से ही नियत हैं । तुम्हें जो कुछ मिलने वाला है, वह तुम्हारा भागधेय (हिस्सा) है, उसे दूर नहीं बटा सकता, साथ ही मैं तुम दूसरे का ले भी नहीं सकते । मिलने वाला मिल ही जायगा, न मिलने वाला नहीं ही मिलेगा । विश्वास करो ! भोजन तुम्हारे जीवन के लिए है, जीवन भोजन के लिए नहीं है । भोजन को जीवन का दास समझो, जीवन को भोजन का गुलाम मत बनाओ ! व्यसनों के दास मत बनो, व्यसनों को अपना दास बनाओ ! खाने के लिए जिवित मन रहो, जीवित रहने के लिए खाओ ! भोजन की दासता में तुम स्वयं संसार के भोजन बन जाओगे, एवं भोजन को अपना दास बनालेने से संसार तुम्हारा भोग्य बन जायगा । यदि ऐसा नहीं करोगे तो—

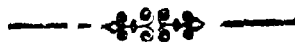


२- तुम्हारी लिप्सा, तुम्हारी फलाकांक्षा, तुम्हारी वाञ्छा तुम्हारे आत्मा को गिरा देगी । तुम्हें अन्न की दासता में अन्तर्गम्य करना पड़ेगा, कर्मों के लिए हीरों की भेट चढ़ानी पड़ेगी, अल्पलभ के लिए सर्वस्व खोदेना पड़ेगा, अर्थ की दासता में तुम्हें परमुखापेक्षी बनना पड़ेगा, दूसरों की झिड़कि सहनी पड़ेगी । सोचो ? (मन का व्यापार करो), विचारो (बुद्धि से कामलो) ! सोच समझकर कल्याणपथ का आश्रय लो । तुम क्यों दूसरों की संपत्ति में लिप्सा रखते हो । क्या तुम मनुष्य नहीं हो ? क्या तुम्हारे पास बुद्धिबल नहीं है ? क्या तुम उस सर्वज्ञानधन के अंश नहीं हो ? हो और अवरय हो ! तुमने अपने प्रज्ञाप्रवाह (नासमझी-गलती) से अपना विभूतिभाव भुला रक्खा है । उठो ! जागो !! वेदप्ररुषद्रा-रा प्रदत्त वर से आगे बढ़ते चलो !!! आत्मदेवता तुम्हारे साथ है । तुम्हें किस का डर है, तुम्हारे पास क्या कमी है । जानते हो आत्मदेवता कब तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करेंगे ? कब

१६ तुम्हें आत्मबल (Will Power) मिलेगा ? कब तुम्हारी गद्दी छूटेगी ? कब तुम भोगों के पञ्जे से छूटोगे ? नहीं तो सुनो !



३— जो मनुष्य फल को अपने अधिकार से बाहर की वस्तु समझता हुआ अनन्यभाव से केवल कर्म में प्रवृत्त रहता है, विश्व की विभूति उस के चरणों में लीटा करती है । फल को तुम उत्पन्न नहीं करते, फल उत्पन्न होता है तुम्हारे कर्म से । तुम कर्मदश में ही जब फल की चर्चणा करने लगते हो तो परिणाम इस का यह होना है कि तुम्हारा मन दोनों तरफ बट जाता है, अनन्यता जाती रहती है । कर्मसिद्धि में जितना बल अपेक्षित है, वह बट जाता है, कर्म अपूर्ण रह जाता है । फलतः पूर्ण कर्म से सम्बन्ध रखने वाले पूर्णफल का उदय नहीं होता । इस प्रकार कर्मप्रवृत्तिकाल में फल की आशा रखते हुए तुम स्वयं ही फलनाश के कारण बन जाते हो । यही नहीं, फलाशासंस्कार से तुम्हारा मन लिप्त होजाता है, स्पृहा बढ़ जाती है । यदि तुम स्पृहा हटाना चाहते हो, नित्यतृप्त बनना चाहते हो तो कर्मप्रवृत्तिकाल में सर्वथा अनधिकृत फलाशा का परित्याग करते हुए शास्त्रसिद्ध चातुर्वर्ण्यधर्ममूलक कर्मों में निष्कामबुद्धि से प्रवृत्त रहो । भोग-लिप्सा के लिए जीवित रहने की इच्छा मन करो, कर्म करने के लिए जीवित रहने की इच्छा करो । परिणाम इस का यह होगा कि कर्म की अनन्यता से फलाभिसन्धि में भी सन्देह न रहेगा, एवं फलाशा से सम्बन्ध रखने वाला संस्कार लेप भी न होगा । अरे ! तुम किन तुच्छ फलों की आसक्ति में पड़े हुए हो । त्रैलोक्य को समृद्धि के अधिष्ठाता आदित्य पुरुष के वंशज होकर इन तुच्छ संपत्तियों के पीछे दौड़ते हुए तुम अपने वंशजों की कीर्ति मिट्टी में मिलारहे हो । सोचो तुम कौन हो, कहाँ से आए हो, क्या करना चाहिए था, क्या कर रहे हो । यदि तुम यह नहीं जानते कि तुम क्या हो तो सुनो, हम बतलाते हैं ।

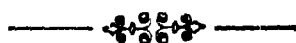


४- सूर्य-तुल्यारे सामने है। त्रैलोक्य इस के प्रकाश से प्रकाशित है। “सूर्य आत्मा जगत् स्तस्थुषश्च” (यजुः सं०) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार हम उसी के अंश हैं। अंश अंशी से अभिन्न है। फलतः जो वह है, वही हम हैं। “हम कौन हैं” इस का यही सच्चा इतिहास है। जिन धोकेवाजों ने तुल्यारे इतिहास का स्वरूप विकृत कर तुल्यारे आत्मवैभव का अपहरण कर रक्खा है, एवं जिस कल्पित इतिहास को मोहवश सत्य समझते हुए तुम अपनी जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता से वञ्चित हो रहे हो, कलङ्कित, कल्पित, कुत्सित, कुनर्कमय उस मिथ्या इतिहासग्रन्थ के पत्रों को जला डालो। अपने अतीत गौरव के सच्चे इतिहास का अन्वेषण करो। वह मिलेगा तुम्हें अपने ऋषियों की वाणी में, उपनिषदों में। वह इतिहास अजर अमर है, अतएव अमिट है। अपने इस सत्य आत्म-इतिहास के बल पर तुम जन्मसिद्धा उस आत्मानन्दमूला स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में समर्थ बनोगे। परन्तु इतना ध्यान रखना कि इतिहास देखने में कहीं प्रमाद न हो जाय। कर्म करो, परन्तु सावधानी से। आंख मीच कर यथेच्छाचारी मत बनना। अग्नि तु निम्न लिखित सिद्धान्त को सदा अपने सामने रखते हुए ही कर्ममार्ग में प्रवृत्त रहना—

किं नु मे स्मादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वता ।

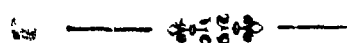
इति संचिन्त्य मेधावी कर्म कुर्वीत वा न वा ॥

कर्मजाल बड़ा दुस्तर है। “किं कर्म किमकुर्मिति कवयोऽप्यत्र मोहिताः” (गीता) के अनुसार कवि (भृगु-सोम) वंशज, सोममय मन का संयम करने के कारण कवि नाम से प्रसिद्ध बड़े बड़े मनस्वी भी कभी कभी धोका खा जाते हैं। वे भी कभी कभी वर्णाश्रम-धर्ममूलक आधिकारिक कर्म की उपेक्षा कर अकर्म को कर्म मान बैठते हैं, कर्म को अकर्म मान बैठते हैं। तुम्हें चाहिए कि—



५- तुमने कर्म में प्रवृत्त होने के लिए जो इरादा (क्रतु) किया है, उसकी खूब परीक्षा कर लो। साथ ही मैं जो कर्म कर चुके हो उस पर दृष्टि रखो। सोचो कि अबतक हमने

७ जो कुछ किया है, उससे हमारा क्या उपकार हुआ है एवं उससे समाज का क्या हित हुआ है ! वर्तमान को भव्य बनाने के लिए अतीत को लक्ष्य में रखो । कहीं ऐसा न हो कि केवल वर्तमान के झुझावात के झपटे में आकर आंख मीच कर अशास्त्रीय कर्मों को शास्त्रीय मानते हुए, साथ ही में कर्ममार्ग का डिण्डिमघोष करते हुए अपना सर्वनाश करा बैठे । “**क्षुरस्य धारा निशिना दुरसया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति**” ।



६- तुम्हारा क्रतु (इरादा) भी बड़ा उदात्त है, अतीत भी तुम्हारा बड़ा भव्य था । परन्तु सावधान ! कहीं वर्तमान को न भूल जाना । वर्तमान में तुम्हारे पास जितनी शक्ति है, उसे ध्यान में रखते हुए ही आगे बढ़ना । लम्बे चौड़े इरादे, अतीत का गौरव ही कर्म प्रवृत्ति के मुख्य द्वार नहीं हैं । इसके लिए तुम्हें वर्तमान बल का आश्रय लेना पड़ेगा । तुम्हारी अध्यात्मसंस्था में कर्म के प्रवर्तक देवता सोमगर्भित अग्नि हैं । अग्नि अङ्गिरा है, सोम भृगु है । यही दोनों तुम्हारे तप [कर्म] के सञ्चालक हैं । “**भृगूणां-ङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्**” इस श्रौत सिद्धान्त का समादर करते हुए, भृगु-अङ्गिरा-मय अपने शरीर आग्नेय बल को सामने रखते हुए तदनुसार कर्म करो । वही अग्नि देवता तुम्हें सुपथ का अनुगामी बनाने वाला है । जो व्यक्ति शक्तिसीमा का उल्लंघन करता हुआ असम्भव कर्मों में प्रवृत्त होजाता है, वह कभी सफल नहीं होसकता । इस प्रकार क्रतु (इरादा), कृत (अतीत), अग्नि (वर्तमान शक्ति) तीनों को लक्ष्य में रखते हुए, फलाशा छोड़ते हुए कर्म में प्रवृत्त रहो, ऐहलौकिक, पारलौकिक दोनों विभूतिएं करबद्ध तुम्हारे सामने खड़ी हैं ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



